उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका

प्रधान सम्पादक
जगत नारायण

जनवरी, फरवरी, मार्च, 1984 (I)

सम्पादक
हेतराम बाल्मीकि

नि० प० 1984

विधि साहित्य प्रकाशन,
विधि और न्याय मन्त्रालय (विधायी विभाग), भारत सरकार

नामानुसार अनुक्रमणिका

जनवरी-फरवरी-मार्च, 1984 (I)

पूर्ण न्यायपीठ निर्णय :

---

*मूल निर्णय हिन्दी में ।

विषयानुसार अनुक्रमणिका
जनवरी-फरवरी-मार्च, 1984 (I)

आयकर अधिनियम, 1961

—धारा 64(ii)—पिता और अवयस्क पुत्रों का एक ही फर्म में भागीदार होना—निर्धारिती के अवयस्क पुत्रों की फर्म से प्राप्त शेयर-आय, आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) के अधीन, निर्धारिती की आय के रूप में, उसकी कुल आय संगणित करने में जोड़ी जा सकती है।

इलाहाबाद-167

—धारा 230(1)—कर समाशोधन प्रमाणपत्र (टैक्स क्लीयरेंस सर्टिफिकेट)—यदि आय-कर अधिकारी द्वारा यह राय बनाए जाने के लिए पर्याप्त सामग्री मौजूद है कि निर्धारिती की भारत वापस आने की कोई संभावना नहीं है तो वह निर्धारिती को भारत छोड़ कर जाने से पहले धारा 230(1) के अधीन यथाअपेक्षित आय-कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने के लिए आग्रह कर सकेगा—किसी व्यक्ति या निर्धारिती का भारत वापस आने का कोई आशय है या नहीं, इसका अनुमान परिस्थितियों से लगाया जाएगा।

आन्ध्र प्रदेश-40

उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश एवं भूमि सुधार अधिनियम, 1950

—धारा 209—उक्त धारा 209 की उपधारा (1) में उल्लिखित "कब्जा कर ले या रखे रहे" शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—"कब्जा कर ले" से तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी का कब्जा प्रारंभ से ही वादी की सहमति से है जबकि "रखे रहे" से तात्पर्य यह है कि प्रारम्भ में वादी की सहमति से प्रतिवादी विवादित भूमि पर काबिज हुआ था परन्तु वादी द्वारा सहमति वापस लिए जाने के उपरांत भी प्रतिवादी ने अपना कब्जा बनाए रखा—किन्तु यह भी सुस्थिर है कि वाद संस्थित किए जाने के दिनांक से अनुज्ञप्ति समाप्त हो जाती है और प्रतिवादी का कब्जा गैर-कानूनी हो जाता है और प्रतिवादी को बेदखल किया जा सकता है।

इलाहाबाद-40

उत्तर प्रदेश बिक्री-कर अधिनियम, 1948

—धारा 21—उक्त धारा के अधीन कर के लिए पुनर्निर्धारण की कार्यवाहियां तभी की जा सकती हैं जब निर्धारण प्राधिकारी के पास यह विश्वास करने का कारण हो कि सकल व्यापारावर्त या उसका कुछ भाग निर्धारण से छूट गया है या उसका वास्तविक कर से कम दर पर निर्धारण किया गया है— निर्धारण प्राधिकारी द्वारा बाद के प्रक्रम पर केवल 'मत परिवर्तन' के आधार पर पुनर्निर्धारण की कार्यवाहियां अनुज्ञेय नहीं होंगी।

इलाहाबाद-86

उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा अधिनियम (यूनाइटेड प्राविन्सेज इन्टरमीडिएट एडूकेशन ऐक्ट), 1921

—धारा 16-जी सपठित तद्धीन विनियमावली का विनियम 25 तथा 10—किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की उसके असमाधानप्रद कार्य के आधार पर अपुष्टि उन निबंधनों के अनुसार कार्य समझी जा सकती है, जिन पर उनकी नियुक्ति की गई है—ऐसे व्यक्ति की सेवा की उसके स्थायी बनाए जाने के अयोग्य पाए जाने के आधार पर समाप्ति न तो पदच्युति है और न हटाया जाना—अत: उसकी सेवा परिवीक्षा अवधि की समाप्ति से पूर्व उस दशा में समाप्त की जा सकती है यदि उसका कार्य असमाधानप्रद पाया जाता है अथवा वह स्थायी नियुक्ति के अयोग्य पाया जाता है।

इलाहाबाद-1

उत्तर प्रदेश सिविल सेवा विनियमावली

—अनुच्छेद 465-क का टिप्पण-1—यदि उक्त अनुच्छेद 465-क के टिप्पण-1 के अधीन अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का आदेश असंगत सामग्री पर आधारित है अथवा महत्वपूर्ण सामग्री की उपेक्षा करता है अथवा विनिश्चय ऐसी अप्रचलित सामग्री पर आधारित है, जो विनिश्चय के लिए अपेक्षाकृत कम सुसंगत है, तो समयपूर्व सेवा-निवृत्ति का आदेश दूषित हो जाएगा।

लाहाबाद-13

कर्नाटक उत्पाद शुल्क (शराब की फुटकर बिक्री के सम्बन्ध में पट्टा-अधिकार) नियम, 1969 (सपठित कर्नाटक उत्पाद अधिनियम, 1965)

—नियम 15—सरकार नीलाम विक्रय की पुष्टि से इनकार अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर भी कर सकती है कि ऐसी पुष्टि से राजस्व की हानि होगी।

कर्नाटक-22

कंपनी अधिनियम, 1956

—धारा 284 सपठित नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (उत्तर प्रदेश) के संगम अनुच्छेद, अनुच्छेद 84, 85, 86—उक्त धारा 284 में कंपनी के अंशधारकों के अधिवेशन में मामूली संकल्प द्वारा कंपनी के किसी निदेशक को हटाने की प्रक्रिया उपबंधित है किन्तु यह धारा निःशेषकारी नहीं है और न उसमें इस बात का प्रतिषेध है कि धारा 284 का अनुसरण किए बिना किसी निदेशक को नहीं हटाया जा सकता—अतः निदेशक बोर्ड अनुच्छेद 86(ग) के अनुसार अनुच्छेद 85(घ) के अनुसार नियुक्त किसी पूर्णकालिक निदेशक को किसी भी समय अपने आत्यन्तिक विवेकानुसार हटा सकता है।

इलाहाबाद-45

परिसीमा अधिनियम, 1963

—धारा 5 और 14—सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन किसी एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध किए गए किसी आवेदन के सम्बन्ध में असफलतापूर्वक कार्यवाही करते रहने में जो अवधि व्यतीत होती है, वह ऐसी डिक्री के विरुद्ध अपील की परिसीमा अवधि की संगणना में अपवर्जित नहीं की जा सकती।

कलकत्ता-10

पासपोर्ट अधिनियम, 1967

—धारा 2(ख)—यदि पासपोर्ट अधिकारी द्वारा निर्धारिती को नया पासपोर्ट दे दिया जाता है तो वह उक्त पासपोर्ट के आधार पर यात्रा तो कर सकेगा किन्तु ऐसा नया पासपोर्ट निर्धारिती को उसके कर-सम्बन्धी दायित्वों से मुक्ति प्रदान नहीं करेगा।

आन्ध्र प्रदेश-40

प्रशासनिक विधि

—सेवा नियम—सरकार पर अनुग्रहजन्य आधार पर मृतक के लड़के/लड़की/नजदीकी रिश्तेदार को नियुक्ति देने की बाध्यता नहीं है जहां पर कि परिवार में कमाने वाले सदस्य हैं और वे परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अपने मूल कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहे हों।

इलाहाबाद-77

—सेवा विधि—जहां सेवा संविदा के निबंधनों के अधीन किसी कर्मचारी की सेवा समाप्त की जा सकती है, वहां सेवा समाप्ति का आदेश मात्र इस आधार पर दंडात्मक नहीं कहा जा सकता कि नियोजक ने सेवा समाप्ति का आदेश पारित करने से पूर्व अपना समाधान करने के लिए प्रारम्भिक जांच की।

इलाहाबाद-45

—सेवा विधि—अप्रवर्तनीय प्रतिकूल प्रविष्टियां—जब एक बार किसी सरकारी सेवक को दक्षतारोध पार करना अनुज्ञात कर दिया जाता है अथवा वह उच्चतर श्रेणी में या पद पर प्रोन्नत कर दिया जाता है तो उस अवधि से पूर्व की अवधि की प्रतिकूल प्रविष्टियां मिट जाती हैं।

इलाहाबाद-13

भारतीय दण्ड संहिता, 1860

—धारा 302 सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872, धारा 3—हत्या के मामले में किसी ऐसे साक्षी के साक्ष्य पर, जिसकी अभियुक्त के साथ शत्रुता हो, तब तक विश्वास नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके साक्ष्य की सावधानी से और सतर्कतापूर्ण रूप से परीक्षा न कर ली गई हो—यदि ऐसे साक्ष्य की सावधानी और सतर्कता से परीक्षा नहीं की गई है तो उसके साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त को दण्डादिष्ट नहीं किया जा सकता।

उड़ीसा-34

—धारा 504—उक्त धारा के अधीन अच्छे व्यवहार का भंग अपराध गठित नहीं करता—यदि उक्त धारा के अधीन के अपराध के लिए एक से अधिक व्यक्ति अपराधी हैं तो ऐसी स्थिति में उक्त धारा के अधीन उन्हें अपराधी मानने से पूर्व यह साबित करना अनिवार्य है कि किस व्यक्ति ने किन-किन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है क्योंकि किसी भी व्यक्ति को अन्य व्यक्ति द्वारा बोले गए शब्दों के लिए प्रतिनिधायी रूप से दोषी नहीं माना जा सकता।

उड़ीसा-28

भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869

—धारा 22 और 23 सपठित धारा 10—विवाह के पश्चात् यदि पत्नी पति से अलग रहती हो और पति के साथ रहने के लिए तैयार न हो तो ऐसी स्थिति पत्नी की ओर से अभित्यजन और क्रूरता की होगी और इस

स्थिति में पति को विवाह के विघटन का आधार उक्त अधिनियम की धारा 22 और 23 के अन्तर्गत उपलब्ध होगा न कि धारा 10 के अधीन—परिणामतः धारा 10 के अधीन जिला न्यायाधीश द्वारा पारित विवाह के विघटन की डिक्री पुष्टि नहीं की जा सकती।

उड़ीसा-24

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894

—धारा 23(1)—भूमि अर्जन हेतु प्रतिकर का निर्धारण करने के लिए सुसंगत परिस्थितियां—यदि किसी भूमि को अधिसूचना द्वारा लोक प्रयोजनार्थ अनिवार्य रूप से अर्जित कर लिया गया है तो अर्जित की गई भूमि के प्रतिकर के लिए बाजार मूल्य का अवधारण करने हेतु समान रूप से अवस्थित भूमि के लिए राज्य सरकार द्वारा दिया गया पूर्ववर्ती प्रतिकर उचित मार्गदर्शन होगा।

उड़ीसा-1

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947

—धारा 5(1)(ङ) और धारा 5-क(1) का द्वितीय परन्तुक—अननुपातिक आस्तियों के लिए अन्वेषण करने की शक्ति—उक्त अन्वेषण या तो पुलिस अधीक्षक अथवा उससे ऊपर की पंक्ति के अधिकारी द्वारा अथवा पुलिस अधीक्षक द्वारा प्राधिकृत पुलिस उप-अधीक्षक द्वारा किया जा सकेगा।

कर्नाटक-1

—धारा 5(1)(ङ) और धारा 5(2) सपठित दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 157—यदि लोक सेवक के अपनी आय के ज्ञात स्रोतों के अननुपातिक आय के बारे में समाधानप्रद स्पष्टीकरण न दिए जाने पर पुलिस प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करके धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के चारों आवश्यक संघटकों को साबित कर देती है तो पिटीशनर प्रतिरक्षा में यह अभिवाक् नहीं दे सकता कि चूंकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अननुपातिक आस्तियों के समाधानप्रद लेखा-जोखा न दिए जाने का विनिर्देश नहीं किया गया है, अतः उक्त प्रथम इत्तिला रिपोर्ट त्रुटिपूर्ण है—उक्त विनिर्देश की उपधारणा या अनुमान अपराध के अन्य चार आवश्यक संघटकों में अन्तर्निहित है।

कर्नाटक-1

मोटर यान अधिनियम, 1939

—यान दुर्घटना के कारण यदि किसी यात्री की मृत्यु हो जाती है तो उसकी क्षतिपूर्ति के लिए मृतक की उस आय की, जो वह अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए व्यय करता था, उतने वर्षों के लिए जब तक कि उसके बच्चे बालिग न हो जाएं और पत्नी के लिए और आगे तक तथा जीवन की अनिश्चितताओं के कारण 1/6 भाग को घटाने के पश्चात् संगणना करना उचित और समीचीन है।

उड़ीसा-10

—धारा 95(1) के परन्तुक का खण्ड (II)—उक्त धारा के खण्ड (II) के अन्तर्गत ऐसा व्यक्ति यात्री समझा जाएगा जो माल का स्वामी है या माल के स्वामी द्वारा अधिकृत ऐसा व्यक्ति है जो माल के साथ माल-यान में यात्रा कर रहा है और यदि ऐसे व्यक्ति की दुर्घटना के कारण मृत्यु हो जाती है या उसे क्षतियां कारित होती हैं तो यान का स्वामी उसकी क्षतिपूर्ति करने के दायित्वाधीन होगा।

उड़ीसा-10

—धारा 103(क)—यदि कोई व्यक्ति यान का अन्तरण किसी अन्य व्यक्ति को करने का प्रस्ताव करता है और उसका आशय प्रस्तावित क्रेता के पक्ष में बीमा पालिसी को भी अन्तरित करने का रहा होता है तो उसे विक्रय से पूर्व बीमा कम्पनी से विहित प्ररूप में यह अनुरोध करना चाहिए कि वह बीमा पालिसी का अन्तरण प्रस्तावित अन्तरिती के पक्ष में कर दे क्योंकि यान का एक बार विक्रय होते ही मूल बीमाकर्ता पालिसी का धारक नहीं रहता और पालिसी व्यपगत हो जाती है—विक्रय के बाद पालिसी के अन्तरण का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

कर्नाटक-34

—धारा 110-ख—यदि साधारण अनुक्रम में यान सड़क से हटकर पेड़ से टकरा गया है और अभिलेख पर यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं है कि यान के चालक ने युक्तियुक्त सतर्कता और सावधानी बरती है तो ऐसी स्थिति में "स्वयं प्रमाण" का सिद्धान्त लागू होगा और सबूत का भार यान के चालक पर होगा कि उसने यान चलाने में उपेक्षा नहीं की है।

उड़ीसा-10

—धारा 110(4)—यदि मामले का अन्य अधिकरण को अन्तरण करने के लिए सरकारी अधिसूचना के जारी किए जाने से पूर्व घटनास्थल पर

अधिकारिता रखने वाले अधिकरण द्वारा कोई भी कार्यवाही प्रारम्भ न की गई हो तो ऐसी स्थिति में मामले का निपटारा करने के लिए उस जिले के लिए नियुक्त किए गए अतिरिक्त अधिकरण को अन्तरित करने में कोई विधिक वर्जन नहीं है।

उड़ीसा-10

यू० पी० शुगर पर्चेज टैक्स ऐक्ट, 1961

—धारा 3(3) सपठित आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 28(1) और 37(1)—शुगर केन पर्चेज टैक्स की बकाया पर संदेय ब्याज वस्तुतः शास्ति न होकर पर्चेज टैक्स के दायित्व का अंग होगा और उसकी कटौती उस रूप में की जाएगी जैसे कि पर्चेज टैक्स की और ब्याज का संदाय ऐसी परिस्थितियों में कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप में व्यय को प्रदर्शित करेगा।

इलाहाबाद-147

यू० पी० स्टेट यूनिवर्सिटीज ऐक्ट, 1973

—धारा 31(3)(ख) सपठित उक्त ऐक्ट के अधीन विरचित फर्स्ट स्टेट्यूट (प्रथम कानून)—यदि किसी ऐसे उम्मीदवार, जो (लैक्चरर) प्राध्यापक के रूप में अधिष्ठायी हैसियत में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं था, की चयन समिति द्वारा परिवीक्षा पर नियुक्त किए जाने के लिए सिफारिश की जाती है तो वह विधि के प्रतिकूल होगी और उसके लिए अपना अनुमोदन देने से कुलपति की इन्कारी विधिमान्य है।

इलाहाबाद-131

विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974

—धारा 3(1) और धारा 11—पिटीशनर के विरुद्ध निरोध आदेश का किया जाना—निरोध आदेश को चुनौती देने के लिए पिटीशनर द्वारा अभ्यावेदन दिया जाना—निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर अनुचित कारण से तथा अत्यधिक विलम्ब से विचार किया जाना—यदि किसी निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर अनुचित कारण और अत्यधिक विलम्ब से विचार किया गया हो और उसके लिए युक्तियुक्त स्पष्टीकरण भी न दिया गया हो तो ऐसा निरोध असंवैधानिक और अविधिमान्य होगा क्योंकि ऐसे अभ्यावेदन पर अविलम्ब कार्रवाई आवश्यक होती है।

इलाहाबाद-98

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963

—धारा 15—करारों का विनिर्दिष्ट अनुपालन—स्थावर सम्पत्ति के पुन: खरीदने या प्रतिहस्तांतरण के करार के समनुदेशिती द्वारा करार प्रवर्तित कराया जाना—ऐसी संविदा में अभिव्यक्त अथवा विवक्षित प्रतिकूल बात के अभाव में यह पक्षकारों द्वारा या उनके विरुद्ध तथा उनके समनुदेशितियों और अन्तरितियों सहित उनके वारिसों और विधि प्रतिनिधियों द्वारा या उनके विरुद्ध प्रवर्तित की/कराई जा सकती है।

इलाहाबाद-207

वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1963

—धारा 2(13)—'दुकान' पद की अर्थव्याप्ति—सम्पूर्ण देश में चाय के भण्डारकरण के प्रयोजनार्थ पिटीशनर कम्पनी के डिपो-परिसर दुकान नहीं हैं।

कलकत्ता-30

—धारा 2(13)—सपठित संविधान, 1950, अनुच्छेद 226 और साक्ष्य अधिनियम, 1872—धारा 114—सरकार द्वारा धारा 2(13) के अधीन अधिसूचना द्वारा पिटीशनर-कम्पनी के डिपो परिसर को, उन्हें सुनवाई का अवसर दिए बिना दुकान घोषित किया जाना—सरकार द्वारा अधिसूचना को न्यायोचित ठहराने वाली सामग्री न्यायालय के सामने पेश न किए जाने के कारण विधि की उपधारणा सरकार के विरुद्ध की जानी चाहिए।

कलकत्ता-30

शब्द और पद

—'एण्ड' (और) शब्द की प्रकृति—साधारणतया यह "संयोजक" के रूप में प्रयुक्त किया जाता है—परन्तु विधानमण्डल के आशय की पूर्ति के लिए इसका "वियोजक" के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

कर्नाटक-22

संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट, 1947

—सपठित तदधीन विरचित नियमों का नियम 16(1) और (2)—राज्य सरकार द्वारा पिटीशनर और प्रत्यर्थी के बीच विद्यमान विवाद के बारे में औद्योगिक अधिकरण को निर्देश किया जाना—औद्योगिक अधिकरण के समक्ष मामले की सुनवाई के लिए नियत तारीख को पिटीशनर का अनुपस्थित रहना—औद्योगिक अधिकरण द्वारा मामले में एकपक्षीय कार्यवाही करके

पिटीशनर के विरुद्ध आदेश और अधिनिर्णय पारित किया जाना—पिटीशनर की ओर से अधिनिर्णय के पारित होने की तारीख से 10 दिन के भीतर आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए आवेदन किया जाना—औद्योगिक अधिकरण द्वारा आवेदन को इस आधार पर नामंजूर किया जाना कि उसे आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी—यदि औद्योगिक अधिकरण के एकपक्षीय अधिनिर्णय के 10 दिन की समाप्ति से पूर्व आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन किया जाता है तो अधिकरण को आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता होगी।

इलाहाबाद-136

संविदा अधिनियम, 1872

—धारा 2(ख)—संविदा के निबन्धन—यदि लाटरी टिकट के पीछे छोटे अक्षरों में मुद्रित सामग्री (निबन्धनों) को संविदा किए जाने के समय या उससे पहले क्रेता की जानकारी में नहीं लाया जाता है तो क्रेता उनसे आबद्ध नहीं होगा—चूंकि लाटरी टिकट के पीछे मुद्रित निबन्धन पक्षकारों के बीच संविदा का भाग नहीं है अतः क्रेता उसमें अन्तर्विष्ट अधिकारिता के अपवर्जन सम्बन्धी खंड से आबद्ध नहीं है—अतः मूल लाटरी टिकट पेश किए विना भी क्रेता अपने पुरस्कार (इनाम) की रकम पाने का हकदार है।

आन्ध्र प्रदेश-15

संविधान, 1950

—अनुच्छेद 12 सपठित अनुच्छेद 311—सरकारी कम्पनी का ऐसा कर्मचारी या अधिकारी जो संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद धारण नहीं करता मात्र इस बात से कि वह ऐसी सरकारी कम्पनी में नियोजित है, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत राज्य है, संविधान के अनुच्छेद 311 के सांविधनिक संरक्षण का उसी प्रकार हकदार नहीं है जैसा कि सरकारी सेवक होता है—अतः वे विचारणाएं जो सरकारी सेवक की सेवा समाप्ति की विधिमान्यता अवधारित करने के लिए ध्यान में रखी जाती हैं सरकारी कम्पनी के कर्मचारी की सेवा समाप्ति के आदेश को लागू नहीं की जा सकतीं।

इलाहाबाद-45

—अनुच्छेद 21 तथा अनुच्छेद 14 और 19 सपठित आय-कर अधिनियम, 1961, धारा 230—'दैहिक स्वाधीनता' पद की अर्थव्याप्ति—

'दैहिक स्वाधीनता' पद के अन्तर्गत विदेश जाने का अधिकार भी आता है—यदि धारा 230(2) के अधीन वायुयान आदि के स्वामी को अमुक यात्री या निर्धारिती को यात्रा टिकट देने से पहले उससे कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने का आग्रह करने के लिए नोटिस देने के पश्चात् उस निर्धारिती को सुनवाई का अवसर दे दिया जाता है तो निर्धारिती से कर समाशोधन प्रमाण-पत्र अभिप्राप्त करने के लिए आग्रह की कार्यवाही मनमानेपन के दोष से ग्रस्त नहीं होगी और उससे अनुच्छेद 14, 19 तथा 21 का अतिक्रमण नहीं होगा।

आन्ध्र प्रदेश-40

—अनुच्छेद 226—हालांकि अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को अत्यन्त व्यापक शक्ति प्रदान करता है लेकिन ये शक्तियां अपने में कुछ सीमा रखती हैं और उच्च न्यायालय उन कार्यों को नहीं कर सकता जो प्रशासनिक निकायों के विवेकाधिकार में हैं।

इलाहाबाद-77

—अनुच्छेद 311 सपठित अनुच्छेद 12—सरकारी कम्पनी का ऐसा कर्मचारी या अधिकारी जो संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद धारण नहीं करता मात्र इस बात से कि वह ऐसी सरकारी कम्पनी में नियोजित है, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत राज्य है, संविधान के अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का उसी प्रकार हकदार नहीं है जैसा कि सरकारी सेवक होता है। अतः वे विचारणाएं जो सरकारी सेवक की सेवा समाप्ति की विधिमान्यता अवधारण करने के लिए ध्यान में रखी जाती हैं सरकारी कम्पनी के कर्मचारी की सेवा समाप्ति के आदेश को लागू नहीं की जा सकतीं।

इलाहाबाद-45

—अनुच्छेद 311(1) सपठित उड़ीसा सिविल सर्विसेज (क्लासिफिकेशन; कण्ट्रोल एण्ड अपील) रूल्स, 1962 [सिविल सेवा (वर्गीकरण, नियन्त्रण और अपील) नियमावली, 1962] रूल 14(4)—जब किसी सरकारी कर्मचारी को उसके पद से हटाए जाने के लिए आदेश उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा दिया जाता है तो इस प्रकार की असांविधानिकता का इस तथ्य के कारण उपचार नहीं हो जाता कि सरकारी कर्मचारी को हटाए जाने के आदेश की समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्टि कर दी गई है परिणामतः उक्त अनुच्छेद 311(1) के उल्लंघन में अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा दिया गया

सेवा पदच्युति का आदेश अकृत और शून्य है और ऐसे आदेश को समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्ट किया जाना अवैध है।

उड़ीसा-6

—अनुच्छेद 311(2) सपठित मूल नियमावली का नियम 54 और 54(क)(3)—सेवा के निबन्धनों और शर्तों के अनुसार पिटीशनर की सेवाएं समाप्त करते हुए प्रत्यर्थी द्वारा सूचना का जारी किया जाना—न्यायालय द्वारा उक्त सूचना को अभिखंडित करते हुए पिटीशनर के सेवा में बने रहने और उसको उन उपलब्धियों का संदाय करने के लिए निर्देश दिया जाना जिनका वह हकदार था—प्रत्यर्थी द्वारा पिटीशनर को सेवा में पुनःस्थापित किया जाना और पूरे वेतन और भत्तों का संदाय न किया जाना—उक्त नियम 54(क)(3) के अनुसार पदच्युति या सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृत्ति किए जाने के आदेश को अपास्त करते समय यदि न्यायालय सम्बलम और भत्तों के संदाय के सम्बन्ध में कोई निदेश जारी करता है तो वह सक्षम प्राधिकारी पर आबद्ध होंगे और सरकारी सेवक अपने पुनःस्थापन पर उस अवधि, जिसके दौरान वह नियोजन से बाहर रहा था, के लिए सभी प्रयोजनों के लिए कर्त्तव्य पर माना जाएगा और वह पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा।

इलाहाबाद-154

सक्सेशन ऐक्ट, 1925 (1925 का 39)

—धारा 276, 278 और 299—प्रोबेट और प्रशासन-पत्र के अनुदान का आदेश डिक्री नहीं होता—ऐसे आदेश के सम्बन्ध में प्ररूपिक डिक्री तैयार करनी आवश्यक नहीं है—अतः ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील-ज्ञापन के साथ डिक्री की प्रामाणिक प्रति संलग्न न करने के परिणामस्वरूप अपील अविधिमान्य नहीं बनती।

कलकत्ता-1

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882

—धारा 105—पक्षकारों के बीच किया गया कोई संव्यवहार पट्टा है अथवा अनुज्ञप्ति इसका अवधारण पक्षकारों के आशय पर निर्भर करता है—उक्त आशय का पता साम्पार्श्विक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करार के निबन्धनों से लगाया जा सकता है।

कलकत्ता-18

—धारा 106 और 116—धारा 116 के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् धारा 106 के अधीन

अपेक्षित सूचना की अवधि से सम्बन्धित संविदा की जाए—यह संविदा या तो मूल पट्टे में विद्यमान होती है या उसे मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् पक्षकारों के बीच की जा सकती है ।

इलाहाबाद-220

साक्ष्य अधिनियम, 1872

—धारा 3—दाण्डिक मामले में यदि ऐसा कोई साक्षी, जो घटना का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होने का दावा करता है, उस घटना को उसके तुरन्त पश्चात् किसी व्यक्ति से प्रकट नहीं करता या पुलिस थाने में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज नहीं कराता तो ऐसा साक्ष्य अविश्वसनीय साक्ष्य होगा और ऐसे साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट नहीं किया जा सकता ।

उड़ीसा-34

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908

—धारा 21(1)—अधिकारिता के बारे में आक्षेप—अधिकारिता के बारे में आक्षेप को अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा ग्रहण किए जाने से पूर्व यह सिद्ध करना आवश्यक है कि वाद लाने का स्थान गलत रूप से चुने जाने के कारण धारा 21 के अर्थान्तर्गत न्याय की निष्फलता हुई है ।

आन्ध्र प्रदेश-15

—धारा 148क—केवियट दायर करने का अधिकार—यदि पिटीशनर द्वारा केवियटकर्ता पर प्रस्थापित पिटीशन की प्रतिलिपि की तामील नहीं की जाती है और निलम्बन का अन्तरिम आदेश मंजूर किए जाने से पहले केवियटकर्ता को सुनवाई का अवसर नहीं दिया जाता है तो ऐसी दशा में पारित निलम्बन के एकपक्षीय अन्तरिम आदेश से स्पष्टतः धारा 148क का अतिक्रमण होता है और वह अपास्त किया जा सकेगा ।

आन्ध्र प्रदेश-1

—आदेश 1 का नियम 10(2) सपठित आदेश 22 का नियम 4 और 9—सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 का नियम 10(2) वैवेकिक है और न्यायालय को किन्हीं मामलों में किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ने की शक्ति देता है जहां पर ऐसा करने के लिए न्याय के हित में आवश्यक है—यदि इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग मृत प्रतिवादी के वारिसों के प्रतिस्थापन करने के लिए किया जाता है तो वह आवश्यक रूप से उपशमन के परिणाम को अकृत करेगा जिसमें वारिसों को अभिलेख पर नहीं लाया गया

था और ऐसा न करने के लिए कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था—यह शक्ति सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 में उपबन्धित उपबन्धों के अनुसार ही प्रयोग की जा सकती है।

इलाहाबाद-58

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955

—धारा 5 के खण्ड(1) सपठित धारा 11—उक्त धारा 11 के साथ पठित धारा 5(1) के उपबन्धों के उल्लंघन में किए गए शून्य विवाह की विधिमान्यता के बारे में विवाह के वर और वधु में से किसी की मृत्यु के पश्चात भी किसी तृतीय व्यथित पक्षकार के अनुरोध पर विचार किया जा सकेगा।

इलाहाबाद-117

—धारा 28(1) विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा यथा संशोधित —उक्त अधिनियम के अधीन कार्यवाही में पारित अपीलीय डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील भी की जा सकती है।

इलाहाबाद-186

—धारा 28(1) व धारा 28(4), सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963, अनुच्छेद 116(क), सपठित सिविल प्रक्रिया सहिता, 1908, धारा 100 द्वितीय अपील के लिए परिसीमा—चूंकि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन द्वितीय अपील धारा 28(1) के अधीन की जाती है, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन नहीं अतः द्वितीय अपील की परिसीमा को अधिनियम की धारा 28(4) लागू होगी, परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 166(क) नहीं—तदनुसार हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 28(1) के अधीन द्वितीय अपील की परिसीमा अवधि 30 दिन है, 90 दिन नहीं।

इलाहाबाद-186

नि० प० 1984 : आन्ध्र प्रदेश—1

सी० सीतय्या बनाम आन्ध्र प्रदेश सरकार और अन्य

(C. Seethaiah *Vs.* Government of Andhra Pradesh and others)

तारीख 14 जुलाई, 1983

[मु० न्या० के० माधव रेड्डी और न्या० कोदण्डरामय्या]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—धारा 148क—केवियट दायर करने का अधिकार—यदि पिटीशनर द्वारा केवियटकर्ता पर प्रस्थापित पिटीशन की प्रतिलिपि की तामील नहीं की जाती है और निलम्बन का अन्तरिम आदेश मंजूर किए जाने से पहले केवियटकर्त्ता को सुनवाई का अवसर नहीं दिया जाता है तो ऐसी दशा में पारित निलम्बन के एकपक्षीय अन्तरिम आदेश से स्पष्टतः धारा 148-क का अतिक्रमण होता है और वह अपास्त किया जा सकेगा।

ग्राम करनाम की मृत्यु हो जाने पर हुई स्थायी रिक्ति को भरने के लिए आवेदन मांगे जाने पर केवल अपीलार्थी और प्रत्यर्थी सं० 3 ने ही आवेदन पत्र भेजे। अपीलार्थी एक अनुसूचित जाति का और कम आयु का किन्तु दसवीं कक्षा उत्तीर्ण तथा प्रशिक्षण भाग 2 उत्तीर्ण अभ्यर्थी है जबकि प्रत्यर्थी सं० 3 पिछड़े वर्ग का है और नियुक्ति के लिए पूरी तरह अर्हित है। राजस्व खण्ड अधिकारी ने प्रशिक्षण भाग 1 उत्तीर्ण करने की शर्त के अधीन रहते हुए अपीलार्थी की नियुक्ति कर दी। तृतीय प्रत्यर्थी ने कलक्टर से अपील की, किन्तु कलक्टर ने राजस्व खण्ड अधिकारी के आदेश की पुष्टि कर दी। द्वितीय अपील में भू-राजस्व आयुक्त ने यह निष्कर्ष निकालते हुए कि इस आरक्षित रिक्ति पर नियुक्ति के लिए अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग के अभ्यर्थियों की आपेक्षिक योग्यता के आधार पर विचार किया जा सकता है, तृतीय प्रत्यर्थी की नियुक्ति कर दी और कलक्टर तथा राजस्व खण्ड अधिकारी के आदेशों को अपास्त कर दिया। भू-राजस्व आयुक्त के आदेश से व्यथित होकर अपीलार्थी ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल किया।

इस बात की पूर्वाशा करते हुए कि पिटीशनर उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल कर सकता है, तृतीय प्रत्यर्थी ने एक केवियट दायर किया और अपीलार्थी पिटीशनर को रसीदी रजिस्ट्री डाक द्वारा एक नोटिस भेजा और उससे प्रस्थापित रिट पिटीशन की प्रतिलिपि दिए जाने की अपेक्षा की गई किन्तु पिटीशनर ने इस नोटिस के उत्तर में तृतीय प्रत्यर्थी को सम्बन्धित प्रतिलिपि दिए

बिना उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन फाइल कर दिया और अन्तरिम निलम्बन आदेश अभिप्राप्त कर लिया। तत्पश्चात् तृतीय प्रत्यर्थी ने उक्त अन्तरिम आदेश को रद्द किए जाने के लिए एक प्रकीर्ण पिटीशन फाइल किया। उच्च न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश ने यह पिटीशन मंजूर कर लिया और यह मत व्यक्त करते हुए कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148-क के अधीन रिट पिटीशन की सूचना देना आवश्यक है, निलम्बन के अन्तरिम आदेश को रद्द कर दिया। अत: विद्वान् एकल न्यायाधीश के निर्णय से व्यथित होकर पिटीशनर अपीलार्थी ने लैटर्स पेटेन्ट के खण्ड 15 के अधीन उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट अपील फाइल की है।

पिटीशनर-अपीलार्थी की ओर से संक्षेप में यह दलील दी गई है कि वह सुनवाई की तारीख की केवियटकर्ता को सूचना देने के लिए बाध्य नहीं है, चूंकि नोटिस देने की बाध्यता न्यायालय पर अधिरोपित की गई है इसलिए वाद सूची में केवियटकर्ता के काउन्सेल का नाम मुद्रित न हो पाने के लिए उसे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता और न्यायालय द्वारा ऐसे मामलों में भी, जहां केवियट की तामील की जा चुकी हो, एकपक्षीय पारित किया गया आदेश अकृत नहीं है इसलिए ऐसे आदेश को अपास्त नहीं किया जाना चाहिए।

अभिनिर्धारित—रिट अपील खारिज की गई।

जब कभी सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 148-क की उपधारा (1) में अधिकथित किए गए अनुसार कोई केवियट दायर किया जाता है तो उपधारा (2) के अन्तर्गत केवियटकर्त्ता के लिए रसीदी (पावती सहित) रजिस्ट्री डाक द्वारा उस केवियट के नोटिस की उस व्यक्ति पर तामील करना आबद्धकर है जिसके द्वारा आवेदन किया गया है या किए जाने की प्रत्याशा की जाती है। तत्पश्चात् उपधारा (3) द्वारा न्यायालय पर आवेदन की नोटिस की केवियटकर्ता पर तामील करने की बाध्यता अधिरोपित की गई। धारा 148-क की उपधारा (4) उस आवेदक पर, जिस पर केवियट की तामील की गई है, उसके द्वारा किए गए आवेदन की प्रतिलिपि को और साथ ही अन्य कागजातों या दस्तावेजों की प्रतिलिपियों को भी, जो आवेदन के समर्थन में फाइल किए गए हैं या फाइल किए जा सकते हैं, केवियटकर्ता को तुरन्त देने का कर्तव्य अधिरोपित करती है। निस्सन्देह ऐसी प्रतिलिपियां केवियटकर्ता के खर्चे पर ही दी जाएंगी। इस उपबन्ध को बनाने के पीछे विधान मण्डल का आशय कोई भी आदेश पारित किए जाने से पहले केवियटकर्ता को सुनवाई किए जाने के लिए समर्थ बनाना है, ताकि न्यायालय द्वारा कोई भी आदेश एकपक्षीय पारित न किया जाए।

न्यायालय से और आवेदक से ऐसा नोटिस प्राप्त करने का हकदार होने के लिए केवियटकर्ता से धारा 148-क की उपधारा (1) में अधिकथित किए गए अनुसार केवियट दायर करने और रसीदी रजिस्ट्री डाक द्वारा नोटिस की उस व्यक्ति पर तामील करने की अपेक्षा की गई है जिसने धारा 148-क की उपधारा (2) में अधिकथित किए गए अनुसार न्यायालय में कोई समावेदन किया है या करना सम्भाव्य है यदि केवियटकर्ता द्वारा उपधारा (1) और (2) की अपेक्षाएं पूरी कर दी जाती हैं तो न्यायालय के लिए केवियटकर्ता को नोटिस देना आबद्धकरहो जाता है और न्यायालय में समावेदन करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए केवियटकर्ता को आवश्यक कागजात देना आबद्धकर हो जाता है। इस तथ्य से कि पिटीशन की प्रतिलिपियां और पिटीशन के समर्थन में फाइल किए गए या फाइल किए जाने के लिए आशयित दस्तावेजों की प्रतिलिपियां केवियटकर्ता के खर्चे पर दी जा सकेंगी, यह विवक्षित नहीं होता कि केवियटकर्ता को प्रतिलिपियां और दस्तावेज़ लेने के लिए आवेदक के पास जाना चाहिए और स्वयं खर्चे का संदाय करने के लिए निवेदन करना चाहिए। न्यायालय में समावेदन करने का आशय रखने वाले व्यक्ति को ऐसी प्रतिलिपियां और दस्तावेज़ देना चाहिए और उसके लिए संदाय की मांग करनी चाहिए। चूंकि, विधानमण्डल का यह आशय है कि ऐसे पिटीशन पर, जिसमें कोई केवियट दायर किया जाता है, कोई आदेश किए जाने के पूर्व प्रत्यर्थी की सुनवाई की जानी चाहिए इसलिए इस बात को आवेदक द्वारा यह अभिवाक् करते हुए निरर्थक नहीं बनाया जा सकता कि केवियटकर्ता ने प्रतिलिपियां देने के लिए उससे निवेदन नहीं किया है। वास्तव में केवियट-कर्ता इस बात से अवगत नहीं हो सकेगा कि आवेदक न्यायालय में कब समावेदन करेगा। अतः विधानमण्डल द्वारा आवेदक पर यह बाध्यता सही अधिरोपित की गई है। (पैरा 5)

यदि रिट पिटीशनर ने केवियटकर्ता पर पिटीशन की प्रतिलिपियों की कोई तामील नहीं की है और वास्तव में निलम्बन का अन्तरिम आदेश मंजूर किए जाने से पहले उसकी सुनवाई नहीं की गई है तो परिणामतः निलम्बन का एकपक्षीय आदेश केवल इस आधार पर ही अपास्त किए जाने योग्य है। जहां आज्ञापक अपेक्षा, भले ही वह प्रक्रिया सम्बन्धी हो, की उपेक्षा की जाती है वहां वह आदेश भी, भले ही वह अकृत न हो, निश्चित ही अवैध है और उसे उसी न्यायालय द्वारा अवैधता के आधार पर अपास्त किया जा सकता है। धारा 148-क की उक्त आज्ञापक अपेक्षाओं का अनुपालन किए बिना न्यायालय द्वारा किए गए अन्तरिम आदेश को अपास्त किया जाना सही है। (पैरा 7 और 10)

जब मामले की न्यायालय के समक्ष सुनवाई की गई तब केवियटकर्ता

हाजिर नहीं था और वह इस कारण हाजिर नहीं हो सकता था क्योंकि प्रत्यर्थी का नाम या उसके काउन्सेल का नाम वाद सूची में मुद्रित नहीं था। जब पिटीशनर पर केवियट दायर किए जाने के नोटिस की तामील की गई हो तब पिटीशनर और उसके काउन्सेल का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह मामले की सुनवाई किए जाने और केवियटकर्ता के विरुद्ध कोई अन्तरिम आदेश पारित किए जाने से पहले उस तथ्य को न्यायालय की जानकारी में ला दे। जब कोई केवियट दायर किया जाता है तब यह न केवल न्यायालय का ही बल्कि पिटीशनर और उसके काउन्सेल का भी कर्तव्य हो जाता कि वह न्यायालय की जानकारी में यह बात ला दे कि केवियट दायर किया गया है और मामले की एकपक्षीय सुनवाई न की जाए। हालांकि धारा 148-क द्वारा ऐसी कोई बाध्यता अभिव्यक्त रूप से अधिरोपित नहीं की गई है तथापि उपधारा (3) और (4) में अन्तर्विष्ट बातों और उस प्रयोजन के सर्वांगीण आशय को भी ध्यान में रखते हुए उसे आवश्यक रूप से विवक्षित माना जाना चाहिए। यदि वाद सूची में तृतीय प्रत्यर्थी केवियटकर्ता या उसके काउन्सेल का नाम मुद्रित हुआ है तो यह प्रत्यर्थी को पर्याप्त नोटिस कहलाता। किन्तु इसके पश्चात् पिटीशनर या उसके काउन्सेल द्वारा प्रत्यर्थी केवियटकर्ता को पिटीशनों और दस्तावेजों की प्रतिलिपियां भी दी जानी चाहिए। अतः न्यायालय इस मत के साथ सहमत है कि निलम्बन का एकपक्षीय अन्तरिम आदेश इस आधार पर ही अपास्त किया जा सकता है। (पैरा 11)

		पैरा
[1981]	ए० आई० आर० 1981 कर्नाटक 242 : जी० सी० सिद्धालिंगप्पा **बनाम** जी० सी० वीरन्ना (G. C. Siddalingappa *Vs.* G. C. Veeranna);	6
[1981]	ए० आई० आर० 1981 आन्ध्र प्रदेश 246 : भारतीय रिजर्व बैंक कर्मचारी संघ **बनाम** भारतीय रिजर्व बैंक (Reserve Bank of India Employees Association *Vs.* Reserve Bank of India);	9
[1978]	ए० आई० आर० 1978 कलकत्ता 492 : निर्मल चन्द्र दत्त **बनाम** गिरिन्द्र नारायण (Nirmal Chandra Dutta *Vs.* Girindra Narayan);	5

से सहमति प्रकट की गई।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 की रिट अपील संख्या 505.

लैटर्स पेटेंट के खण्ड 15 के अधीन की गई रिट अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री एम० आर० के० चौधरी

प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से ... सरकारी प्लीडर

प्रत्यर्थी सं० 3 की ओर से ... श्री ई० मनोहर

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० के० माधव रेड्डी ने दिया।

मु० न्या० रेड्डी :

यह रिट अपील 1983 के डब्ल्यू०वी०एम० पी० 305 में हमारे विद्वान् बन्धु न्या० रामनुजुलु नायडू के निर्णय के विरुद्ध की गयी है जिसके द्वारा रिट पिटीशन के लम्बित रहते हुए 1983 के डब्ल्यू० वी० एम० पी० 3430 में मंजूर किए गए अन्तरिम निलम्बन को रद्द किया गया था।

2. इस रिट अपील में अपीलार्थी ने सरकारी आदेश आर० टी० सं० 382 राजस्व (एच०) विभाग, तारीख 8-3-1983 के रूप में आन्ध्र प्रदेश सरकार के उस आदेश को अभिखण्डित करने के लिए सरशियोरेराई या कोई अन्य समुचित रिट की प्रार्थना की है। इस आदेश के द्वारा सरकार ने भू-राजस्व आयुक्त के आदेशों में पुनरीक्षण में हस्तक्षेप करने से इन्कार कर दिया था और उसे नामंजूर कर दिया था।

3. स्थायी ग्राम करनाम की मृत्यु पर 19-7-1977 को पवनिवारि-कन्द्रिका गांव में करनाम के पद में स्थायी रिक्ति हुई। तारीख 10-11-1980 को एक अधिसूचना जारी की गई जिसमें उक्त पद को भरने के लिए आवेदन मांगे गए। इस रिट अपील में अपीलार्थी और तृतीय प्रत्यर्थी ही केवल उक्त पद के लिए आवेदक हैं। जब यह रिक्ति हुई थी उस तारीख को अपीलार्थी की आयु, जो कि अनुसूचित जाति का था, 20 वर्ष थी और वह दसवीं कक्षा तक पढ़ा हुआ था। सन् 1977 में उसने करनाम का प्रशिक्षण भी किया था और करनाम की परीक्षा भाग-2 उत्तीर्ण कर ली थी। तथापि वह करनाम की परीक्षा भाग-1 उत्तीर्ण नहीं कर पाया। तृतीय प्रत्यर्थी, जो कि एक पिछड़े वर्ग का है और जिसकी आयु उस तारीख को 42 वर्ष थी, जब यह रिक्ति हुई थी, उक्त पद पर नियुक्ति के लिए अर्हित था। राजस्व खण्ड अधिकारी ने तारीख 5.1.1981 के अपने आदेश द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि तृतीय प्रत्यर्थी, जिसकी आयु 35 वर्ष से अधिक है, नियुक्ति के लिए पात्र नहीं है। उन्होंने उक्त पद पर नियुक्ति के

लिए अपीलार्थी के दावे पर "उसके द्वारा एक वर्ष के भीतर करनाम की परीक्षा भाग-1 उत्तीर्ण कर लेने के अधीन रहते हुए" विचार किया। उनका यह भी मत था कि अपीलार्थी का "एक अनुसूचित जाति का अभ्यर्थी होने के कारण उन दूसरे अभ्यर्थियों की तुलना में बेहतर हक है जो विहित आयु से अधिक आयु के हैं और जो अनुसूचित जाति के अभ्यर्थी नहीं हैं।" तदनुसार उन्होंने अपीलार्थी को करनाम के पद पर नियुक्त कर दिया। तृतीय प्रत्यर्थी ने इस मामले की कलक्टर से अपील की जिन्होंने राजस्व खंड अधिकारी के आदेश की पुष्टि कर दी और अपील खारिज कर दी। तत्पश्चात् तृतीय प्रत्यर्थी इस मामले को द्वितीय अपील में भू-राजस्व आयुक्त के समक्ष ले गया। तारीख 14-8-1981 के अपने आदेश द्वारा भू-राजस्व आयुक्त ने यह निर्धारित किया कि सरकारी आदेश प्रकीर्ण संख्या 1349 राजस्व विभाग, तारीख 1-8-1978 में बनाए गए नियम, जिसमें नियम, 10(2)(ii) में उप खण्ड (एफ०) जोड़ते हुए आयु सीमा विहित की गई है, भविष्यलक्षी है और उसे ऐसी रिक्ति को भरने के लिए लागू नहीं किया जा सकता जो 19-7-1977 को हुई है। मामले पर इस दृष्टिकोण से विचार करते हुए उन्होंने यह अभिनिर्धारित किया कि तृतीय प्रत्यर्थी करनाम के रूप में नियुक्ति के लिए पात्र है। उन्होंने यह भी अभिनिर्धारित किया कि आरक्षित रिक्ति पर नियुक्ति के लिए अनुसूचित जाति, अनुसूचित जनजाति और पिछड़े वर्ग के अभ्यर्थियों पर उनकी आपेक्षिक गुणता (योग्यता) के आधार पर विचार किया जा सकता है। तत्पश्चात् उन्होंने दो अभ्यर्थियों की आपेक्षिक (तुलनात्मक) योग्यता पर विचार किया और यह निष्कर्ष निकाला कि जबकि तृतीय प्रत्यर्थी उस पद को धारण करने के लिए पूरी तरह अर्हित है, अपीलार्थी को करनाम की परीक्षा भाग-1 उत्तीर्ण न किए जाने के कारण तृतीय प्रत्यर्थी के मुकाबले अधिमान नहीं दिया जा सकता। तद्नुसार उन्होंने कलक्टर और राजस्व खण्ड अधिकारी के आदेशों को अपास्त कर दिया और यहां तृतीय प्रत्यर्थी की करनाम के रूप में नियुक्ति का निदेश दिया। इस आदेश को अब हमारे समक्ष चुनौती दी गयी है और अपीलार्थी ने, जिसे पुनरीक्षण में सरकार के समक्ष सफलता नहीं मिली थी, संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस न्यायालय की अधिकारिता का अवलम्ब लिया है।

4. इस बात की पूर्वाशा करते हुए कि असफल पुनरीक्षण-पिटीशनर इस न्यायालय में समावेदन कर सकता है, यहां तृतीय प्रत्यर्थी ने उच्च न्यायालय में विधि व्यवसाय कर रहे अधिवक्ता श्री ई० मनोहर के माध्यम से तारीख 11-3-83 को एक केवियट दायर किया। श्री ई० मनोहर ने अपीलार्थी को रसीदी (पावती सहित) रजिस्ट्री डाक द्वारा तारीख 11-3-83 को एक नोटिस

भी भेजा जिसमें अपीलार्थी को यह सूचना दी गयी कि उन्होंने न्यायालय में एक केवियट दायर किया है और उससे प्रस्थापित रिट पिटीशन और अन्य प्रकीर्ण पिटीशनों की, जिनमें सरकार के आदेश को प्रश्नगत किया गया है, प्रतिलिपियां दिए जाने की अपेक्षा की गई है। अपीलार्थी को यह नोटिस 14-3-1983 को प्राप्त हुआ। तथापि, रिट पिटीशन या प्रकीर्ण पिटीशन के नोटिस की, जिनमें अपेक्षित आदेश के प्रवर्तन को निलम्बन किए जाने की प्रार्थना की गयी है, तृतीय प्रत्यर्थी पर या उसके काउन्सेल श्री ई० मनोहर पर तामील किए बिना अपीलार्थी ने रिट पिटीशन फाइल कर दिया और तारीख 25-3-83 को अन्तरिम निलम्बन का आदेश अभिप्राप्त कर लिया। यहां रिट अपील में तृतीय प्रत्यर्थी ने उक्त अन्तरिम आदेश को रद्द किए जाने के लिए 1983 का डब्ल्यू० वी० एम० पी० 305 फाइल किया है। हमारे विद्वान् बन्धु न्या० रामानुजुलु नायडू ने यह मत व्यक्त करते हुए वह पिटीशन मंजूर कर लिया कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि तृतीय प्रत्यर्थी के काउन्सेल श्री ई० मनोहर को रिट पिटीशन और प्रकीर्ण पिटीशन की कोई भी सूचना नहीं दी गई है जैसा कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 148-क(3) में अपेक्षित है और यह अभिनिर्धारित किया कि "पिटीशनर का यह आचरण भर्त्सना किए जाने के योग्य है।" तत्पश्चात् विद्वान् न्यायाधीश ने यह मत व्यक्त किया कि चूंकि रिट पिटीशनर इस न्यायालय में कलुषित भावना लेकर उपस्थित हुआ है इसलिए वह किसी भी अनुग्रह (उदारता) का हकदार नहीं है। तदनुसार उन्होंने निलम्बन के अन्तरिम आदेश को रद्द कर दिया, 1983 के डब्ल्यु० वी० एम० पी० 3430 को खारिज कर दिया और 1983 के डब्ल्यु० वी० एम० पी० 305 को मंजूर कर लिया।

5. सिविल प्रक्रिया संहिता संशोधन अधिनियम, 1976 द्वारा धारा 148-क के अन्तःस्थापन द्वारा केवियट दायर करने के लिए उपबन्ध किया गया है। धारा 148-क इस प्रकार है :—

"**148क.—केवियट दायर करने का अधिकार** (1) जहां किसी न्यायालय में संस्थित या शीघ्र ही संस्थित होने वाले किसी वाद या कार्यवाही में किसी आवेदन का किया जाना प्रत्याशित है या कोई आवेदन किया गया है वहां कोई व्यक्ति जो ऐसे आवेदन की सुनवाई में न्यायालय के समक्ष उपस्थित होने के अधिकार का दावा करता है उसके बारे में केवियट दायर कर सकेगा।

(2) जहां उपधारा (1) के अधीन कोई केवियट दायर किया गया है वहां वह व्यक्ति जिसके द्वारा केवियट दायर किया गया

है (जिसे इसमें इसके पश्चात् केवियटकर्ता कहा गया है) उस व्यक्ति पर जिसके द्वारा उपधारा (1) के अधीन आवेदन किया गया है या किए जाने की प्रत्याशा है, केवियट की सूचना की तामील रसीदी रजिस्ट्री डाक द्वारा करेगा।

(3) जहां उपधारा (1) के अधीन कोई केवियट दायर किए जाने के पश्चात् किसी वाद या कार्यवाही में कोई आवेदन फाइल किया जाता है वहां न्यायालय आवेदन की सूचना केवियटकर्ता को देगा।

(4) जहां आवेदक पर किसी केवियट की सूचना की तामील की गई है वहां वह उसके द्वारा किए गए आवेदन की और उस आवेदन के समर्थन में उसके द्वारा फाइल किए गए या फाइल किए जाने वाले किसी कागज या दस्तावेज की प्रतियां केवियटकर्ता के खर्चे पर केवियटकर्ता को तुरन्त देगा।

(5) जहां उपधारा (1) के अधीन कोई केवियट दायर किया गया है वहां ऐसा केवियट उस तारीख से, जिसको वह दायर किया गया था, नब्बे दिन के अवसान के पश्चात् प्रवृत्त नहीं रहेगा जब तक कि उपधारा (1) में निर्दिष्ट आवेदन उक्त अवधि के अवसान के पूर्व नहीं किया गया हो।"

जब कभी धारा 148-क की उपधारा (1) में अधिकथित किए गए अनुसार कोई केवियट दायर किया जाता है तो उपधारा (2) के अंतर्गत केवियटकर्ता के लिए रसीदी (पावती सहित) रजिस्ट्री डाक द्वारा उस केवियट के नोटिस की उस व्यक्ति पर तामील करना आबद्धकर है जिसके द्वारा आवेदन किया गया है या किए जाने की प्रत्याशा की जाती है। तृतीय प्रत्यर्थी ने धारा 148-क की उपधारा (1) में बताए गए अनुसार केवियट दायर किया है और साथ ही उसकी उपधारा (2) में अनुध्यात किए गए अनुसार नोटिस की तामील भी की है। तत्पश्चात् उपधारा (3) द्वारा न्यायालय पर आवेदन की नोटिस की केवियटकर्ता पर तामील करने की बाध्यता अधिरोपित की गई। धारा 148-क की उपधारा (4) उस आवेदक पर, जिस पर केवियट की तामील की गई है, उसके द्वारा किए गए आवेदन की प्रतिलिपि को और साथ ही अन्य कागजातों या दस्तावेजों की प्रतिलिपियों को भी, जो आवेदन के समर्थन में फाइल किए गए हैं या फाइल किए जा सकते हैं, केवियटकर्ता को तुरन्त देने का कर्त्तव्य अधिरोपित करती है। निःसंदेह ऐसी प्रतिलिपियां केवियटकर्ता के खर्चे पर ही दी जाएंगी। इस उपबन्ध को बनाने के पीछे विधानमंडल का आशय कोई भी

आदेश पारित किए जाने से पहले केवियटकर्ता-प्रत्यर्थी को सुनवाई किए जाने के लिए समर्थ बनाना है, ताकि न्यायालय द्वारा कोई भी आदेश एकपक्षीय पारित न किया जाए। यह बात कि विधानमंडल का यही आशय है, **निर्मल चन्द्र दत्त** बनाम **गिरिन्द्र नारायण**[1] में कलकत्ता उच्च न्यायालय के न्याय पीठ द्वारा भी इन शब्दों में स्वीकार की गई है :—

> "केवियट दायर किए जाने के उपबन्ध को सिविल प्रक्रिया संहिता में सम्मिलित किए जाने का उद्देश्य किसी व्यक्ति के हित को ऐसे आदेश के विरुद्ध संरक्षण प्रदान करना लगता है जो किसी पक्षकार द्वारा संस्थित या संस्थित किए जाने वाले किसी वाद या कार्यवाही में फाइल किए गए या फाइल किए जाने के लिए प्रत्याशित आवेदन पर पारित किया जा सकेगा।"

न्यायालय से और आवेदक से ऐसा नोटिस प्राप्त करने का हकदार होने के लिए केवियटकर्ता से धारा 148-क की उपधारा (1) में अधिकथित किये गए अनुसार केवियट दायर करने और रसीदी रजिस्ट्री डाक द्वारा नोटिस की उस व्यक्ति पर तामील करने की अपेक्षा की गई है जिसने धारा 148-क की उपधारा (2) में अधिकथित किए गए अनुसार न्यायालय में कोई समावेदन किया है या करना सम्भाव्य है। यदि केवियटकर्ता द्वारा उपधारा (1) और (2) की अपेक्षाएं पूरी कर दी जाती हैं तो न्यायालय के लिए केवियटकर्ता को नोटिस देना आबद्धकर हो जाता है और न्यायालय में समावेदन करने के इच्छुक व्यक्ति के लिए केवियटकर्ता को आवश्यक कागजात देना आबद्धकर हो जाता है। इस तथ्य से कि पिटीशन की प्रतिलिपियां और पिटीशन के समर्थन में फाइल किए गए या फाइल किए जाने के लिए आशयित दस्तावेजों की प्रतिलिपियां केवियटकर्ता के खर्चे पर दी जा सकेंगी, यह विवक्षित नहीं होता कि केवियटकर्ता को प्रतिलिपियां और दस्तावेज लेने के लिए आवेदक के पास जाना चाहिए और स्वयं खर्चे का संदाय करने के लिए निवेदन करना चाहिए। न्यायालय में समावेदन करने का आशय रखने वाले व्यक्ति को ऐसी प्रतिलिपियां और दस्तावेज देना चाहिए और उसके लिए संदाय की मांग करनी चाहिए। चूंकि विधानमंडल का यह आशय है कि ऐसे पिटीशन पर, जिसमें कोई केवियट दायर किया जाता है, कोई आदेश किए जाने के पूर्व प्रत्यर्थी की सुनवाई की जानी चाहिए, इसलिये इस बात को आवेदक द्वारा यह अविभाक् करते हुए निरर्थक नहीं बनाया जा सकता कि केवियटकर्ता ने प्रतिलिपियां देने के लिए उससे निवेदन

[1] ए० आई० आर० 1978 कलकत्ता 492.

नहीं किया है। वास्तव में केवियटकर्त्ता इस बात से अवगत नहीं हो सकेगा कि आवेदक न्यायालय में कब समावेदन करेगा। अतः विधानमंडल द्वारा आवेदक पर यह बाध्यता सही अधिरोपित की गई है।

6. आवेदक—रिट पिटीशनर की ओर से श्री एम० आर० के० चौधरी की इस दलील का, कि वह सुनवाई की तारीख की सूचना देने के लिए बाध्य नहीं है, धारा 148-क की उपधारा (3) की शब्दावली से भी समर्थन हो सकता है क्योंकि उक्त बाध्यता न्यायालय पर अधिरोपित की गई है किन्तु निश्चित ही अपीलार्थी-पिटीशनर को प्रतिलिपियां देने की बाध्यता से मुक्त नहीं किया जा सकता जिसके अनुसार स्वयमेव प्रत्यर्थी-केवियटकर्ता का नाम न्यायालय में फाइल किये जाने के लिए प्रस्थापित पिटीशन के नोटिस में आ जाता है। इस न्यायालय की यह पद्धति है कि वह अगले दिन सुनवाई के लिए नियत किए गए मामलों की वाद-सूचियां मुद्रित और प्रकाशित कराके संबंधित पक्षकारों को अधिसूचित करे। ऐसी वाद सूचियां यह बात जानने में हितबद्ध किसी और सभी व्यक्तियों को उपलब्ध कराई जाती हैं कि कोई विशिष्ट मामला सुनवाई के लिए कब नियत किया गया है। सभी अधिवक्ता इन वाद सूचियों को खरीद कर या अधिवक्ता संघ के कार्यालय में या रजिस्ट्री में उनका परिशीलन करके वह तारीख मालूम कर सकते हैं जिस तारीख को कोई विशिष्ट मामला सुनवाई के लिए नियत किया गया है। इन वाद सूचियों में संबंधित पक्षकारों की ओर से हाजिर होने वाले काउंसेल के नाम और मामले की संख्या मुद्रित होती है। अतः पक्षकारों और उनके काउंसेल को सुनवाई की तारीख अधिसूचित किए जाने का यह ढंग होने के कारण यदि एक बार केवियट दायर किया जाता है तो पक्षकार और उनके काउंसेल उस समय हाजिर होते हैं जब वह मामला किसी विशिष्ट न्यायालय में सुनवाई के लिए लिया जाता है। विद्वान एकल न्यायाधीश द्वारा यह सही कहा गया है कि यह दुर्भाग्यपूर्ण है कि तृतीय प्रत्यर्थी द्वारा अपने काउंसेल की मार्फत केवियट दायर किए जाने और उसकी रजिस्ट्री डाक द्वारा तामील किए जाने पर भी अपीलार्थी-पिटीशनर ने तृतीय प्रत्यर्थी को वे प्रतिलिपियां नहीं दीं या यह अधिसूचित नहीं किया कि वह रिट पिटीशन फाइल कर रहा है और तृतीय प्रत्यर्थी के पक्ष में आदेश के निलम्बन की प्रार्थना कर रहा है। इससे स्पष्टतः धारा 148-क के उपबंधों का अतिक्रमण होता है। **जी० सी० सिद्धालिंगप्पा बनाम जी० सी० वीरन्ना**[1] में कर्नाटक उच्च न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है :—

---

[1] ए० आई० आर० 1981 कर्नाटक 242.

"यदि एक बार कोई केवियट फाइल कर दिया जाता है तो अंतरिम आदेश पारित किए जाने की यह एक पुरोभाव्य शर्त है कि ऐसे आवेदन के नोटिस की उस केवियटकर्ता पर तामील की जाए जिस पर ऐसे अंतरिम आदेश से प्रभाव पड़ने वाला है। जब तक यह पुरोभाव्य शर्त पूरी नहीं होती तब तक न्यायालय के लिए केवियटकर्ता पर प्रभाव डालने वाला कोई अंतरिम आदेश पारित करना असम्भव है।"

आगे विद्वान न्यायाधीश ने यह और अभिनिर्धारित किया है :—

"न्यायालय आवेदन के नोटिस की केवियटकर्ता पर तामील करने से इस आधार पर मुक्त नहीं हो सकेगा कि केवियटकर्ता ने उसे लेने से इनकार कर दिया है। भले ही आवेदन की केवियटकर्ता पर तामील कर दी गई हो फिर भी जब तक आवेदन की सुनवाई की तारीख और समय केवियटकर्ता या उसके काउंसेल को बता नहीं दिया जाता तब तक आवेदन के नोटिस की केवियटकर्ता पर तामील किए जाने की अपेक्षा से अभिमुक्ति प्रदान नहीं जा सकती।"

7. प्रस्तुत मामले में रिट पिटीशनर ने केवियटकर्ता पर पिटीशन की प्रतिलिपियों की कोई तामील नहीं की है और वास्तव में निलम्बन का अंतरिम आदेश मंजूर किए जाने से पहले उसकी सुनवाई नहीं की गई है। परिणामतः निलंबन का एकपक्षीय आदेश केवल इस आधार पर ही अपास्त किए जाने योग्य है।

8. श्री एम० आर० के० चौधरी ने यह बलपूर्वक दलील दी है कि चूंकि न्यायालय पर नोटिस देने की बाध्यता अधिरोपित की गई है इसलिए वाद सूची में केवियटकर्ता के काउन्सेल का नाम मुद्रित न किए जाने के लिए उसे उत्तरदायी नहीं ठहराया जा सकता। इस दलील में इस तथ्य की उपेक्षा की गई है कि अपीलार्थी पिटीशनर रिट पिटीशन की और प्रकीर्ण पिटीशन की, जिसमें आक्षेपित आदेश का निलम्बन चाहा गया है, प्रतिलिपियों की केवियटकर्ता पर तामील करने में असफल रहा है हालांकि केवियट दायर किए जाने के नोटिस की अपीलार्थी-पिटीशनर पर तामील की जा चुकी है। तथ्य यह शेष रहता है कि केवियटकर्ता को रिट पिटीशन और प्रकीर्ण पिटीशन की सुनवाई के लिए नियत तारीख की कोई जानकारी नहीं थी और उसे तारीख 25-3-83 को आक्षेपित आदेश के निलम्बन के लिए पिटीशनर की प्रार्थना का विरोध करने के लिए कोई अवसर नहीं था। **भारतीय रिजर्व बैंक कर्मचारी संघ** बनाम **भारतीय रिजर्व बैंक**[1] में इस न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित

---

[1] ए० आई० आर० 1981 आन्ध्र प्रदेश 246.

किया है कि धारा 148-क के अधीन न्यायालय का यह कर्त्तव्य है कि वह केवियटकर्ता को वादी-आवेदकों द्वारा फाइल किए जाने के लिए आशयित अन्तर्वर्ती आवेदन में हाजिर होने और उसका विरोध करने के लिए केवियटकर्ता को पर्याप्त रूप से उचित और निश्चित समय प्रदान करे और न्यायालय अन्तर्वर्ती आवेदन की सुनवाई के लिए एक विनिर्दिष्ट तारीख नियत करे।

9. विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि न्यायालय द्वारा केवियटकर्ता को सुनवाई की तारीख की सूचना दिए बिना उनके विरुद्ध व्यादेश का आदेश पारित करना गलत होगा। साथ ही उन्होंने यह मत भी व्यक्त किया है "कि केवियट का न्यायालय द्वारा शक्तियों के प्रयोग पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता। अतः केवियटकर्ता को नोटिस दिए बिना न्यायालय द्वारा पारित आदेश को अकृत नहीं माना जा सकता। यदि कानून सिविल न्यायालय की साधारण शक्तियों को समाप्त करना चाहता है तो विधि की यह सुस्थिर प्रतिपादना है कि ऐसा केवल किसी प्रत्यक्ष विधान द्वारा ही किया जा सकता है जो उस प्रयोजन के लिए अधिनियमित किया गया हो और ऐसा किसी अप्रत्यक्ष विधान के प्रभाव द्वारा नहीं किया जा सकता, मानो ऐसा किसी अप्रत्यक्ष तरीके से किया गया है। सिविल न्यायालय की शक्तियां इतनी अधिक अलंघनीय हैं जो उन्हें किसी दूरस्थ विवक्षा द्वारा भी समाप्त या कम करने नहीं देती। ऐसा कोई भी विनिर्दिष्ट उपबन्ध नहीं है जो न्यायालय द्वारा नोटिस देने संबंधी उपधारा (3) के अधीन उसके आज्ञापक कर्त्तव्य के विरुद्ध की गई किसी कार्यवाही को शून्य घोषित करता हो.........। केवियट दायर किया जाना मात्र ही न्यायालय को आदेश पारित करने संबंधी उसकी शक्ति से वंचित नहीं करेगा भले ही केवियटकर्ता को उस मामले की सुनवाई की तारीख सूचित न की गई हो। चूंकि केवियट दायर करना केवल सुनवाई की तारीख सूचित करने का अधिकार है और उसका किसी मामले की गुणता के आधार पर समुचित आदेश पारित करने के लिए सिविल न्यायालय की शक्तियों को कम करने वाला कोई प्रभाव नहीं है इसलिए इस मामले में पारित आदेश अधिकारिता के बिना नहीं है और वह उस समय तक प्रवर्तनीय है जब तक उसे समुचित कार्यवाहियों में अपास्त नहीं किया जाता।" हम इस दृष्टिकोण के साथ पूरी तरह सहमत हैं।

10. श्री एम० आर० के० चौधरी ने यह दलील देनी चाही है कि न्यायालय द्वारा ऐसे मामले में भी, जहां केवियट की तामील की जा चुकी है, एकपक्षीय पारित किया गया आदेश अकृत नहीं है और इसलिए ऐसे आदेश को अपास्त नहीं किया जाना चाहिए। यह कहना कि कोई आदेश अकृत है इस आधार पर अग्रसर होना है कि वह अस्तित्वहीन है। किन्तु जहां आज्ञापक अपेक्षा, भले

ही वह प्रक्रिया संबंधी हो, की उपेक्षा की जाती है वहां वह आदेश भी, भले ही वह अकृत न हो, निश्चित ही अवैध है और उसे उसी न्यायालय द्वारा अवैधता के आधार पर अपास्त किया जा सकता है। धारा 148-क की उक्त आज्ञापक अपेक्षाओं का अनुपालन किए बिना न्यायालय द्वारा किए गए अंतरिम आदेश को अपास्त किया जाना सही है।

11. इस मामले की न्यायालय के समक्ष उस समय सुनवाई की गई जब तृतीय प्रत्यर्थी-केवियटकर्ता हाजिर नहीं था और वह इस कारण हाजिर नहीं हो सकता था क्योंकि तृतीय प्रत्यर्थी का नाम या उसके काउंसेल का नाम वाद सूची में मुद्रित नहीं था। जब पिटीशनर पर केवियट दायर किए जाने के नोटिस की तामील की गई हो तब पिटीशनर और उसके काउंसेल का यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह मामले की सुनवाई किए जाने और केवियटकर्ता के विरुद्ध कोई अंतरिम आदेश पारित किए जाने से पहले उस तथ्य को न्यायालय की जानकारी में लादे। हमारे मतानुसार, जब कोई केवियट दायर किया जाता है तब यह न केवल न्यायालय का ही बल्कि अपीलार्थी-पिटीशनर और उसके काउंसेल का भी कर्तव्य हो जाता है कि वह न्यायालय की जानकारी में यह बात लादे कि केवियट दायर किया गया है और मामले की एकपक्षीय सुनवाई न की जाए। हालांकि धारा 148-क द्वारा ऐसी कोई बाध्यता अभिव्यक्त रूप से अधिरोपित नहीं की गई है तथापि उपधारा (3) और (4) में अन्तर्विष्ट बातों और उस प्रयोजन के सर्वांगीण आशय को भी ध्यान में रखते हुए उसे आवश्यक रूप से विवक्षित माना जाना चाहिए। यदि वाद सूची में तृतीय प्रत्यर्थी-केवियटकर्ता या उसके काउंसेल का नाम मुद्रित हुआ है तो हमारे मतानुसार यह तृतीय प्रत्यर्थी को पर्याप्त नोटिस कहलाता। किन्तु इसके पश्चात् अपीलार्थी-पिटीशनर या उसके काउंसेल द्वारा तृतीय प्रत्यर्थी-केवियटकर्ता को पिटीशनों और दस्तावेजों की प्रतिलिपियां भी दे दी जानी चाहिए। अतः हम अपने विद्वान बन्धु न्या० रामानुजुलु नायडू के इस मत के साथ सहमत हैं कि निलम्बन का एकपक्षीय अंतरिम आदेश इस आधार पर ही अपास्त किया जा सकता है।

12. चूंकि यह आदेश अकृत नहीं है बल्कि वह केवल अवैध है इसलिए वह उस समय तक प्रवृत्त रहेगा जब तक वह अपास्त नहीं किया जाता। चूंकि आदेश केवियटकर्ता की सुनवाई किए बिना और इस बात पर विचार किए बिना पारित किया गया है कि यह एक ऐसा उचित मामला है जिसमें अंतरिम आदेश जारी रखा जाना चाहिए या नहीं इसलिए ऐसे आदेश को अपास्त किया जाना चाहिए। यह निष्कर्ष निकाले जाने पर भी कि अंतरिम आदेश केवियटकर्ता की सुनवाई किए बिना पारित किया गया है, न्यायालय को इस बात पर विचार

करना चाहिए कि क्या यह एक ऐसा उचित मामला है जिसमें रोक आदेश मंजूर किया जाए या नहीं। अतः हम इस पर विचार करने के लिए अग्रसर होते हैं।

13. तत्पश्चात् विद्वान काउंसेल श्री एम० आर० के० चौधरी ने हमारे समक्ष उस अस्थायी रिक्ति पर, जो 1977 में हुई थी, ग्राम करनाम के रूप में नियुक्त किए जाने के लिए अपीलार्थी के दावे के गुणागुण की पैरवी की है। तृतीय प्रत्यर्थी के विद्वान काउंसेल श्री ई० मनोहर ने हमारे समक्ष यह दलील देने के लिए ऊपर निर्दिष्ट किए गए तथ्य प्रस्तुत किए हैं कि स्वीकृत रूप से तृतीय प्रत्यर्थी-केवियटकर्ता उक्त पद पर नियुक्त किए जाने के लिए पूरी तरह अर्हित है जबकि अपीलार्थी-पिटीशनर ने स्वीकृत रूप से उसे उस पद के लिए पात्र होने के लिए एक परीक्षा उत्तीर्ण नहीं की है। हम समझते हैं कि इस बारे में परस्पर विरोधी दलीलों की गुणता पर विचार करना अनावश्यक है कि क्या तृतीय प्रत्यर्थी उस तारीख को, जब रिक्ति हुई थी, 35 वर्ष की आयु से अधिक का होने के कारण विचार किए जाने के लिए अपात्र है और क्या अपीलार्थी के नाम पर नियुक्ति प्राधिकारी द्वारा इसलिए कतई विचार नहीं किया जा सकता कि वह उस पद को धारण करने के लिए पूरी तरह अर्हित नहीं है। इन सब बातों पर मुख्य रिट पिटीशन में विचार किया जाएगा। रोक-आदेश देना या आक्षेपित आदेश को निलम्बित करना न्यायालय के विवेकाधिकार का विषय है। जब भू-राजस्व आयुक्त ने सापेक्ष योग्यता (गुणता) पर विचार करने के पश्चात् तृतीय प्रत्यर्थी-केवियटकर्ता को उक्त पद को धारण करने हेतु नियुक्त किए जाने के लिए अधिक उपयुक्त पाया है और जब दोनों अभ्यर्थियों को केवल सक्षम प्राधिकारी द्वारा किए गए चयन के आधार पर ही नियुक्त किया जा सकता है तब हम मामले की इन परिस्थितियों में भू-राजस्व आयुक्त के आदेश को निलम्बित करना और उस व्यक्ति को, जो उनके द्वारा चुना नहीं गया है, ग्राम करनाम के कृत्यों का निर्वहन करने के लिए अनुज्ञात करना पूरी तरह असंगत समझते हैं। इस तथ्य के अलावा भी कि निलम्बन का अंतरिम आदेश एकपक्षीय मंजूर नहीं किया जाना चाहिए और वह केवल इस आधार पर ही अपास्त किए जाने योग्य है, हम यह भी अभिनिर्धारित करते हैं कि रिट पिटीशन के निपटारे के लम्बित रहने के दौरान आक्षेपित आदेश को निलम्बित करने के लिए यह एक उचित मामला नहीं है।

14. तदनुसार रिट अपील खारिज की जाती है। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जाता है।

अधिवक्ता की फीस 150 रुपए है।

रिट अपील खारिज की गई।

प्रमोद

नि० प० 1984 : आन्ध्र प्रदेश—15

विशेष सचिव, राजस्थान सरकार (वित्त), जयपुर बनाम वेदकान्तार वेंकटरमण शेषय्यर

[The Special Secretary to Government of Rajasthan (Finance) Jaipur *Vs.* Vedakantara Venkatramana Sheshaiyer]

तारीख 1 अगस्त, 1983

[न्या० रामचन्द्र राजू और जगन्नाथ राव]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908—धारा 21(1)—अधिकारिता के बारे में आक्षेप—अधिकारिता के बारे में आक्षेप को अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा ग्रहण किए जाने से पूर्व यह सिद्ध करना आवश्यक है कि वाद लाने का स्थान गलत रूप से चुने जाने के कारण धारा 21 के अर्थान्तर्गत न्याय की निष्फलता हुई है।

2. संविदा अधिनियम, 1872—धारा 2(ख)—संविदा के निबन्धन—यदि लाटरी टिकट के पीछे छोटे अक्षरों में मुद्रित सामग्री (निबन्धनों) को संविदा किए जाने के समय या उससे पहले क्रेता की जानकारी में नहीं लाया जाता है तो क्रेता उनसे आबद्ध नहीं होगा—चूंकि लाटरी टिकट के पीछे मुद्रित निबन्धन पक्षकारों के बीच संविदा का भाग नहीं है अतः क्रेता उसमें अन्तर्विष्ट अधिकारिता के अपवर्जन सम्बन्धी खण्ड से आबद्ध नहीं है—अतः मूल लाटरी टिकट पेश किए बिना भी क्रेता अपने पुरस्कार (इनाम) की रकम पाने का हकदार है।

प्रत्यर्थी-वादी ने अपीलार्थी प्रतिवादी द्वारा प्रायोजित राजस्थान राज्य लाटरी का एक टिकट एक विक्रेता से खरीदा। विक्रेता ने इस टिकट के प्रतिपर्ण पर अपने हाथ से टिकट खरीददार का नाम लिखा। संयोगवश इस टिकट को प्रथम पुरस्कार प्राप्त हुआ। विक्रेता द्वारा उक्त लाटरी के टिकट को प्रथम पुरस्कार प्राप्त होने की बात बताए जाने पर वादी ने उस लाटरी टिकट के विक्रेता को यह बताया कि उसका वह टिकट उससे कहीं खो गया है और उसने टिकट खोने की बात को मामूली समझ कर उसकी पुलिस थाने में कोई रिपोर्ट नहीं की। अपने लाटरी टिकट को प्रथम पुरस्कार की बात मालूम होने पर वादी-प्रत्यर्थी ने सबसे पहले निकटतम पुलिस थाने में एक रिपोर्ट लिखवाई। तत्पश्चात् उसने राजस्थान राज्य के लाटरी निदेशक को टिकट खो जाने के बारे में सूचना देते हुए प्रथम पुरस्कार की रकम के संदाय की मांग की। लाटरी निदेशक द्वारा

कोई भी उत्तर न दिए जाने पर वादी-प्रत्यर्थी ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन एक रजिस्ट्रीकृत नोटिस भेजा। इस पर भी उत्तर प्राप्त न होने पर वादी-प्रत्यर्थी ने अकिंचन के रूप में एक वाद फाइल किया। निचले न्यायालय ने वादी के पक्ष में वाद डिक्रीत कर दिया और संक्षेप में यह निष्कर्ष निकाला कि वादी प्रश्नगत टिकट का खरीददार है, वास्तव में वादी से उक्त टिकट खो गया है, वादी टिकट पेश किए बिना भी पुरस्कार की रकम पाने का हकदार है, वादी ने यथाअपेक्षित 30 दिन के भीतर दावा पेश किया है और न्यायालय को वाद ग्रहण करने की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता है। अतः विचारण न्यायालय के निर्णय से व्यथित होकर अपीलार्थी प्रतिवादी ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत अपील फाइल की है।

संक्षेप में अपीलार्थियों की ओर से यह दलील दी गई है कि विशाखापत्तनम के न्यायालय को वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं है और वादी को वाद राजस्थान के न्यायालय में फाइल करना चाहिए और चूंकि वादी मूल टिकट पेश करने तथा प्रक्रिया का अनुपालन करने में असफल रहा है इसलिए वह पुरस्कार की रकम पाने का हकदार नहीं है। इसके विपरीत वादी-प्रत्यर्थी की ओर से यह दलील दी गई है कि विशाखपत्तनम के न्यायालय को वाद का विचारण करने की अधिकारिता है और चूंकि वादी सुसंगत टिकट का खरीददार हैं और पुरस्कार की रकम का कोई अन्य दावेदार नहीं है इसलिए वादी लाटरी की रकम पाने का हकदार है, यह कि उसने नियमों में प्रकल्पित प्रक्रिया का अनुपालन किया है और यह कि मूल टिकट पेश करना एक पुरोभाव्य शर्त नहीं हैं।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 21 के अधीन आक्षेप किए जाने को अनुज्ञात किए जाने से पहले यह आवश्यक है कि वाद लाने का स्थान गलत रूप से चुने जाने के कारण न्याय की निष्फलता का मामला सिद्ध किया गया हो। न तो मामले के इस पहलू पर कोई ध्यान ही दिया गया है बल्कि अभिलेख पर ऐसी कोई भी सामग्री मौजूद नहीं है जिससे ऐसे न्याय की निष्फलता का अनुमान लगाया जा सके। निचले न्यायालय में या इस न्यायालय में यह समाधान कराने के लिए कोई भी प्रयास नहीं किया गया है कि वाद लाने के स्थान में अन्तर के कारण किस प्रकार न्याय की निष्फलता हुई है। इस अधिकृत निर्णय को ध्यान में रखते हुए कि "धारा 21 की सभी तीनों शर्तें साथ-साथ पूरी होनी चाहिए", यह साबित करने का कोई प्रयास नहीं किया गया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21 के अर्थान्तर्गत किस प्रकार कोई न्याय

की निष्फलता हुई है। अतः केवल इस आधार पर ही अधिकारिता से संबंधित आक्षेप नामंजूर किए जाने के योग्य है। (पैरा 21, 22 और 23)

उन मामलों, जहां पक्षकार सम्यक् विचार-विमर्श के पश्चात् कोई नियमित संविदा करते हैं और उन मामलों के बीच, जहां कोई एक पक्षकार दूसरे पक्षकार को कतिपय निबन्धनों वाला कोई टिकट या रसीद सौंप देता है, आधारभूत अन्तर है। जब तक संविदा के निबन्धन सम्यक् बात-चीत के पश्चात् तय नहीं किए जाते तब तक उन्हें केवल इस कारण ही आबद्धकर नहीं माना जा सकता कि बाद में एक ऐसा टिकट दिया गया है जिसमें उक्त निबन्धन मौजूद है। इस बात का भी सबूत होना चाहिए कि वे निबन्धन संविदात्मक हैं। उक्त निबन्धनों को संविदा किए जाने के समय या उससे पहले सविदाकारी पक्षकारों की जानकारी में लाया जाना चाहिए। यदि टिकट पर मुद्रित निबन्धन संविदा के भाग नहीं हैं तो उन्हें एकपक्षीय रूप से लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्यथा ऐसा करना मूल संविदा के निबन्धनों में परिवर्तन करने की कोटि में आएगा। टिकट के पीछे की सामग्री छोटे-छोटे अक्षरों में मुद्रित है। साक्ष्य में ऐसी कोई भी बात नहीं है कि टिकट के पीछे मुद्रित सामग्री इस बातचीत का एक अंग है। इसके अतिरिक्त पक्षकारों के बीच कोई अन्य संविदा भी हस्ताक्षरित नहीं की गई है। साक्ष्य में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिससे यह दर्शित होता हो कि टिकट के क्रेता का ध्यान उस समय या उससे पहले उक्त विषयवस्तु की ओर आकर्षित किया गया था जब क्रेता ने लाटरी टिकट खरीदने के लिए एक रुपया दिया था। अतः किसी भी बात से यह संकेत नहीं मिलता कि क्रेता लाटरी टिकट के पीछे जो कुछ भी मुद्रित है उससे स्वयमेव आबद्ध है। यह दर्शित करने के लिए भी कोई सामग्री नहीं है कि क्रेता पहले से ही यह बात जानता था कि टिकट में उल्लिखित निबन्धन और शर्तें संविदा में समाविष्ट समझी जाएंगी। (पैरा 26, 31 और 32)

टिकट के पीछे मुद्रित खण्ड पक्षकारों के बीच संविदा का भाग नहीं है और इसलिए क्रेता अधिकारिता के अपवर्जन सम्बन्धी खण्ड से आवद्ध नही है और उसे केवल राजस्थान के न्यायालयों में ही समावेदन करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता। इस आधार पर भी अधिकारिता से सम्बन्धित आक्षेप को नामंजूर किया जाता है। इस सम्बन्ध में आंग्ल और भारतीय दोनों ही के विनिर्णय एक जैसे हैं और उनमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि दोनों ही पक्षकारों द्वारा ऐसी कोई संविदा नहीं की जाती है तो इस बात का सबूत होना चाहिए कि उन निबन्धनों को, जो कि टिकट के पीछे मुद्रित हैं या जिन्हें अन्यथा अधिसूचित कर दिया गया है, ग्राहक की जानकारी में ला दिए गए हैं

या कम से कम उस बारे में युक्तियुक्त रूप से जो कुछ किया जा सकता है वह टिकट विक्रेताओं द्वारा किया जा चुका है। जितना ही दायित्व के अपवर्जन की कठोरताएं अधिक होंगी उतना ही उक्त खण्ड को क्रेता की जानकारी में लाने की आवश्यकता या वह सब कुछ करने की आवश्यकता अधिक होगी जो उस दिशा में सम्भवतः किया जा सकता है। चाहे कोई भी स्थिति हो, विक्रेता की ओर से प्रयास क्रेता द्वारा संविदा किए जाने के समय या उससे पहले किया जाना चाहिए। इस बारे में क्रेता की पश्चात्‌वर्ती जानकारी कोई सहायता प्रदान नहीं करती। (पैरा 39 और 41)

टिकट पेश न किए जाने को क्रेता के विरुद्ध नहीं माना जा सकता। अंब यह निर्विवाद है कि क्रेता ही वह व्यक्ति है जिसने पुरस्कृत टिकट खरीदा है और किसी भी अन्य व्यक्ति ने इस खोए हुए टिकट के लिए कोई दावा नहीं किया है। अतः विशाखापत्तनम स्थित उप-न्यायालय को वाद ग्रहण करने की अधिकारिता है और भले ही क्रेता मूल टिकट पेश करने में असफल रहा हो किन्तु प्रायोजक और विक्रेता अपने उत्तरदायित्व से बच नहीं सकते। यह दावा स्वीकृत रूप से ड्रा के 30 दिन के भीतर किया गया है और निचले न्यायालय का यह मत ठीक है कि क्रेता के सम्बन्ध में यह माना जाना चाहिए कि उसने यथाविहित दावा करने के लिए प्रकल्पित सभी प्रक्रिया का सम्यक्‌रूपेण अनुसरण किया है। (पैरा 42 और 43)

		पैरा
[1982]	[1982] 2 उम० नि० प० 781=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1683 : पथुम्मा **बनाम** कुंतलान कुट्टी (Pathumma *Vs.* Kuntalan Kutty);	21
[1981]	ए० आई० आर० 1981 मुम्बई 299 : रोड ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन **बनाम** किर्लोस्कर ब्रदर्स लि० (Road Transport Corporation *Vs.* Kirloskar Brothers Limited);	38
[1975]	ए० आई० आर० 1975 आन्ध्र प्रदेश 32 : जी० पी० वेंकट राजू **बनाम** पलुकुरी (G. P. Venkataraju *Vs.* Palukuri);	38
[1968]	ए० आई० आर० 1968 आन्ध्र प्रदेश 331 : सी० सत्यनारायण **बनाम** एल० नरसिम्हा (C. Satyanarayana *Vs.* L. Narasima) का अवलम्ब लिया गया।	38

[1980] ए० आई० आर० 1980 आन्ध्र प्रदेश 30 : ई० आई० डी० पैरी (इंडिया) लि० **बनाम** मैं० सवानी ट्रांसपोर्ट्स [E. I. V. Parry (India) Ltd, *Vs.* M/s. Savani Transports); — 38

[1977] 1977 (1) आन्ध्र वीकली रिपोर्ट 105 : टी० अंजनेयुलू **बनाम** श्रीराम कृष्ण टैक्सटाइल्स (T. Anjaneyulu *Vs.* Sri Rama Krishna Textiles); — 38

[1968] 1968 (1) आन्ध्र वीकली रिपोर्ट 424 : एम० बी० टी० एण्ड कम्पनी मद्रास **बनाम** ए० नरसिम्हा राव (M. B. T. & Company Madras *Vs.* A. Narasimha Rao); — 38

[1962] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 452 : लिबरा माइनिंग वर्क्स **बनाम** बालडोटा ब्रदर्स (Libra Mining Works *Vs.* Baldota Brothers); — 38

से प्रभेद बताया गया।

[1983] 1983 (1) आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 108-112 : जार्ज माईकैल **बनाम** फिनी लाक सीड्स (George Michell *Vs.* Finney Lock Seeds); — 27

[1974] 1974 (3) आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 616-624 : श्रोडर म्युजिक पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड **बनाम** मैकाले (Schroder Music Publishing Company Limited *Vs.* Macaulay); — 27

[1971] 1971 (2) क्वीन्स बैंच 163 : थार्नटन **बनाम** शू लेन पार्किंग लिमिटेड (Thornten *Vs.* Shoe Lane Parking Limited); — 30

[1966] 1966 (1) क्वीन्स बैंच 742 : बरनेट **बनाम** वेस्टमिंस्टर बैंक (Burnett *Vs.* Westminster); — 31

[1964] 1964 (1) आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 430 : मैक कचियन **बनाम** डेविड मैक ब्रायन लि० (Mc. Cutcheen *Vs.* David Mac Brayne Limited); — 28, 29, 41

[1949] 1949 (1) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 127 : ओले 29, 41 बनाम मार्लबरो कोर्ट्स लि० (Olley *Vs.* Marlborough Court Limited)

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1980 की अपील सं० 124.

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 96 के अधीन अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... श्री एम० राजशेखर रेड्डी

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री एस० वैंकट रेड्डी

न्यायालय का निर्णय न्या० जगन्नाथ राव ने दिया।

न्या० राव :

इस अपील में अपीलार्थी प्रतिवादी सं० 1 और 2 हैं। प्रत्यर्थीगण वादी, तृतीय प्रतिवादी और चतुर्थ प्रतिवादी हैं।

2. प्रथम प्रत्यर्थी द्वारा 2,34,750 रु० की धनराशि और पश्चात्-वर्ती ब्याज तथा खर्चों की वसूली के लिए एक वाद फाइल किया गया। निचले न्यायालय ने प्रतिवादी सं० 1 और 2 के विरुद्ध वादी को 2,34,750 रु० की उक्त धनराशि तथा 27-8-74 से, जिस तारीख को वाद फाइल किया गया है, भुगतान किए जाने तक 2,25,000 रु० पर 6% प्रति वर्ष की दर से पश्चात्वर्ती ब्याज और खर्चों का संदाय करने के लिए एक डिक्री प्रदान की है।

3. राजस्थान राज्य ने, जो कि प्रथम प्रतिवादी है, राज्य लाटरी की एक कल्याणकारी स्कीम प्रायोजित की (चलाई) और द्वितीय प्रतिवादी अर्थात् लघु बचत निदेशक को राज्य लाटरी के निदेशक के रूप में नियुक्त किया गया। लाटरी टिकटों का राजस्थान द्वारा एजेन्टों और विक्रेताओं के जरिये भारत के अधिकांश राज्यों में विक्रय किया गया। तृतीय प्रतिवादी अर्थात् बंका पिडीवल्ली आन्ध्र प्रदेश में विजयनगरम् का एक निवासी है और वह श्री वैंकटेश्वर लकी प्राइज सेन्टर विजयनगरम् के नाम और अभिनाम से लाटरी के टिकटों का व्यौहारी है। प्रत्येक टिकट के पीछे प्रत्येक ड्रा के पुरस्कार ढांचे के ब्यौरे और एजेन्टों तथा विक्रेताओं को दिए जाने वाले बोनस के ब्यौरे दिए गए हैं। ऐसा ही नमूने वाला एक टिकट, जिसमें 30 वें ड्रा से सम्बन्धित विशिष्टियां दी गई हैं, वादपत्र के साथ फाइल किया गया है।

4. वादी ने 15-12-72 को निकाले जाने वाले 30वें ड्रा का राजस्थान राज्य लाटरी टिकट सं० डी-840618 श्री डी० सुदर्शन राव से, जो कि वैलकम लाज विशाखापत्तनम-1 में तृतीय प्रतिवादी का एक कर्मचारी है, नवम्बर, 1972 में खरीदा। उक्त सुदर्शन राव ने वादी से एक रुपया लेने के पश्चात् उसने अपना पता देने के लिए कहा और वादी ने अपना पता इस प्रकार दिया : "वी०वी० शेष अय्यर, मकान सं० 25-21-4 छगन्तीवाड़ी स्ट्रीट, विशाखापत्तनम्-1" यह निर्विवाद है कि उक्त विक्रेता ने टिकट के प्रतिपर्ण पर तेलुगू भाषा में उक्त पता लिखा था। तत्पश्चात् उनके अनुसार यह टिकट वादी को दे दिया गया जिसने उसे अपने पर्स में रख लिया।

5. वादी का यह पक्षकथन है कि दिसम्बर, 1972 के पहले सप्ताह के दौरान उसका पर्स पूर्णा मार्केट में खो गया क्योंकि वहां किसी ने उसकी जेब काट ली थी किन्तु वादी ने इस नुकसान पर यह समझकर कोई विशेष ध्यान नहीं दिया कि पर्स में केवल कुछ रेजगारी ही थी और उसे लाटरी टिकट का कोई भी ध्यान नहीं रहा और इसलिए उसने पुलिस रिपोर्ट करने की भी नहीं सोची। किन्तु यह स्वीकृत है कि 18 दिसम्बर, 1972 को तृतीय प्रतिवादी वादी के घर गया था और वादी से मिला था और उससे टिकट के बारे में पूछ-ताछ की थी और अन्ततोगत्वा यह बता दिया गया था कि तृतीय प्रतिवादी के विक्रेता से खरीदे गए वादी के टिकट को 15 दिसम्बर, 1972 को हुए राजस्थान राज्य लाटरी के 30वें ड्रा में 2,50,000 रु० का प्रथम पुरस्कार मिला है। वादी अपने भाग्य से अत्यधिक खुश हुआ किन्तु उसे टिकट खो जाने की चिन्ता हुई। तृतीय प्रतिवादी की सलाह पर वादी ने 18-12-72 को निकटतम पुलिस थाने में एक रिपोर्ट की और उसके बाद उसने द्वितीय प्रतिवादी लाटरी निदेशक को टिकट के खो जाने के बारे में सूचना देते हुए और साथ ही उससे 2,50,000 रु० की पुरस्कार रकम को किसी अन्य व्यक्ति को न देने की प्रार्थना करते हुए एक तार भेजा। यह पुलिस रिपोर्ट प्रदर्श ए-1 से स्पष्ट है जबकि निदेशक को दिया गया तार प्रदर्श ए-2 के रूप में चिन्हित है तत्पश्चात् वादी ने तार की पुष्टि करते हुए और टिकट खो जाने के बारे में ब्यौरे देते हुए 21 दिसम्बर, 1972 निदेशक को एक रजिस्ट्री पत्र, प्रदर्श ए-4 भी भेजा। लाटरी निदेशक को उक्त पत्र 26 दिसम्बर, 1972 को प्राप्त हुआ किन्तु उसका कोई उत्तर नहीं दिया गया। चूंकि अनेक स्मरण पत्र भेजे जाने पर भी कोई उत्तर नहीं मिला इसलिए वादी ने 17-7-73 को वकील का रजिस्ट्री नोटिस भेजा जो कि प्रदर्श ए-6 के रूप में चिन्हित है और उसमें प्रतिवादी 1 और 2 से उक्त नोटिस प्राप्त होने के एक सप्ताह के भीतर पुरस्कार की रकम का संदाय

करने की मांग की गई। द्वितीय प्रतिवादी को उक्त नोटिस 17-7-73 को प्राप्त हो गया किन्तु इसका भी कोई उत्तर नहीं दिया गया। तत्पश्चात् वादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन 5 दिसम्बर, 1973 को एक नोटिस भेजा जो कि प्रदर्श ए-8 के रूप में चिन्हित है। चूंकि वादी को इनको कोई भी अभिस्वीकृति प्राप्त नहीं हुई इसलिए उसने डाक प्राधिकारियों को एक शिकायत भेजी और अन्ततोगत्वा उसने 15-4-74 को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 80 के अधीन एक नया नोटिस भेजा कि प्रदर्श ए-12 के रूप में चिन्हित है और जो कि प्रतिवादी सं० 1 और 2 को भेजा गया है। डाक प्राधिकारियों ने वादी को यह सूचित किया कि वास्तव में तारीख 5 दिसम्बर, 1973 का नोटिस प्रथम प्रतिवादी को 11 दिसम्बर, 1973 को और द्वितीय प्रतिवादी को 10 दिसम्बर, 1973 को परिदत्त किया गया है। चूंकि इनका कोई भी उत्तर प्राप्त नहीं हुआ इसलिए वादी ने अकिंचन रूप में प्रस्तुत वाद फाइल किया है।

6. तृतीय प्रतिवादी (वादी साक्षी-1), जो कि राजस्थान लाटरी के लाटरी टिकटों का व्यौहारी है, ने (वादी से सम्बन्धित) तत्सम्बन्धी प्रतिपर्ण द्वितीय प्रतिवादी के पास भेजा और उसने आगामी ड्रा के लिए 3400 टिकटों की बाबत व्यौहारी को संदेय बोनस की मांग की। द्वितीय प्रतिवादी द्वारा इस मांग का आदर किया गया जिसने स्वीकृत रूप से तृतीय प्रतिवादी को उक्त बोनस के प्रति 31 वें ड्रा के 3400 टिकट भेज दिए। इसी प्रकार द्वितीय प्रतिवादी ने उक्त ड्रा के लिये एजेन्ट के बोनस के प्रति मै० वीरा एजेंसीज, कलकत्ता को एक एम्बेसडर कार दी जो कि 30वें ड्रा में द्वितीय प्रतिवादी का एक एजेन्ट है।

7. प्रतिवादी सं० 1 और 2 द्वारा की गई प्रतिरक्षा संक्षेप में इस प्रकार है: उनके अनुसार वे इस बात से अवगत नहीं हैं कि वादी ने श्री डी० सुदर्शन राव (वादी साक्षी-2) से राजस्थान राज्य लाटरी टिकट सं० डी० 840618 खरीदा है। वे इस बात से भी अवगत नहीं हैं कि उक्त श्री डी० सुदर्शन राव तृतीय प्रतिवादी का एक विक्रेता है उन्हें यह भी नहीं मालूम कि तृतीय प्रतिवादी (वादी साक्षी-1) वैंकटेश्वर लकी प्राइज सैन्टर विजयनगरम के नाम और अभिनाम से टिकट बेच रहा है। वास्तव में उन्होंने वादी से इस तथ्य का सबूत मांगा है कि वह उक्त टिकट का खरीददार है। उन्होंने यह कहा है कि वादी को यह साबित करना होगा कि उसका पता प्रतिपर्ण के पीछे लिखा गया है या यह कि उसका टिकट खो गया है। उन्होंने यह कहने के लिए कि वादी अपने टिकट की सावधानी बरतने के लिए बाध्य है; नियमों का अवलम्ब लिया है। उन्होंने

यह दलील दी है कि वादी द्वारा मूल टिकट पेश किए बिना वह स्कीम के अनुसार, जो तारीख 12-12-68 के राजस्थान राजपत्र में प्रकाशित की गई थी जिसमें तारीख 10-12-68 (प्रदर्श बी-1) की अधिसूचना प्रकाशित की गई थी, लाटरी धन पाने का हकदार नहीं है। उन्होंने यह कहा है कि नियम 12 के अनुसार जब तक पुरस्कार विजेता उपाबद्ध प्ररूप में सम्यक्रूपेण हस्ताक्षरित पुरस्कृत टिकट को ड्रा के 30 दिन के भीतर द्वितीय प्रतिवादी को अभ्यर्पित नहीं करता तब तक वादी को पुरस्कार दिया जाना आवश्यक नहीं है उन्होंने यह भी दलील दी कि स्कीम के अन्तर्गत केवल राजस्थान के न्यायालयों को ही अधिकारिता प्राप्त है और इसलिए विशाखापत्तनम के उप-न्यायालय में वाद चलने योग्य नहीं है।

8. इन अभिवचनों के आधार पर निचले न्यायालय ने चार विवाद्यक विरचित किए हैं। प्रथम विवाद्यक के सम्बन्ध में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वादी प्रश्नगत टिकट का खरीददार है। द्वितीय विवाद्यक के सम्बन्ध में यह निष्कर्ष निकाला गया कि वास्तव में वादी से उक्त टिकट खो गया जैसा कि उसके द्वारा दलील दी गई है। तृतीय विवाद्यक के सम्बन्ध में सुसंगत नियमों के प्रति निर्देश करते हुए निचले न्यायालय ने यह निष्कर्ष निकाला कि वादी टिकट पेश किए बिना भी पुरस्कार का धन प्राप्त करने का हकदार है और वादी ने यथाअपेक्षित 30 दिन के भीतर दावा पेश किया है। परिणामस्वरूप निचले न्यायालय ने वाद डिक्रीत कर दिया। इस बात पर ध्यान दिया जा सकता है कि आरम्भ में अन्तरिम आवेदन सं० 13/76 में, जो कि प्रतिवादी सं० 1 से लेकर 4 द्वारा फाइल किया गया आवेदन है, तारीख 17 फरवरी, 1978 को किए गए एक पृथक आदेश द्वारा निचले न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित करते हुए एक पृथक् आदेश पारित किया कि विशाखापत्तनम के न्यायालय को अकिंचन आवेदन मूल पिटीशन सं० 131/74 को, जिसे तत्पश्चात् मूल वाद सं० 113/78 कहा गया है, ग्रहण करने की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता है।

9. इस अपील में अपीलार्थियों की ओर से विद्वान काउन्सेल श्री एम० राजशेखर रेड्डी ने यह दलील दी कि, विशाखापत्तनम स्थित उप-न्यायालय को वाद का विचारण करने की कोई अधिकारिता नहीं है और वादी को वाद राजस्थान के न्यायालय में फाइल करना चाहिए। उनके द्वारा दी गई दूसरी दलील यह है कि वादी को मूल टिकट पेश करना चाहिए और उसे नियमों में बताई गई दूसरी प्रक्रिया का अनुसरण करना चाहिए और चूंकि वादी टिकट पेश करने में या प्रक्रिया का अनुपालन करने में असफल रहा है इसलिए वह पुरस्कार के धन को पाने का हकदार नहीं है।

10. इसके विपरीत वादी प्रत्यर्थी के विद्वान काउन्सेल श्री एस० वैंकट रेड्डी द्वारा यह दलील दी गई है कि विशाखापत्तनम स्थित उप-न्यायालय को वाद का विचारण करने की राज्यक्षेत्रीय अधिकारिता है। उन्होंने यह भी दलील दी कि यदि एक बार वादी को सुसंगत टिकट का खरीददार मान लिया जाता है और पुरस्कार के धन का कोई अन्य दावेदार नहीं है तो वादी लाटरी रकम प्राप्त करने का हकदार है और यह कि वादी ने नियमों में प्रकल्पित प्रक्रिया का अनुपालन किया है। उनके अनुसार मूल टिकट पेश करना एक पुरोभाव्य शर्त नहीं है।

11. उन दलीलों के आधार पर विचारार्थ निम्नलिखित दो प्रश्न उद्भूत होते हैं :—

(1) क्या विशाखापत्तनम स्थित उप-न्यायालय प्रस्तुत वाद को ग्रहण करने और उसका निपटारा करने के लिए सक्षम है ?

(2) क्या वादी लाटरी टिकट पेश किए बिना भी पुरस्कार का धन प्राप्त करने का हकदार है और क्या उसने अन्यथा धन प्राप्त करने के लिए प्रक्रिया का अनुपालन किया है ?

12. इन प्रश्नों पर विचार करने से पहले हम इस प्रश्न से सम्बन्धित तथ्यों का हवाला देंगे कि क्या वादी राजस्थान राज्य लाटरी के पुरस्कार पाने वाले टिकट सं० डी० 840618 का खरीददार है ?

13. इस बारे में पर्याप्त साक्ष्य मौजूद है और उन सबको ध्यान में रखते हुए अपीलार्थी के विद्वान काउंसेल इस बारे में निष्कर्ष को चुनौती नहीं दे सकते हम यह कह सकते हैं कि तृतीय प्रतिवादी की वादी साक्षी 1 के रूप में परीक्षा की गई है और उसने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि उसके एजेन्ट श्री डी० सुदर्शन राव (वादी साक्षी 2) ने 15-12-72 को निकाले जाने वाले ड्रा का टिकट सं० डी० 840618 वादी को बेचा है और उसके एजेन्ट ने उस टिकट के प्रतिपर्ण पर वादी का नाम और पता लिखा है। वादी साक्षी 1 द्वारा उक्त प्रतिपर्ण का फोटो लेने के पश्चात् उक्त प्रतिपर्ण राजस्थान राज्य लाटरी निदेशक को भेज दिया गया। प्रदर्श एक्स० 1 उस फोटो का नैगेटिव है और प्रदर्श एक्स० 2 उसका प्रिन्ट है। उस फोटो का एनलार्जमैन्ट प्रदर्श एक्स० 3 है और प्रदर्श एक्स० 4 उस एनलार्जमैंट का नेगेटिव है। प्रदर्श एक्स० 2 में वादी का पता इस प्रकार दिया गया है। "वी०वी० शेष अय्यर, 25-21-4, छगन्ती वाड़ी स्ट्रीट, विशाखापत्तनम-1"। तारीख 18 दिसम्बर, 1972 के समाचार पत्र में विजय नगरम् में पुरस्कृत टिकट की संख्या प्रकाशित होने के पश्चात् वादी साक्षी-1

प्रतिपर्ण सहित विशाखापत्तनम् गया और वहां वह वादी के घर गया और उसे सूचित किया। तत्पश्चात् वादी ने द्वितीय प्रतिवादी के पास एक तार भेजा और वादी साक्षी-1 ने भी प्रदर्श एक्स० 5 के अन्तर्गत द्वितीय प्रतिवादी को पत्र लिखा। तारीख 22 दिसम्बर, 1972 को उसने पत्र प्रदर्श एक्स० 6 सहित प्रतिपर्ण द्वितीय प्रतिवादी के पास भेज दिया। वादी साक्षी-1 को पश्चातवर्ती ड्रा के लिए टिकटों के रूप में 3,400 रु० की राशि का विक्रेता का पुरस्कार दे दिया गया और प्रदर्श एक्स०-8 वह वाउचर है जिसमें विक्रेता के पुरस्कार के मद्धे वादी साक्षी 1 को दिए गए टिकट की संख्या दर्शायी गई है। प्रदर्श एक्स० 9 से यह दर्शित होता है कि पुरस्कृत टिकट के लिए ड्रा की तारीख 15 नवम्बर, 1972 से 15 दिसम्बर, 1972 तक के लिए बढ़ा दी गई। उससे यह कहा गया कि वादी से सम्बन्धित है किन्तु उसने इस बात से इनकार किया है। उसने इस बात से भी इन्कार किया है कि वह वादी का मित्र है।

14. वादी साक्षी 2 श्री डी० सुदर्शन राव है, जो कि तृतीय प्रतिवादी द्वारा नियुक्त किया गया है और जिसने वादी को पुरस्कृत टिकट बेचे जाने की बात बताई और यह भी बताया कि उसने टिकट के प्रतिपर्ण पर वादी का पता लिखा है और उसने यह कहा कि प्रदर्श एक्स०-1 वादी को बेचे गए टिकट के प्रतिपर्ण के फोटो का एनलार्जमैन्ट है और मूल प्रतिपर्ण उसके हस्तलेख में है।

15. वादी साक्षी 3 वादी है और उसने इस बारे में अभिसाक्ष्य दिया है कि किस प्रकार उसने वादी साक्षी 2 से टिकट खरीदा है और किस प्रकार वादी साक्षी 2 ने टिकट के प्रतिपर्ण पर अर्थात् प्रदर्श एक्स०-1 और एक्स०-2 के मूल पर उसका पता लिखा है। उसने वे परिस्थितियां भी बताई हैं जिनमें उसका टिकट खो गया और उसने पक्षकारों के बीच किए गए अन्य पत्र-व्यवहार का भी हवाला दिया है।

16. सहायक लघु बचत निदेशक राजस्थान की प्रतिवादी साक्षी 1 के रूप में परीक्षा की गई और उसने अपनी प्रतिपरीक्षा में यह स्वीकार किया है कि किसी भी अन्य व्यक्ति ने विवादग्रस्त पुरस्कृत टिकट के लिए पुरस्कार का दावा नहीं किया है।

17. उक्त साक्ष्य के आधार पर निचले न्यायालय द्वारा यह निष्कर्ष निकाला जाना सही है कि यह साबित करने के लिए दस्तावेजी साक्ष्य मौजूद है कि वादी ने ही प्रश्नगत पुरस्कृत टिकट खरीदा है। जैसा कि कहा जा चुका है, अपीलार्थियों के विद्वान् काउन्सेल के लिए निचले न्यायालय के उक्त निष्कर्ष को चुनौती देना कठिन है।

18. सबसे पहले हम अधिकारिता के प्रश्न पर विचार करेंगे। वादी ने वादपत्र के साथ लाटरी टिकट का एक नमूना फाइल किया है जिसे प्रदर्श ए-18 के रूप में चिन्हित किया गया है। इस टिकट के ऊपर के भाग पर ड्रा की संख्या, ड्रा की तारीख, पूर्व संदत्त रकम (एक रुपया), पुरस्कार की रकम और टिकट संख्या लिखी हुई है और उस पर राजस्थान सरकार के वित्त विभाग के विशेष सचिव के मुद्रित हस्ताक्षर हैं। इस टिकट के पृष्ठ भाग पर छोटे अक्षरों में पुरस्कार के ब्यौरों का उल्लेख किया गया है और तत्पश्चात् उसमें इस प्रकार कहा गया है :—

(1) पुरस्कार विजेताओं को पुरस्कार केवल टिकटों को लघु बचत और राज्य लाटरी निदेशक, राजस्थान, जयपुर के पास ड्रा की तारीख से 30 दिन के भीतर जमा करने पर दिए जाएंगे।

(2) पुरस्कृत टिकटों की संख्या राजस्थान राजपत्र में और प्रमुख समाचारपत्रों में प्रकाशित की जाएगी।

(3) 500 रु० और उससे अधिक के पुरस्कृत टिकटों के पुरस्कार की रकम में से स्थानीय कर और अन्तिम सेवाओं के लिए 10% काटा जाएगा।

(4) प्रतिपर्ण धारकों/एजेंटों को, जिनकी एजेन्सी से 500 रु० या उससे अधिक के पुरस्कृत टिकट वेचे गए, निम्नानुसार बोनस दिया जाएगा।

(5) विवाद की दशा में निदेशक का विनिश्चय अंतिम और आबद्धकर होगा।

(6) लाटरी की विधिक अधिकारिता केवल जयपुर में होगी।

(7) पुरस्कृत टिकट को एक से अधिक पुरस्कार नहीं दिया जाएगा बशर्ते दैनिक ड्रा के पुरस्कारों की दशा में ऐसे टिकट को एक से अधिक पुरस्कार अनुज्ञेय हों।

प्रदर्श ए-18 तीसवें ड्रा के टिकट से सम्बन्धित है।

19. अपीलार्थियों द्वारा यह दलील देने के लिए कि केवल राजस्थान न्यायालयों को ही अधिकारिता प्राप्त होगी, मुद्रित सामग्री के खण्ड 6 और अधिसूचना प्रदर्श बी-1 के खण्ड 17 का अवलम्ब लिया गया है जो इसी आशय का है।

20. प्रत्यर्थी वादी के विद्वान् काउन्सेल ने सबसे पहले यह दलील दी है कि यह आक्षेप उस समय तक अनुज्ञेय नहीं है जब तक प्रतिवादी 1 और 2 यह दर्शित नहीं करते कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21 उक्त शब्दावली के अर्थान्तिर्गत न्याय की निष्फलता हुई है ।

21. पथुम्मा बनाम कुन्तोलानकुट्टी[1] में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21(1) के उपबन्धों पर विचार किया था । माननीय न्यायाधीशों ने सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21(1) के प्रति निर्देश किया जो इस प्रकार है :—

> "21. (1) वाद लाने के स्थान के सम्बन्ध में कोई भी आक्षेप किसी भी अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा तब तक अनुज्ञात नहीं किया जाएगा जब तक कि ऐसा आक्षेप प्रथम बार के न्यायालय में यथासम्भव सर्वप्रथम अवसर पर और उन सभी मामलों में जिनमें विवाद्यक स्थिर किए जाते हैं ऐसे स्थिरीकरण के समय या उसके पहले न किया गया हो और जब तक कि उसके परिणामस्वरूप न्याय की निष्फलता न हुई हो ।"

तत्पश्चात् उन्होंने धारा 21 में अपेक्षित तीन शर्तों के प्रति निर्देश किया हैं जो इस प्रकार हैं :—

> "वाद लाने के स्थान के सम्बन्ध में आक्षेप को किसी अपील या पुनरीक्षण न्यायालय द्वारा ग्रहण किए जाने के लिए निम्नलिखित तीन शर्तों का पूरा होना अनिवार्य है ।
>
> (1) आक्षेप प्रथम बार के न्यायालय में किया गया हो ।
>
> (2) वह यथासम्भव सर्वप्रथम अवसर पर और उन सभी मामलों में जिनमें विवाद्यक स्थिर किए जाते हैं ऐसे स्थिरीकरण के समय या उसके पहले किया गया हो ।
>
> (3) उसके परिणामस्वरूप निरन्तर न्याय की निष्फलता हुई हो ।
> ये सभी तीनों शर्तें साथ-साथ पूरी होनी चाहिए ।
>
> अब प्रस्तुत मामले में शर्त सं० (1) और (2) निस्संदेह पूरी तरह सन्तुष्ट हो गई है किन्तु निचले दोनों अपील न्यायालयों द्वारा आक्षेप किए जाने को अनुज्ञात किए जाने से पहले यह आवश्यक है कि |

---

[1] [1982] 2 उम० नि० प० 781=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1683.

वाद लाने का स्थान गलत रूप से चुने जाने के कारण न्याय की निष्फलता का मामला सिद्ध किया गया हो। न केवल मामले के इस पहलू पर कोई ध्यान ही दिया गया है बल्कि अभिलेख में ऐसी कोई भी सामग्री मौजूद नहीं है जिससे ऐसे न्याय की निष्फलता का अनुमान लगाया जा सके।"

22. प्रस्तुत मामले में भी, जैसा कि उच्चतम न्यायालय के समक्ष मामले में है, शर्त संख्या 1 और 2 निस्सन्देह पूरी तरह सन्तुष्ट हो गई हैं किन्तु अन्तरिम आवेदन सं० 13/76 का निपटारा करने के दौरान निचले न्यायालय में या इस न्यायालय में हमारा यह समाधान कराने के लिए कोई भी प्रयास नहीं किया गया है कि वाद लेने के स्थान में अन्तर के कारण किस प्रकार न्याय की निष्फलता हुई है।

23. उच्चतम न्यायालय के इस अधिकृत निर्णय को ध्यान में रखते हुए कि "ये सभी तीनों शर्तें साथ-साथ पूरी होनी चाहिए," हमारा यह मत है कि अपीलार्थियों ने यह साबित करने का कोई प्रयास नहीं किया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 21 की उक्त पदावली के अर्थान्तर्गत किस प्रकार कोई न्याय की निष्फलता हुई है। अतः केवल इस आधार पर ही अधिकारिता से सम्बन्धित आक्षेप नामंजूर किए जाने योग्य है।

24. मामले के उपर्युक्त पहलू के अलावा जो महत्त्वपूर्ण प्रश्न विनिश्चित किया जाना है वह इस बात से सम्बन्धित है कि वादी के सम्बन्ध में यह किस प्रकार कहा जा सकता है कि वह टिकट के पीछे जो कुछ भी मुद्रित है उससे आबद्ध है।

25. उच्च न्यायालयों के विनिर्णयों का उल्लेख करने से पहले जो हमारे समक्ष उद्धृत किए गए हैं, हम इस प्रश्न के कुछ महत्त्वपूर्ण तथ्यों के प्रति भी निर्देश करना चाहेंगे।

26. उन मामलों, जहां पक्षकार सम्यक् विचार-विमर्श के पश्चात् कोई नियमित संविदा करते हैं और उन मामलों के बीच, जहां कोई एक पक्षकार दूसरे पक्षकार को कतिपय निबन्धनों वाला कोई टिकट या रसीद सौंप देता है, आधारभूत अन्तर है।

27. **श्रोडर म्युजिक पब्लिशिंग कम्पनी लिमिटेड बनाम मैकाले**[1] में लार्ड डिपलॉक ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है कि :—

---

[1] 1974 (3) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 616-624.

"19 वीं शताब्दी में टिकटों के मामले इस बात के सम्भवतः प्रथम उदाहरण हैं। इस प्रकार के मानक प्ररूप की संविदा के निबन्धन उनके पक्षकारों के बीच आपसी बातचीत के विषय या कमजोर पक्ष के हितों का प्रतिनिधित्व करने वाले किसी संगठन द्वारा अनुमोदन किए जाने के अधीन नहीं हैं। ये निबन्धन उस पक्षकार द्वारा तय किए जाते हैं जिसकी सौदेबाजी करने की शक्ति, चाहे उसका अकेला प्रयोग किया जाए या उसका उन अन्य शक्तियों के साथ-साथ प्रयोग किया जाए जो वैसा ही माल या सेवाएं प्रदान करते हैं, उसे यह कहने के लिए समर्थ बनाते हैं कि यदि तुम ऐसा माल या सेवाएं चाहते हो तो वे केवल इन निबन्धनों पर ही उपलब्ध हो सकेंगी। चाहे इन्हें लो या न लो।"

जार्ज माईकेल बनाम **फिनी लाक सीड्स**[1] में लार्ड डेनिंग एम० आर० ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है :—

"किन्तु आधुनिक विकास को ध्यान में रखते हुए इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि इन शर्तों के सम्बन्ध में किसी प्रतिनिधिक निकायों के बीच कभी कोई बातचीत नहीं हुई है। उनके सम्बन्ध में नेशनल फारमर्स यूनियन द्वारा भी कोई बातचीत नहीं की गई है।"

और अन्ततोगत्वा पृ० 117 पर इस प्रकार कहा गया है :—

"इस खण्ड के सम्बन्ध में समान सौदेबाजी की शक्ति रखने वाले व्यक्तियों के बीच कभी कोई बातचीत नहीं हुई। इस खण्ड को किसानों के साथ कोई भी बातचीत किए बिना ही बीज व्यापारियों द्वारा अपने बीजकों में अन्तःस्थापित किया गया है।"

और इस खण्ड को आबद्धकर नहीं माना गया। चिट्टी आन कान्ट्रैक्ट्स (जिल्द 1) (24वां संस्करण 1977) पृ० 313 पैरा 677 पर इस प्रकार कहा गया है :—

"दस्तावेज इस प्रकार का होना चाहिए जिसे या तो उसे पाने वाला पक्षकार जानता हो या जिसके सम्बन्ध में कोई युक्तिमान व्यक्ति यह प्रत्याशा कर सके कि उसमें ऐसी संविदात्मक शर्तें होंगी। इस प्रकार चैकबुक [बरनेट **बनाम** वेस्ट मिंस्टर बैंक, 1966 (1) क्वीन्स बैंच 742], डैक कुर्सी का टिकट [चैपिलटन **बनाम** बरी यू० डी०सी०, 1940 (1) किंग्स बैंच 532], सार्वजनिक स्नानगृह पर तैनात व्यक्ति

---

[1] 1983 (1) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 108-112.

को सौंपा गया टिकट [टेलर बनाम ग्लारगीयर्ड कार्पोरेशन, ए० आई० आर० 1952 एस०सी० 440], और किसी स्वचालित मशीन द्वारा दिया गया पार्किंग टिकट [थार्नटन बनाम शूलेन पार्किंग लि०, 1971 (2) क्वीन्स बेंच 163] को इस प्रकार के मामले माना गया है जहां यह पूरी तरह युक्तियुक्त होगा कि उसको पाने वाला पक्षकार इस बात की धारणा करे कि उस लेख में कोई भी शर्त नहीं दी गई है और वह उसे बिना पढ़े ही अपनी जेब में रख ले। [पार्कर बनाम साउथ ईस्टर्न रेलवे, 1877 (2) सी० पी० डी० 414-422]।"

28. मैक कचियन बनाम डैविड मैक ब्रायन लि०[1] में हाउस आफ लार्ड्स ने प्रतिवादियों के कार्यालय के बाहर और अन्दर छोटे अक्षरों में प्रदर्शित जोखिम पत्र पर और साथ ही उस जोखिम पत्र पर भी विचार किया था जिस पर श्री मैक स्पोरन द्वारा कोई हस्ताक्षर नहीं किए गए थे। उन्होंने उसे एक रसीद दी थी जिसमें यह कहा गया था कि "सभी माल इस नोटिस में उपवर्णित शर्तों के अधीन ले जाया गया है।" यह अभिनिर्धारित किया गया कि यह कोई संविदात्मक दस्तावेज नहीं है। लार्ड डेवलिन ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है :—

> "इस प्रकार के दस्तावेज समझे जाने की बात तो दूर वह पढ़े जाने के लिए भी आशयित नहीं है। उस पर हस्ताक्षर का वास्तव में उतना ही महत्त्व है जितना हाथ मिलाए जाने का है जो कि किसी सौदेबाजी की औपचारिक समाप्ति का संकेत है।"

और पुनः टिकट वाले मामलों के प्रति निर्देश करते हुए इस प्रकार कहा गया है :—

> "इन मामलों में प्रश्न यह है कि क्या यात्री ने टिकट को एक संविदात्मक दस्तावेज के रूप में स्वीकार किया है या नहीं। यदि वह यह जानता है कि उसमें किसी प्रकार की कुछ शर्तें हैं तो उसे यह जानना चाहिए कि वह संविदात्मक है।"

लार्ड डेवलिन ने इस प्रकार कहा है कि "किसी एक व्यक्ति के लिए कोई एक और किसी संगठन के लिए कोई अलग विधि नहीं हो सकती है जो मुद्रित दस्तावेजों को जारी कर सकता है, कि उन मामलों में अपीलार्थी यह कह सकता है कि ये निबन्धन अनुचित और अयुक्तियुक्त हैं यह कि वह उनके लिए कभी भी

---

[1] 1964 (1) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 430.

स्वेच्छया राजी नहीं हुआ, यह कि उनको पढ़ना या समझना असम्भव है और यह कि यदि उसे बदलने के लिए उससे कोई बातचीत करने का प्रयत्न किया हो तो उन मामलों में प्रत्यर्थी ने उसे सुना नहीं होगा और तत्पश्चात् इस प्रकार मत व्यक्त किया गया है :—

> "अब दूसरे पक्ष को अपना कार्य करना है.........जो बीवी को सुहावै वही मियां को भावै। वह दोनों पक्षों के लिए तब तक एक अनुपयोगी बना रहेगा जब तक विधानमण्डल, यदि न्यायालय ऐसा न कर सके, यह सुनिश्चित करने के लिए हस्तक्षेप नहीं करता है कि जब ऐसी परिस्थितियों में संविदा की जाती हैं जिनमें ऐसे निबन्धनों के सम्बन्ध में मुक्त बातचीत किए जाने की कोई गुंजाइश नहीं है, तो वे ऐसे निबन्धनों के आधार पर की जाती है जो स्पष्ट, ऋजु और युक्ति-युक्त हैं और जो इस प्रकार स्वतन्त्र रूप से तय की गई हैं।"

आधुनिक प्रवृत्ति यह है कि ऐसी बातचीत का सबूत और अवसर कमजोर पक्षकार पर निबन्धनों की कठोरताओं को अधिरोपित करने की एक आवश्यक शर्त है।

29. जिस समय पक्षकार का ध्यान इन निबन्धनों की ओर आकर्षित किया जाता है वह भी उतना ही महत्त्वपूर्ण है। **मैक कचियन** बनाम **डेविड मैक ब्रायन लि०**[1] के अंतिम उल्लखित मामले में हाऊस आफ लार्ड्स ने इस प्रकार अभिनिर्धारित किया है कि रसीद केवल मौखिक संविदा समाप्त करने के पश्चात् ही दी गई है और इसलिए वह आबद्धकर नहीं है। **ओले** बनाम **मार्लबरो कोर्ट लि०**[2] के मामले में एक पति और पत्नी एक होटल में अतिथियों के रूप में पहुंचे और उन्होंने एक सप्ताह तक के भोजन और निवास के लिए अग्रिम में भुगतान किया। जब वे उन्हें आबंटित किए गए बेडरूम में पहुंचे तब उन्होंने उसकी एक दीवार पर नोटिस देखा कि इसके मालिक किसी भी खोई या चोरी गई वस्तु के लिए तब तक जिम्मेदार नहीं होंगे जब तक वह सुरक्षित अभिरक्षा के लिए उसकी व्यवस्थापिका को नहीं सौंपी जाती। तत्पश्चात् पत्नी ने बेडरूम का अपने आप बन्द होने वाला दरवाजा बन्द कर दिया, नीचे गई और उसने स्वागत कार्यालय में टंगे बोर्ड पर चाभी टांग दी। उसकी अनुपस्थिति में किसी अन्य व्यक्ति द्वारा यह चाभी सदोष ले ली गई जिसने बेडरूम खोला और उसकी सम्पत्ति चुरा ली। प्रतिवादियों ने इस नोटिस को संविदा में सम्मिलित

---

[1] 1964 (1) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 430.

[2] 1949 (1) आल इंग्लैण्ड ला रिपोर्ट्स 127.

करना चाहा । किन्तु अपील न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह संविदा अतिथियों के अपने कमरे में जाने से पहले ही समाप्त हो चुकी है और इसलिए किसी भी पश्चात्वर्ती नोटिस का उनके अधिकारों पर प्रभाव नहीं पड़ सकता ।

30. थार्नटन बनाम शू लेन पार्किंग लिमिटेड[1] के मामले में लार्ड डेनिंग ने इस प्रकार मत व्यक्त किया है :—

> "ग्राहक इन निबन्धनों से उस समय आबद्ध होता है जब वे समय रहते हुए पर्याप्त रूप से उसकी जानकारी में ला दिए जाएं । किन्तु अन्यथा वह उनसे आबद्ध नहीं है । इस प्रकार का टिकट ऐसे धन के लिए एक वाउचर या रसीद से अधिक और कुछ नहीं है जिस धन का उन निबन्धनों पर भुगतान किया गया है जिन्हें टिकट दिए जाने से पहले पेश और और स्वीकार किया गया है । तत्पश्चात् संविदा समाप्त हो गई और उसे स्वयं टिकट पर मुद्रित किसी शब्द से परिवर्तन नहीं किया जा सकता, " और आगे

न्या० मेगॉ ने उसी मामले में इस प्रकार मत व्यक्त किया है :—

> "इस बात का कुछ स्पष्ट संकेत होना चाहिए जिससे कोई सामान्य बुद्धि वाला व्यक्ति भी संविदा करने के समय या संविदा करने से पहले यह महसूस कर सके कि इस प्रकार का निबन्धन उसमें सम्मिलित किया जाना ईप्सित है ।"

यदि ऐसा नहीं किया गया तो वह प्रतिवादियों की ओर से तत्पश्चात् एकपक्षीय रूप से टिकट के मुद्रित निबन्धनों को सम्मिलित करते हुए संविदा के निबन्धनों को परिवर्तित करने का प्रयत्न करने की कोटि में आएगा । (बरनेट बनाम वेस्टमिंस्टर बैंक[2] देखिए ।)

31. उपर्युक्त विनिर्णयों से यह निष्कर्ष निकलता है कि जब तक संविदा के निबन्धन सम्यक् बातचीत के पश्चात् तय नहीं किए जाते तब तक उन्हें केवल इस कारण ही आबद्धकर नहीं माना जा सकता कि बाद में एक ऐसा टिकट दिया गया है जिसमें उक्त निबन्धन मौजूद हैं । इस बात का भी सबूत होना चाहिए कि वे निबन्धन संविदात्मक हैं । उक्त निबन्धनों को संविदा किए

---

[1] 1971 (2) क्वीन्स बैंच 1<3.

[2] 1966 (1) क्वीन्स बैंच 742.

जाने के समय या उससे पहले संविदाकारी पक्षकारों की जानकारी में लाया जाना चाहिए । यदि टिकट पर मुद्रित निबन्धन, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया जा चुका है, संविदा के भाग नहीं हैं तो उन्हें एकपक्षीय रूप से लागू नहीं किया जा सकता क्योंकि अन्यथा ऐसा करना मूल संविदा के निबन्धनों में परिवर्तन करने की कोटि में आएगा ।

32. इन सिद्धान्तों को ध्यान में रखते हुए अब हम इस मामले के तथ्यों की परीक्षा करते हैं । वादी ने वादी साक्षी 2 से एक टिकट खरीदा जो कि एजेन्ट वादी साक्षी 1 (तृतीय प्रतिवादी) विक्रेता है । जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है इस टिकट के पीछे की सामग्री छोटे-छोटे अक्षरों में मुद्रित है । प्रतिवादी साक्षी 1, सहायक लघु बचत निदेशक राजस्थान के साक्ष्य में या वादी साक्षी 1 या वादी साक्षी 2 के इस साक्ष्य में ऐसी कोई भी बात नहीं है कि टिकट के पीछे मुद्रित सामग्री इस बात-चीत का एक अंग है । इसके अतिरिक्त पक्षकारों के बीच कोई अन्य संविदा भी हस्ताक्षरित नहीं की गई है । साक्ष्य में ऐसी कोई भी बात नहीं है जिससे यह दर्शित होता हो कि वादी का ध्यान उस समय या उससे पहले उक्त विषयवस्तु की ओर आकर्षित किया गया था जब वादी ने लाटरी टिकट खरीदने के लिए एक रुपया दिया था । अतः किसी भी बात से यह संकेत नहीं मिलता कि वादी लाटरी टिकट के पीछे जो कुछ भी मुद्रित है उससे स्वयमेव आबद्ध है । राजस्थान राजपत्र में प्रकाशित तारीख 12-12-1968 की अधिसूचना प्रदर्श बी-1 के खण्ड 5 (3) में टिकट के पीछे वाली मुद्रित सामग्री 'अन्य विवरण' के रूप में वर्णित की गई है और उन्हें संविदा की शर्तें नहीं बताया गया है । साथ ही इस मामले में यह दर्शित करने के लिए भी कोई सामग्री पेश नहीं की गई है कि वादी पहले से ही यह बात जानता था कि प्रदर्श बी-1 में उल्लिखित निबन्धन और शर्तें संविदा में समाविष्ट समझी जाएंगी ।

33. अपीलार्थियों के विद्वान काउन्सेल ने (वादी साक्षी 3) की प्रति-परीक्षा में दिए गए इस आशय के बयान का अधिक अवलम्ब लिया है कि उसने जो टिकट खरीदा है उसमें ऐसे नियम और विनियम भी मौजूद है जो कि प्रदर्श ए-18 के पीछे दिए गए हैं और यह कि उसने उनका परिशीलन कर लिया है। वादी साक्षी 3 ने भी यह कहा है कि वह यह बात जानता था कि पक्षकार इन नियमों और विनियमों से आबद्ध हैं । तथापि पुनः परीक्षा में उसने यह कहा है कि प्रदर्श बी-1 अधिसूचना की कोई भी प्रतिलिपि उसे उस समय नहीं दी गई जब उसने वादगत टिकट खरीदा था ।

34. हमारा यह मत है कि वादी साक्षी 1 (तृतीय प्रतिवादी) या उसके

विक्रेता वादी 2 या सहायक लघु बचत निदेशक राजस्थान प्रतिवादी साक्षी 1 के साक्ष्य में ऐसी कोई बात नहीं है जिसमें यह कहा गया हो कि टिकट के पीछे मुद्रित सामग्री या प्रदर्श बी-1 की परिवर्णित सामग्री बातचीत करके की गई किसी संविदा का भाग है। यह दर्शित करने के लिए भी कोई सामग्री नहीं है कि वादी का ध्यान टिकट के पीछे मुद्रित सामग्री की ओर या प्रदर्श बी 1 में दी गई शर्तों की ओर उस समय या उससे पहले आकर्षित किया गया था जब यह संविदा की गई थी। निस्सन्देह वादी साक्षी 3 के रूप में वादी का साक्ष्य यह है कि उसने मुद्रित सामग्री का परिशीलन किया है किन्तु उक्त परिशीलन के सम्बन्ध में न तो यह कहा गया है और न यह स्वीकार किया गया है कि वह उस समय या उससे पहले किया गया है जब उसने वादी साक्षी 2 के साथ यह संविदा की थी। वादी साक्षी 2 विक्रेता ने भी यह नहीं कहा कि वादी को संविदा के समय या संविदा के समय के लगभग टिकट के पीछे मुद्रित निबन्धनों को पढ़वा दिया गया था। अतः इससे यह अर्थ निकालना कठिन है कि वादी साक्षी-3 का यह कथन कोई स्वीकृति है कि उसने संविदा किए जाने से पहले या एक रुपये के टिकट धन का संदाय किए जाने से पहले टिकट के पीछे मुद्रित सामग्री को पढ़ लिया है।

35. उक्त विनिश्चित मामले में समय के तत्व को अत्यधिक महत्त्व दिया गया है और प्रतिवादियों के पक्ष में ऐसी कोई उपधारणा करना कठिन है कि वादी ने वादी साक्षी 2 को धन का संदाय किए जाने से पहले और टिकट प्राप्त करने के पहले टिकट के पीछे की ओर मुद्रित सामग्री का परिशीलन कर लिया है या यह कि प्रतिवादियों ने वह सब कुछ किया है जो संविदा किए जाने के पहले वादियों का ध्यान आकर्षित करने के लिए आवश्यक है। एक पूर्वतर मामले में डैनिंग एल० जे० ने इस प्रकार कहा है :—

> "मैंने यह देखा है कि किसी नोटिस को पर्याप्त माने जाने से पहले कुछ खण्डों को दस्तावेज पर लाल स्याही में मुद्रित किया जाना आवश्यक होगा।"
>
> [देखिए जे० स्परलिंग लि० **बनाम** ब्राडशॉ 1956 (2) आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 121]

36. अतः हमारा यह मत है कि वादी साक्षी 3 के रूप में वादी का साक्ष्य प्रतिवादियों की कोई सहायता नहीं कर सकता। अतः वादी के साक्ष्य के आधार पर अपीलार्थी के काउन्सेल द्वारा दी गई दलील नामंजूर की जाती है।

37. अब हम अधिकारिता के अपवर्जन से सम्बन्धित उन मामलों का

उल्लेख करेंगे जो दोनों पक्षों के विद्वान् काउन्सेल द्वारा हमारे समक्ष उद्धृत किए गए हैं।

38. सी० सत्यनारायण बनाम एल० नरसिम्हा[1] के मामले में तत्कालीन न्या० गोपाल राव एकबोटे ने उस मामले में प्रतिवादियों द्वारा लिखे गए एक ऐसे बिल पर विचार किया था जिसके शीर्ष पर 'मद्रास अधिकारिता के अधीन' शब्द मुद्रित थे। यह अभिनिर्धारित किया गया कि उक्त शब्दों को तब तक संविदा का भाग नहीं माना जा सकता जब तक उनका वादी द्वारा करार न किया गया हो और विद्वान न्यायाधीश ने **लिबरा माइनिंग वर्क्स** बनाम **बालडोटा ब्रदर्स**[2] में खण्ड न्यायपीठ के मामले को एक ऐसे मामले के रूप में प्रभेदित किया है जिसमें अधिकारिता के अपवर्जन से सम्बन्धित खण्ड को एक द्विपक्षीय संविदा में समाविष्ट किया गया है। इसी प्रकार **जी०पी० वेंकट राजू** बनाम **पलुकुरी**[3] में न्या०ए०वी० कृष्ण राव एक ऐसे बिल के सम्बन्ध में विचार कर रहे थे जिसमें 'कलकत्ता अधिकारिता के अधीन' शब्द लिखे हुए थे और विद्वान न्यायाधीश ने उक्त शर्त की यह मानते हुए यह उपेक्षा की थी कि उसके सम्बन्ध में वादी ने अपनी सहमति नहीं दी है। विद्वान न्यायाधीश ने ऊपर उल्लिखित खण्ड न्यायपीठ के मामले के साथ भी इस आधार पर प्रभेद किया है कि वह एक द्विपक्षीय संविदा से संबंधित है। उन्होंने **एम०बी०टी० एण्ड कम्पनी, मद्रास** बनाम **ए० नरसिम्हा राव**[4] के प्रति भी निर्देश किया है जिसे न्या० बसी रेड्डी द्वारा विनिश्चित किया गया है जिसमें उन्होंने एक अग्रेषण पत्र पर विचार किया है। एकमात्र जिस प्रश्न पर बहस की गई है वह यह है कि क्या अपवर्जन संबंधी खण्ड से संविदा अधिनियम की धारा 28 का अतिक्रमण होता है और न्या० कृष्ण राव ने इस मामले के साथ भी इस आधार पर प्रभेद किया है कि वह केवल धारा 28 से ही सम्बद्ध है। हमारी राय में ससम्मान तत्कालीन न्या० गोपाल राव एकबोटे और न्या० ए० वी० कृष्णराव द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण सही हैं और तथ्यतः **लिबरा माइनिंग वर्क्स** बनाम **बालडोटा ब्रदर्स**[2] में खण्ड न्यायपीठ ने द्विपक्षीय संविदाओं और एकपक्षीय मुद्रित प्ररूपों के बीच सुस्पष्ट अन्तर किया है और यह अभिनिर्धारित किया है कि द्विपक्षीय संविदा के मामले में अपवर्जनकारी खण्ड आबद्धकर हैं। **टी० अंजनेयुलू** बनाम **श्रीराम कृष्ण**

---

[1] ए० आई० आर० 1968 आन्ध्र प्रदेश 331.
[2] ए० आई० आर० 1962 आन्ध्र प्रदेश 452.
[3] ए० आई० आर० 1975 आन्ध्र प्रदेश 32.
[4] 1968 (1) आन्ध्र वीकली रिपोर्ट 424.

टैक्सटाइल्स[1] का मामला, जो तत्कालीन न्या० कुप्पूस्वामी द्वारा विनिश्चित किया गया है, प्रतिवादियों द्वारा जारी किए गए एक पत्र से सम्बन्धित है और अधिकारिता के अपवर्जन को संविदा अधिनियम की धारा 28 के विरुद्ध नहीं माना गया था। द्विपक्षीय संविदा और एक बिल के बीच अन्तर पर स्पष्टतः विद्वान न्यायाधीश के समक्ष कोई बहस नहीं की गई। चूंकि वाद किसी बिल पर आधारित नहीं है वह विजयवाड़ा में किए गए लेखाओं के पश्चात्‌वर्ती स्थिरीकरण से सम्बन्धित है इसलिए यह अभिनिर्धारित किया गया कि इस पर भी विजयवाड़ा स्थित न्यायालय को अधिकारिता है। अतः उक्त मामला भी स्पष्ट रूप से प्रभेदनीय है। अपीलार्थियों की ओर से विद्वान काउन्सेल ने **ई०आई०डी० पैरी (इन्डिया) लि० बनाम मै० सबानी ट्रान्सपोर्ट्स**[2] का अवलम्ब लिया है जिसको न्या० गंगाधर राव द्वारा विनिश्चित किया गया है। उक्त मामले में अधिकारिता के अपवर्जन का खण्ड वे-बिल (मार्गपत्रक) में मौजूद है और **जी०पी० वैंकटराजू बनाम पलुकुरी**[3] के विनिश्चय को उद्धृत किया गया है किन्तु विद्वान न्यायाधीश ने उक्त विनिर्णय पर कोई विचार नहीं किया। यह अभिनिर्धारित किया गया कि अधिकारिता के अपवर्जन सम्बन्धी खण्ड संविदा अधिनियम की धारा 28 के विरुद्ध नहीं है। द्विपक्षीय संविदा और ऐसी संविदा के बीच अन्तर पर, जहां ऐसा खण्ड केवल वे-बिल में मुद्रित हो, विद्वान न्यायाधीश के समक्ष विचार-विमर्श नहीं किया गया। अतः उक्त विनिश्चय अपीलार्थियों की कोई सहायता नहीं करता। हमने जो दृष्टिकोण अपनाया है वह भी **रोड ट्रांसपोर्ट कार्पोरेशन बनाम किर्लोस्कर ब्रदर्स लि०**[4] में बम्बई उच्च न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ द्वारा अपनाये गए दृष्टिकोण के अनुरूप है।

39. अतः हमारा मत है कि टिकट के पीछे या प्रदर्श बी 1 में मुद्रित **खण्ड पक्षकारों के बीच संविदा का भाग नहीं है और इसलिए वादी अधिकारिता के अपवर्जन सम्बन्धी खण्ड से आबद्ध नहीं है और उसे केवल राजस्थान के न्यायालयों में ही समावेदन करने के लिए विवश नहीं किया जा सकता है। इस आधार पर भी अधिकारिता से सम्बन्धित आक्षेप को नामंजूर किया जाता है।**

40. तत्पश्चात् हम वादी द्वारा मूल टिकट पेश न किए जाने

[1] 1977 (1) आन्ध्र वीकली रिपोर्ट 105.
[2] ए० आई० आर० 1980 आन्ध्र प्रदेश 30.
[3] ए० आई० आर० 1975 आन्ध्र प्रदेश 32.
[4] ए० आई० आर० 1981 मुम्बई 299.

के बारे में दूसरे प्रश्न पर विचार करते हैं। यह पुनः टिकट के पीछे छोटे शब्दों में मुद्रित खण्ड से और साथ ही प्रदर्श बी-1 में अन्तर्विष्ट स्कीम के खण्ड 12 से सम्बन्धित हैं जिसमें यह उपबंध किया गया है कि :—

> "यदि पुरस्कृत टिकट उपर्युक्त अवधि (अर्थात् ड्रा की तारीख से 30 दिन) के भीतर पेश नहीं किया जाता तो कोई भी पुरस्कार धन नहीं दिया जाएगा।"

41. प्रथम प्रश्न के सम्बन्ध में निर्णयज विधि के सम्बन्ध में हमारा विचार-विमर्श इस प्रश्न पर भी सुसंगत है और उसको दोहराने की कोई आवश्यकता नहीं है। इस बात का कोई सबूत नहीं है कि उपर्युक्त खण्ड, जो टिकट के पीछे या प्रदर्श बी 2 में अन्तर्विष्ट है, बातचीत द्वारा की गई संविदा का परिणाम है। इस सम्बन्ध में आंग्ल और भारतीय दोनों ही के विनिर्णय एक जैसे हैं और उनमें यह अभिनिर्धारित किया गया है कि यदि दोनों ही पक्षकारों द्वारा ऐसी कोई संविदा नहीं की जाती है तो इस बात का सबूत होना चाहिए कि उन निबन्धनों को, जो कि टिकट के पीछे मुद्रित या जिन्हें अन्यथा अधिसूचित कर दिया गया है, ग्राहक की जानकारी में ला दिए गए हैं या कम-से-कम उस बारे में युक्तियुक्त रूप से जो कुछ किया जा सकता है वह प्रतिवादियों द्वारा किया जा चुका है। जितना ही दायित्व के अपवर्जन की कठोरताएं अधिक होंगी उतना ही उक्त खण्ड को वादी की जानकारी में लाने की आवश्यकता या वह सब कुछ करने की आवश्यकता अधिक होगी जो उस दिशा में सम्भवतः किया जा सकता है। चाहे कोई भी स्थिति हो, प्रतिवादियों की ओर से उक्त प्रयास वादी द्वारा संविदा किए जाने के समय या उससे पहले किया जाना चाहिए। इस बारे में वादी की पश्चात्वर्ती जानकारी कोई सहायता प्रदान नहीं करती—जैसा कि ओले के मामले[1] में और बर्नेट के मामले[2] में कहा गया है।

42. हम यह पहले ही अभिनिर्धारित कर चुके हैं कि इस मामले में साक्ष्य से उपर्युक्त अपेक्षाओं की पूर्ति नहीं होती। वादी की प्रतिपरीक्षा में दिए गए साक्ष्य के सम्बन्ध में प्रश्न सं० 1 के अन्तर्गत जो कुछ भी हमने कहा है वह इस प्रश्न के सम्बन्ध में भी पूरी तरह लागू होता है और उसे दोहराए जाने की आवश्यकता नहीं है और इसलिए इससे अपीलार्थी को कोई सहायता नहीं मिल सकती। अतः टिकट पेश न किए जाने को वादी के विरुद्ध नहीं माना जा सकता जैसा कि पहले ही कहा जा चुका है, अब यह निर्विवाद है कि वादी ही वह

---

[1] 1949 (1) आल इंग्लैण्ड लॉ रिपोर्ट्स 127.

[2] 1966 (1) क्वीन्स बेंच 742.

व्यक्ति है जिसने पुरस्कृत टिकट खरीदा है और किसी भी अन्य व्यक्ति ने इस खोए हुए टिकट के लिए कोई दावा नहीं किया है।

43. अतः हमारा यह मत है कि विशाखापत्तनम स्थित उप न्यायालय को इस वाद को ग्रहण करने की अधिकारिता है और भले ही वादी मूल टिकट पेश करने में असफल रहा हो किन्तु प्रतिवादी 1 और 2 अपने उत्तरदायित्व से बच नही सकते। यह दावा स्वीकृत रूप से ड्रा के 30 दिन के भीतर किया गया हैं और हम निचले न्यायालय के इस मत से सहमत हैं कि वादी के सम्बन्ध में यह माना जाना चाहिए कि उसने यथाविहित दावा करने के लिए प्रकल्पित सभी प्रक्रिया का सम्यक्रूपेण अनुसरण किया है।

44. अतः हमारे समक्ष अपीलार्थियों द्वारा दी गई मुख्य दलीलें नामंजूर की जाती हैं। एकमात्र जो अन्य दलील दी गई है वह आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 194-ख के अधीन आय-कर की स्रोत पर ही कटौती किए जाने के सम्बन्ध में है। वादी के विद्वान काउन्सेल ने उचित रूप से यह कहा है कि पुरस्कार रकम के सम्बन्ध में उसके मुवक्किल का अधिकार निश्चित ही आय-कर अधिनियम के उपबधों के अधीन होगा। चूंकि निचले न्यायालय ने नोटिस की तारीख से लेकर वाद की तारीख तक 9,750 रु० की राशि का ब्याज दिलाया है इसलिए विगत ब्याज के लिए उक्त डिक्री के सम्बन्ध में कोई भी विधिमान्य आक्षेप नहीं किया जा सकता और न वाद की तारीख से अतिरिक्त ब्याज दिए जाने के सम्बन्ध में ही कोई विधिमान्य आक्षेप किया जा सकता है।

45. अपील के लम्बित रहने के दौरान इस धन को बैंक में विनिहित करने के लिए निदेश दिया गया था। बैंक द्वारा संदेय ब्याज की दर हमारे द्वारा दिए गए 6% प्रति वर्ष की ब्याज की दर से कुछ ही अधिक है। अतः डिक्री का अनुपालन करने के पश्चात् ऐसे विनिधान की शेष रकम प्रथम प्रतिवादी को वापस लौटा दी जायेगी। चूंकि प्रथम प्रतिवादी द्वारा आय-कर का संदाय करने में समय लगना सम्भाव्य है, जिसका सम्बन्धित आयकर अधिकारियों द्वारा अवधारण किया जाएगा, अतः हम प्रतिवादी सं० 1 और 2 को हमारे निर्णय के पश्चात् आज से तीन मास के भीतर प्रतिवादी को 60,000 रु० का संदाय करने का निदेश देना न्यायसंगत समझते हैं।

46. परिणामतः मुख्य विवाद्यकों के सम्बन्ध में निष्कर्षों की पुष्टि करते हुए निचले न्यायालय द्वारा पारित डिक्री को नीचे वर्णित किए गए अनुसार और

अपील को भागत: मंजूर करते हुए निम्नानुसार उपान्तरित किया जाता है। निचले न्यायालय द्वारा पारित डिक्री के स्थान पर निम्नलिखित डिक्री की जाती है :—

(1) कि वादी प्रतिवादी सं० 1 और 2 से पुरस्कार रकम की शेष राशि और ब्याज के रूप में.के 2,34,750 रु० (2,25,000+9,750 रु०) पाने का हकदार है जिसमें भारत सरकार के आय-कर विभाग द्वारा 2,25,000 रु० पर संदेय आय-कर की आय-कर अधिनियम और 19 दिसम्बर, 1972 को प्रवृत्त नियमों के उपबंधों के अनुसार कटौती की जाएगी और वादी का उक्त कर की कटौती करने के पश्चात् शेष रकम संदत्त की जाएगी।

(2) वादी 27-8-74 से संदाय की तारीख तक आय-कर की कटौती करने के पश्चात् 2,25,000 रु० की शेष रकम पर 6% प्रति वर्ष का ब्याज पाने का हकदार होगा।

(3) रजिस्ट्रार को इस न्यायालय के अन्तर्वर्ती आदेशों के अधीन किए गए सावधि निक्षेप को भुनाने और वादी को आय-कर के प्रति कटौती की जाने वाली रकम के अवधारण के लंबित रहने के दौरान डिक्री की भागतः तुष्टि के प्रति आज से तीन मास के भीतर 60,000 रु० का संदाय करने और ब्याज सहित शेष रकम को एक वर्ष की आरम्भिक अवधि तक के लिए पुनः विनिहित करन का निदेश दिया जाता है।

47. आय-कर के संदाय सबूत पर यथाउपान्तरित डिक्री के निबन्धनों के अनुसार संदेय शेष रकम वादी को संदत्त कर दी जाएगी और ऐसे निक्षेप की शेष रकम और उस पर ब्याज प्रथम प्रतिवादी को संदत्त किया जाएगा।

48. टिकट खोने के संदर्भ में वादी के आचरण को ध्यान में रखते हुए हम प्रत्येक पक्षकार को आद्योपान्त अपना-अपना खर्च स्वयं वहन करने का निदेश देना न्यायसंगत और उचित समझते हैं। प्रतिवादी 1 और 2 वादपत्र पर सरकार को शोध्य न्यायालय फीस का संदाय करेंगे।

अपील खारिज की गई।

प्रमोद

नि० प० 1984 : आन्ध्र प्रदेश—40

जन्यती धर्मतेजा (डा०) बनाम सचिव, भारत सरकार वित्त मंत्रालय, नई दिल्ली और अन्य

(Dr. Jayanti Dharma Teja *Vs*. The Secretary, Govt. of India, Ministry of Finance, New Delhi and others)

तारीख 13 सितम्बर, 1983

[न्या० श्रीमती अमरेश्वरी और न्या० सीताराम रेड्डी]

1. आय-कर अधिनियम, 1961—धारा 230(1)—कर समाशोधन प्रमाणपत्र (टैक्स क्लीयरेंस सर्टिफिकेट)—यदि आय-कर अधिकारी द्वारा यह राय बनाए जाने के लिए पर्याप्त सामग्री मौजूद है कि निर्धारिती की भारत वापस आने की कोई संभावना नहीं है तो वह निर्धारिती को भारत छोड़कर जाने से पहले धारा 230(1) के अधीन यथाअपेक्षित आय-कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने के लिए आग्रह कर सकेगा—किसी व्यक्ति या निर्धारिती का भारत वापस आने का कोई आशय है या नहीं, इसका अनुमान परिस्थितियों से लगाया जाएगा।

2. संविधान, 1950—अनुच्छेद 21 तथा अनुच्छेद 14 और 19 सपठित आय-कर अधिनियम, 1961, धारा 230—'दैहिक स्वाधीनता' पद की अर्थव्याप्ति—'दैहिक स्वाधीनता' पद के अन्तर्गत विदेश जाने का अधिकार भी आता है—यदि धारा 230(2) के अधीन वायुयान आदि के स्वामी को अमुक यात्री या निर्धारिती को यात्रा टिकट देने से पहले उससे कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने का आग्रह करने के लिए नोटिस देने के पश्चात् उस निर्धारिती को सुनवाई का अवसर दे दिया जाता है तो निर्धारिती से कर समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने के लिए आग्रह की कार्यवाही मनमानेपन के दोष से ग्रस्त नहीं होगी और उससे अनुच्छेद 14, 19 तथा 21 का अतिक्रमण नहीं होगा।

3. पास-पोर्ट अधिनियम, 1967—धारा 2(ख)—यदि पासपोर्ट अधिकारी द्वारा निर्धारिती को नया पासपोर्ट दे दिया जाता है तो वह उक्त पासपोर्ट के आधार पर यात्रा तो कर सकेगा किन्तु ऐसा नया पासपोर्ट निर्धारिती को उसके कर-संबंधी दायित्वों से मुक्ति प्रदान नहीं करेगा।

पिटीशनर भारत का एक नागरिक है। उसकी 'जयन्ती' नामक पोत परिवहन कम्पनी का राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। कम्पनी के कामकाज के

बारे में शिकायतें प्राप्त होने पर उसके विरुद्ध अभियोजन शुरु किया गया जिसकी समाप्ति दोषसिद्धि में हुई। प्रत्यर्पण कार्यवाहियों के अन्तर्गत पिटीशनर को भारत लाया गया जहां राजक्षमा प्राप्त होने तक उसने अपना दण्डादेश भोगा। इसी दौरान उसके विरुद्ध आय-कर और धन-कर अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां की गई और विदेश में रहने के कारण उसको भेजे गए नोटिस या तो बिना तामील के या फिर लेने से इनकार कर दिए जाने के कारण वापस आ जाने पर एकपक्षीय कर-निर्धारण कर दिया गया। इस बीच में उसके भारत में आने की सूचना मिलने पर आय-कर अधिकारी ने पैन अमरीकन एयरवेज को एक नोटिस भेजकर पिटीशनर को हवाई टिकट न देने या वायुयान से उस समय तक यात्रा न करने देने के लिए आग्रह किया जब तक वह आय-कर अधिनियम की धारा 230(1) के अधीन यथाअपेक्षित आय-कर समाशोधन प्रमाणपत्र प्रस्तुत नहीं कर देता और पिटीशनर से अपनी जंगम तथा स्थावर सम्पत्ति का ब्यौरा देने के लिए भी एक नोटिस भेजा। अतः इस नोटिस से व्यथित होकर पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया है।

पिटीशनर की ओर से विद्वान् काउन्सेल द्वारा संक्षेप में यह दलील दी गई है कि (1) आय-कर अधिनियम की धारा 230 (1) के अधीन अधिकारिता का आधार आय-कर अधिकारी द्वारा यह राय बनाए जाने पर निर्भर करता है कि निर्धारिती का भारत लौटना संभव नहीं है और चूंकि ऐसी राय किसी भी सामग्री पर आधारित नहीं है इसलिए यह आधार ही दूषित है, (2) उसके विरुद्ध कार्यवाही मनमानी है और उससे संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है क्योंकि आक्षेपित नोटिस जारी करने से पहले पिटीशनर को कोई भी नोटिस नहीं दिया गया है, (3) चूंकि निर्धारिती की कोई भी आस्तियां नहीं हैं इसीलिए समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने पर जोर देना उसके विदेश जाने के अधिकार पर एक अयुक्तियुक्त निर्बन्धन है जिससे संविधान के अनुच्छेद 19 और 21 का अतिक्रमण होता है और (4) इस कार्यवाही का किसी भी आधार पर समर्थन नहीं होता।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

आयकर अधिनियम, 1961 की धारा 230 की उपधारा (1) के अधीन ऐसा कोई व्यक्ति जो भारत में अधिवासी नहीं है या जिसका अपने प्रस्थान के समय भारत में अधिवासी होने पर भी आय-कर प्राधिकारी की राय में भारत में वापस आने का कोई आशय नहीं है, तब तक देश नहीं छोड़ेगा जब तक वह इस आशय का एक प्रमाणपत्र प्राप्त नहीं कर लेता कि यहां

उल्लिखित किसी भी कर सम्बन्धी अधिनियमितियों के अधीन उसका कोई दायित्व नहीं है या उससे ऐसे करों का जो उससे संदेय है या संदेय हो सकते हैं, संदाय के लिए समाधानप्रद इन्तजाम कर दिया है। इससे इस बाबत कोई संदेह नहीं रहता कि यदि आय-कर अधिकारी की राय में किसी व्यक्ति के भारत वापस आने की सम्भावना नहीं है तो वह कर समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त किए बिना देश नहीं छोड़ सकता। ऐसे व्यक्ति की दशा में जो भारत में अधिवासी नहीं है यदि वह सक्षम प्राधिकारी का समाधान करा देता है तो वह छूट का प्रमाणपत्र अभिप्राप्त कर सकता है। अत: इससे यह प्रतीत होता है कि समाशोधन प्रमाणपत्र या छूट के प्रमाणपत्र के लिए आग्रह आय-कर प्राधिकारी की इस राय पर आधारित है कि उस व्यक्ति के भारत वापस आने की सम्भावना नहीं है यह निस्सन्देह सही है कि धारा 230 (1) में 'आयकर प्राधिकारी की राय में' शब्दों से प्राधिकारी का व्यक्तिपरक समाधान अभिप्रेत है। किन्तु व्यक्तिपरक समाधान किसी वस्तुनिष्ठ रीति में किया जाना चाहिए अर्थात् ऐसी सामग्री हो जिसके आधार पर युक्तियुक्त रूप से ऐसी राय बनाई जा सके क्योंकि उससे देश से बाहर जाने के अधिकार पर प्रभाव पड़ता है जो कि स्वतन्त्रता के अधिकार का एक अंग है। ये तथ्य आय-कर प्राधिकारी द्वारा यह राय बनाए जाने का समर्थन करने के लिए पर्याप्त हैं कि निर्धारिती को भारत वापस लौटने की सम्भावना नहीं है क्या किसी व्यक्ति का कोई आशय है या नहीं, एक ऐसा विषय है जिसका परिस्थितियों से अनुमान लगाया जाता है। (पैरा 6)

अब यह बात सुस्थिर हो गई है कि संविधान के अनुच्छेद 21 में 'दैहिक स्वाधीनता' पद काफी व्यापक आयाम वाला है और उसके अन्तर्गत विदेश जाने के अधिकार सहित अनेक प्रकार के अधिकार आते हैं। किन्तु अनुच्छेद 21 इस संरक्षण को सीमित करता है। वह विदेश जाने के अधिकार को कार्यपालिक कार्यवाही से, जिसका किसी विधि द्वारा समर्थन नहीं होता, संरक्षण प्रदान करता है इस प्रकार किसी व्यक्ति को विदेश जाने के इस अधिकार से तब तक वंचित नहीं किया जा सकता जब तक सक्षम विधान-मण्डल द्वारा कोई ऐसी विधि न बनाई गई हो जिसमें उसे इस प्रकार वंचित किए जाने के लिए प्रक्रिया विहित की गई हो और ऐसा निस्सन्देह इस परिसीमा के अधीन रहते हुए कि प्रक्रिया मनमानी, अनुचित या अयुक्तियुक्त नहीं हो सकती, ऐसी प्रक्रिया के अनुसार ही वंचित किया गया हो। भारतीय आय-कर अधिनियम, संसद द्वारा बनाई गई विधि है। यह अधिनियम प्रत्येक व्यक्ति से भारत से बाहर जाने के पूर्व एक कर समाशोधन प्रमाणपत्र या छूट का प्रमाणपत्र लेने की अपेक्षा करता है

यदि आय-कर अधिकारी की राय में उसके वापस लौटने की सम्भावना नहीं है। समाशोधन प्रमाणपत्र और छूट का प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने के लिए व्यापक प्रक्रिया विहित की गई है। धारा 231 को किसी भी प्रकार से अनुच्छेद 21 का अतिवर्तन करने वाली नहीं माना जा सकता। (पैरा 7)

प्रश्न यह उठता है कि क्या पक्षकार समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त करने के लिए कहे जाने से पूर्व नोटिस पाने का हकदार है। यह कहना सही नहीं है कि चूंकि समाशोधन प्रमाणपत्र के लिए आग्रह केवल इस आधार पर किया गया है कि उस व्यक्ति का भारत लौटने का कोई आशय नहीं है अतः प्राधिकारियों द्वारा ऐसा निष्कर्ष निकाले जाने के पूर्व नोटिस अवश्य दिया जाना चाहिए क्योंकि अन्यथा अनुच्छेद 19 के अधीन गारन्टीकृत विदेश जाने के उसके अधिकार का अतिलंघन होता है और इसी प्रकार नोटिस के अभाव से भारत के संविधान के अनुच्छेद 14 का भी अतिक्रमण होता है। अनुच्छेद 21 में अनुध्यात प्रक्रिया से निस्सन्देह युक्तियुक्तता की कसौटी की पूर्ति होनी चाहिए। अतः इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि धारा 230 (1) में यह राय बनाये जाने के पूर्व, जिससे आय-कर प्राधिकारी समाशोधन प्रमाणपत्र के लिए आग्रह कर सके, किसी पक्षकार को नोटिस दिए जाने का उपबंध नहीं किया गया है किन्तु न्यायालय का यह मत है कि नोटिस अवश्य दिया जाना चाहिए। अब यह विधि सुस्थिर है कि उन प्रशासनिक कार्यवाहियों में भी जिनमें सिविल परिणाम अन्तर्वलित हों, नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत लागू होता है। अतः धारा 230 (1) को लागू करने के लिए नोटिस आवश्यक है क्योंकि समाशोधन प्रमाणपत्र अभिप्राप्त किए जाने के लिए आग्रह से विदेश जाने के लिए पासपोर्ट धारक पर भले ही दूरस्थ रूप से किन्तु अवश्य प्रभाव पड़ता है। किन्तु यदि पूर्व नोटिस दिया जाता तो धारा 230 (1) का उद्देश्य ही विफल हो जाएगा क्योंकि संबंधित व्यक्ति धारा का अनुपालन किए बिना ही देश छोड़ कर जा सकता है। इस दलील में पर्याप्त बल दिखाई देता है कि यदि पूर्व नोटिस दिया जाता है तो इस धारा के अनुपयोगी हो जाने की पूरी-पूरी सम्भावना है। यदि धारा 230 की परीक्षा की जाती है तो स्थिति इस प्रकार है। प्राधिकारी को सबसे पहले यह राय बनानी चाहिए कि उस व्यक्ति की भारत लौटने की सम्भावना नहीं है। जब वह यह राय बना ले तब उसे किसी जलयान या वायुयान के स्वामी या चार्टरकर्ता को यह सूचित करना होगा कि वह ऐसे व्यक्तियों को उनका यह समाधान किए बिना कि ऐसे व्यक्ति के पास अधिनियम की धारा 230 (1) के अधीन यथाअपेक्षित प्रमाणपत्र है, ऐसे जलयान या वायुयान से यात्रा करने के लिए अनुज्ञात न करें। ऐसी जानकारी दिए जाने पर भी यदि स्वामी या

चार्टरकर्ता उस व्यक्ति को वायुयान से यात्रा करने के लिए अनुज्ञात कर देता है तो धारा 230 की उपधारा (3) के अधीन उनके सम्बन्ध में यह समझा जाएगा कि वे व्यतिक्रम के आधार पर निर्धारिती हैं और ऐसे चार्टरकर्ता या स्वामी से वह रकम वसूल की जा सकती है। उपधारा (2) के अधीन नोटिस किसी वायुयान के स्वामी को केवल ऐसे व्यक्तियों की बाबत दिया जा सकता है जिसको उपधारा (1) लागू होती है अर्थात् ऐसे व्यक्ति की बाबत जिसका प्राधिकारी की राय में भारत वापस लौटने का कोई आशय नहीं है। यदि उक्त राय बनाए जाने के पूर्व नोटिस दिए जाने पर जोर दिया जाता है तो उस व्यक्ति के भारत छोड़ने की पूरी-पूरी सम्भावना है क्योंकि उस प्रक्रम पर वायुयान के स्वामी को समाशोधन प्रमाणपत्र के लिए आग्रह किए जाने का कोई अवसर नहीं मिल सकेगा। अतः उपधारा (2) को प्रथमतः वायुयान के स्वामी को नोटिस देकर प्रभावी रूप से कार्यान्वित किया जा सकता है। किन्तु इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि सम्बन्धित व्यक्ति को कोई भी नोटिस दिए जाने की आवश्यकता नहीं है वायुयान के स्वामी को धारा 230 (2) के अधीन नोटिस दिए जाने के पश्चात् सुनवाई के अवसर से नैसर्गिक न्याय के आदेश की पूर्ति हो जाएगी। भले ही धारा 230 (1) में ऐसा नोटिस दिए जाने का उपबंध न किया गया हो किन्तु विवक्षा द्वारा ऐसा पढ़ा जा सकता है और यदि धारा 230 (2) के अधीन नोटिस के पश्चात् पक्षकार को सुनवाई का अवसर दिया जाता है तो ऐसी कार्यवाही मनमानेपन के दोष से ग्रस्त नहीं होगी। सुनवाई विनिश्चयोत्तर उपचारी सुनवाई भी हो सकती है धारा 230 (2) के अधीन नोटिस जारी किए जाने के पश्चात् भी सम्बन्धित व्यक्ति को धारा 230 के अधीन इस बात का नोटिस दिया जा सकता है कि उससे समाशोधन प्रमाणपत्र प्रस्तुत करने के लिए क्यों न कहा जाए और यदि प्राधिकारी का समाधान हो जाता है तो वह धारा 230 (2) के अधीन जारी किए गए नोटिस को प्रतिसंहृत कर सकता है। (पैरा 8)

पासपोर्ट अधिकारी द्वारा भेजे गए पत्र में केवल यह कहा गया है कि निर्धारिती को नया पासपोर्ट दिया जाता है और वह उक्त पासपोर्ट के आधार पर यात्रा कर सकता है। इससे यह अभिप्रेत नहीं है कि उसे सभी कर-दायित्वों से मुक्ति प्रदान कर दी गई है। पासपोर्ट उसको लागू होने वाली विभिन्न अधिनियमितियों के अधीन अपनी सभी बाध्यताओं को पूरे किए जाने के अधीन है। वह केवल पासपोर्ट को परिबद्ध करते हुए अधिरोपित की गई पूर्वतर निर्योग्यताओं को ही दूर करता है तथा इससे अधिक और कुछ नहीं करता। (पैरा 11)

पैरा

[1979] [1979] 1 उम० नि० प० 243=ए० आई० आर० 1978 एस० सी० 597 : मेनका गांधी बनाम भारत संघ (Maneka Gandhi *Vs.* Union of India) निर्दिष्ट किया गया। 7

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का रिट पिटीशन सं० 4838.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री पी० रामचन्द्र रेड्डी और एस० वेंकट रेड्डी

प्रत्यर्थी सं० 1 की ओर से ... श्री के० जगन्नाथ राव केन्द्रीय सरकार (स्थायी काउन्सेल)

प्रत्यर्थी सं० 2 से 4 की ओर से ... श्री एम० सूर्यनारायण मूर्ति आयकर विभाग के स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय न्या० श्रीमती अमरेश्वरी ने दिया।

न्या० अमरेश्वरी :

अब इस मामले में हमारे समक्ष डा० धर्मतेजा हैं जो कि पोत परिवहन उद्योग में एक जानी-मानी हस्ती हैं। उन्होंने आय-कर अधिकारी नई दिल्ली द्वारा पैन अमरीकन एयरवेज को डा० धर्मतेजा से आय-कर अधिनियम की धारा 230 (1) के अधीन यथाअपेक्षित आय-कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने के लिए आग्रह किए बिना उनकी कोई भी यात्रा बुक न करने या हवाई टिकट न देने के लिए जारी किए गए नोटिस को असांविधानिक और मनमाना होने के आधार पर प्रश्नगत किया है।

2. डा० तेजा भारत के एक नागरिक हैं। उन्होंने सन् 1961-62 में 'जयन्ती' नाम से एक पोत परिवहन कम्पनी प्रारम्भ की थी और उक्त कम्पनी में उनके 75% साधारण शेयर थे। वे इसके सभापति थे। कम्पनी का 1966-67 में प्रबन्ध ग्रहण कर लिया गया और उसका भारत सरकार द्वारा 1971-72 के दौरान राष्ट्रीयकरण कर दिया गया। इस समय के दौरान कपनी के काम-काज के बारे में कई शिकायतें की गईं जिसके सम्बन्ध में जांच आरम्भ की गई और डा० तेजा के विरुद्ध अभियोजन शुरु किया गया जिसकी समाप्ति दोषसिद्धि में हुई और अन्ततोगत्वा डा० तेजा को प्रत्यर्पण कार्यवाहियों के अधीन भारत लाया गया जहां उन्होंने राज क्षमा के अन्तर्गत अपने छोड़े जाने के समय

तक दण्डादेश भोगा 1 अक्तूबर, 1966 में उनका पारपत्र भी परिबद्ध कर लिया गया। जब यह सब कुछ चल रहा था, तब कर प्राधिकारियों ने आय-कर और धन-कर अधिनियम के अधीन कार्यवाहियां भी आरम्भ कर दीं। कर-निर्धारण भी एकपक्षीय कर दिए गए क्योंकि देश के बाहर डा० तेजा के ज्ञात पते पर भेजे गए नोटिस या तो बिना तामील के लौट आए या उन्हें लेने से इनकार कर दिया गया। इन कर निर्धारणों के अनुसार डा० तेजा पर कई करोड़ रुपये का कर बकाया था। राष्ट्रीयकृत किए जाने के परिणामस्वरूप पोत परिवहन कम्पनी में डा० तेजा द्वारा धारित शेयरों के प्रति प्रतिकर के रूप में दी गई 3,72,90,000 रु० की धनराशि समायोजित कर दी गई। इस पर भी उन पर कई करोड़ की एक बड़ी धनराशि बकाया थी। किन्तु एक या अन्य कारण से डा० तेजा के पारपत्र को परिबद्ध करने के लिए जारी किया गया परिपत्र वापस ले लिया गया और उन्हें 12-5-77 को नया पारपत्र दे दिया गया। एक बार पुनः डा० तेजा जुलाई, 1977 में देश छोड़ कर चले गए। इस पर संसद् में और संसद् के बाहर दोनों ही जगह काफी शोर-शराबा हुआ और पिटीशनर के अनुसार भारत के तत्कालीन प्रधानमन्त्री श्री मोरारजी देसाई ने एक संसद् सदस्य द्वारा पूछे गए प्रश्न के उत्तर में संसद् में यह बयान दिया कि "डा० तेजा जब भी चाहें भारत आने और भारत से जाने के लिए स्वतंत्र हैं और जितने वे हमारे देश के प्रति ऋणी हैं उससे कहीं अधिक देश उनके प्रति ऋणी है।" पांच वर्ष की अवधि के पश्चात् डा० तेजा फरवरी, 1983 में भारत आए। उनके आने की जानकारी मिलने पर आय-कर अधिकारी नई दिल्ली ने 8 मार्च, 1983 को पैन अमरीकन एयरवेज को एक नोटिस भेजा जिसमें पैन अमरीकन एयरवेज को यह सूचित किया गया कि डा० तेजा पर आय-कर और धन-कर का बहुत अधिक बकाया है और यदि वे भारत से बाहर जाने के लिए हवाई टिकट लेने के लिए आते हैं तो उनसे आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 230(1) के अधीन यथा अपेक्षित आय-कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने के लिए आग्रह किया जाए। पैन अमरीकन एयरवेज को यह और सूचित किया गया कि यदि वे अपने वायुयान से उनकी यात्रा के लिए डा० तेजा को टिकट देना चाहते हैं तो उन्हें आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 230 की उपधारा (2) के अधीन व्यतिक्रम के आधार पर 13,53,58,763 रु० की रकम के लिए एक निर्धारिती के रूप में माना जाएगा। तारीख 19 अप्रैल, 1983 को कर वसूली अधिकारी नई दिल्ली ने डा० तेजा को उनके विरुद्ध बकाया आय-कर और धन-कर की मांगों के बारे में और समय-समय पर उन्हें प्राप्त हुए कर वसूली प्रमाणपत्रों के बारे में स्मरण कराते हुए एक पत्र भेजा।

कर वसूली अधिकारी ने डा० तेजा को इस रकम का तुरन्त भुगतान करने के लिए व्यवस्था करने और भारत में और भारत से बाहर दोनों ही जगह अपनी सभी जंगम और स्थावर आस्तियों का ब्यौरा पेश करने के लिए 16 मई, 1983 को उनके कार्यालय में हाजिर होने के लिए निवेदन किया। इस पत्र के साथ ही कर वसूली अधिकारी ने आय-कर अधिनियम, 1961 की द्वितीय अनुसूची के नियम 83 के अधीन बकाया मांगों की एक सूची और नोटिस संलग्न किया। इस नोटिस में उन पर 8,62,22,599 रु० की रकम बकाया दर्शित की गई। इस नोटिस में इस बात का भी उल्लेख किया गया कि यदि डा० तेजा हाजिर होने में और अन्तर्वलित मुद्दों पर साक्ष्य पेश करने में असफल रहते हैं तो वे सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 32 के अधीन यथाउपबंधित विधिक कार्यवाही के लिए दायी होंगे।

3. इस पत्र का डा० तेजा ने 7.5.1983 को एक उत्तर भेजा जिसमें यह कहा गया कि भारत में या भारत से बाहर कहीं भी उनके नाम में या उनके खाते में कोई भी आस्तियां नहीं हैं, यह कि एकमात्र जो आस्ति उनको प्रोद्भूत हो सकेगी, वह जयन्ती शिपिंग कम्पनी में उनके शेयरों के लिए घोषित प्रतिकर होगा। जो उन्हें कभी भी दिया नहीं गया है, यह कि उन्होंने वित्त मन्त्री और केन्द्रीय प्रत्यक्ष-कर बोर्ड के अध्यक्ष से कर सम्बन्धी दावों और उन्हें संदेय प्रतिकर का पुनर्विलोकन करने और इस झगड़े को हमेशा के लिए तय करने के लिए निवेदन किया। इस प्रकार कहते हुए उन्होंने अपने हाजिर होने के लिए नियत की गई 16.5.83 की तारीख को बाद वाली तारीख तक स्थगित करने के लिए भी निवेदन किया। इस पत्र का कर वसूली अधिकारी ने तारीख 28 मई, 1983 के अपने पत्र द्वारा इस प्रकार उत्तर दिया कि इस मामले को 16 जून, 1983 को उनके समक्ष 11 बजे पूर्वान्ह में उनके हाजिर होने के लिए नियत किया गया है। नियम 83 के अधीन एक नोटिस को भी इस पत्र के साथ संलग्न किया गया जिसमें डा० तेजा से या तो व्यक्तिगत रूप से या प्राधिकृत प्रतिनिधि द्वारा साक्ष्य देने के लिए कार्यालय में उपस्थित होने के लिए कहा गया जिसके अननुपालन की दशा में उन पर सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 32 के अनुसार 500 रु० के जुर्माने की शास्ति अधिरोपित की जा सकेगी। इस प्रक्रम पर यह रिट पिटीशन फाइल किया गया है जिसके द्वारा आय-कर अधिकारी द्वारा पैन अमरीकन एयरवेज को तारीख 8 मार्च, 1983 को भेजे गए नोटिस को चुनौती दी गई है जिसमें पैन अमरीकन एयरवेज से डा० धर्मतेजा को भारतीय आय-कर अधिनियम

की धारा 230 (1) के अधीन यथापेक्षित आय-कर समाशोधन प्रमाण-पत्र पेश किए बिना भारत से बाहर किसी भी देश के लिए अपने वायुयान से यात्रा करने के लिए अनुज्ञात करते हुए कोई भी यात्रा बुक न करने या हवाई टिकट न देने के लिए कहा गया है।

4. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल श्री पी० रामचन्द्र रेड्डी ने निम्नलिखित मुद्दे उठाए हैं :—

(1) अधिनियम की धारा 230(1) के अधीन अधिकारिता का आधार आय-कर अधिकारी द्वारा यह राय बनाए जाने पर निर्भर है कि निर्धारिती का भारत लौटना सम्भव नहीं है। यह राय किसी सामग्री पर आधारित होनी चाहिए। चूंकि प्रस्तुत मामले में ऐसी कोई भी सामग्री नहीं है इसलिए यह आधार ही दूषित है।

(2) यह कार्यवाही मनमानी है और उससे अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण होता है क्योंकि आक्षेपित नोटिस जारी करने से पहले नोटिस नहीं दिया गया है।

(3) आय-कर समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने के रूप में किसी भी निर्बन्धन का अधिरोपण केवल इस आधार पर हो सकता है निर्धारिती की भारत में या भारत से बाहर कुछ आस्तियां हैं। यदि निर्धारिती की कोई भी आस्तियां नहीं हैं तो समाशोधन प्रमाणपत्र पेश करने पर जोर देना उसके विदेश जाने के अधिकार पर एक अयुक्तियुक्त निर्बन्धन है और उससे भारत के संविधान के अनुच्छेद 19 और 21 का अतिक्रमण होता है।

(4) शोध्य रकमों के बारे में कोई संगत मामला नहीं है। अतः यह कार्यवाही औचित्यपूर्ण नहीं है।

5. इन दलीलों पर क्रमानुसार विचार करने से पूर्व हम इस आधार को निम्नलिखित दो तथ्यों पर स्पष्ट करना चाहेंगे, अर्थात् (1) कि कर निर्धारणों को कोई चुनौती नहीं दी गई है जिसके परिणामस्वरूप बकाया के तथ्यों के बारे में कोई भी विवाद नहीं है। एकमात्र विवाद केवल रकम में अन्तर के बारे में है जिस पर हम कुछ बाद में विचार करेंगे, और (2) आय-कर अधिनियम की धारा 230(1) की शक्तिमत्ता को चुनौती नहीं दी गई है।

6. अब हम इस पृष्ठभूमि में इन दलीलों पर विचार करेंगे। आय-कर अधिनियम की धारा 230 इस प्रकार है :

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—1

जनता विद्यालय सोसाइटी, देवरिया तथा एक अन्य बनाम शिक्षा उपनिदेशक, गोरखपुर और अन्य

(Janta Vidyalaya Society, Deoria and another *Vs.* The Deputy Director of Education. Gorakhpur and others)

तारीख 24 अगस्त, 1983

[न्या० के० एन० सिंह और न्या० के० सी० अग्रवाल]

उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा अधिनियम (यूनाइटेड प्राविन्सेज इन्टरमीडिएट ऐडूकेशन ऐक्ट), 1921, धारा 16-जी सपठितसदधीन विनियमावली का विनियम 25 तथा 10—किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की उसके असमाधानप्रद कार्य के आधार पर अपुष्टि उन निबंधनों के अनुसार कार्य समझी जा सकती है, जिन पर उनकी नियुक्ति की गई है—ऐसे व्यक्ति की सेवा की उसके स्थायी बनाए जाने के अयोग्य पाए जाने के आधार पर समाप्ति न तो पदच्युति है और न हटाया जाना—अतः उसकी सेवा परिवीक्षा अवधि की समाप्ति से पूर्व उस दशा में समाप्त की जा सकती है, यदि उसका कार्य असमाधानप्रद पाया जाता है अथवा वह स्थायी नियुक्ति के अयोग्य पाया जाता है।

पिटीशनर सोसाइटी रजिस्ट्रीकृत सोसाइटी है और शिक्षा संस्था चलाती है। प्रत्यर्थी स० 3 को कालेज में एक वर्ष की परिवीक्षा पर सहायक शिक्षक नियुक्त किया गया। परिवीक्षा अवधि की समाप्ति से पूर्व प्रधानाचार्य ने प्रवंध-समिति के समक्ष 20-5-72 को एक रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें कहा गया था कि पिटीशनर स्थायी बनाए जाने के योग्य नहीं था। तारीख 21-5-72 को प्रबंध समिति ने उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा अधिनियम की धारा 16-जी तथा विनियम 25 के अधीन उक्त प्रत्यर्थी सं० 3 की सेवा समाप्त करते हुए संकल्प पारित किया। संकल्प मंजूरी हेतु संबद्ध जिला विद्यालय निरीक्षक को भेजा गया। जिला विद्यालय निरीक्षक ने असमाधानप्रद कार्य के संबंध में आधार की मांग की, जो उसे दिए गए। फिर जिला विद्यालय निरीक्षक ने प्रत्यर्थी सं० 3 से यह अपेक्षा की कि वह कारण बताए कि उसकी सेवा-समाप्ति की प्रस्थापना क्यों न मंजूर कर दी जाए, किंतु प्रत्यर्थी सं० 3 से ऐसा कारण मिलने से पूर्व ही जिला विद्यालय निरीक्षक ने सेवा समाप्ति की प्रस्थापना को मंजूरी दे दी। इस आदेश के विरुद्ध प्रत्यर्थी सं० 3 ने शिक्षा उप निदेशक को अपील की।

अपील इस आधार पर मंजूर कर ली गई कि प्रधानाचार्य के 6-5-72, 17-5-72 तथा 19-5-72 के पत्रों एवं जिला विद्यालय निरीक्षक के 14-6-72 के पत्र के आधार पर, जो प्रत्यर्थी सं० 3 को भेजे गए थे, उसकी सेवा समाप्ति दंड स्वरूप थी। उपनिदेशक ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त प्रत्यर्थी की सेवा समाप्त करने से पूर्व प्रबंध-समिति को अध्याय 3 के विनियम 35 तथा 36 का अनुपालन करना चाहिए था। इस आदेश को अभिखंडित करने के लिए समिति ने उच्च न्यायालय के समक्ष रिट फाइल किया। रिट पिटीशन की सुनवाई करने वाले खंड न्यायपीठ के न्यायाधीशों में मतभेद के आधार पर प्रश्न तीसरे न्यायाधीश को निर्दिष्ट किया गया, जिसने यह मत अपनाया कि निर्देश आवश्यक नहीं था। फिर मामला खंड न्यायपीठ के समक्ष रखा गया। पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई कि चूंकि प्रत्यर्थी सं० 3 को एक वर्ष की अवधि के लिए परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया था; अतः उसकी सेवा अधिनियम के अध्याय 3 के विनियम 25 के अधीन समाप्त की जा सकती थी। प्रधानाचार्य द्वारा प्रबंध समिति के समक्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करने से पूर्व प्रत्यर्थी सं० 3 को लिखे गए तीनों पत्रों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी सेवा समाप्ति पदच्युति बन गई। परिवीक्षाधीन प्रत्यर्थी सं० 3 की साधारण आदेश द्वारा सेवा-समाप्ति भी दंड नहीं मानी जा सकती। ऐसी सेवा-समाप्ति नियुक्ति के निबंधनों के अनुसार थी।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा अधिनियम, 1921 की धारा 16-जी के अधीन विरचित विनियम 25 प्रबंध समिति को यह शक्ति देता है कि वह किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा, उसकी परिवीक्षा अवधि के दौरान उसे एक मास का नोटिस देकर, समाप्त कर सके। विनियम 10 में यह उपबन्धित है कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति, यदि वह तत्परतापूर्वक कार्य करता है और उसने अपने को उस पद के योग्य सिद्ध कर दिया है, जिस पर उसकी नियुक्ति की गई थी तथा उसकी ईमानदारी प्रमाणित कर दी जाती है तो, स्थायी बना दिया जाएगा। विनियम 10 से यह प्रतीत होता है कि किसी भी परिवीक्षाधीन व्यक्ति को उस पद पर स्थायी बनाए जाने का अधिकार नहीं प्राप्त होता, जिस पर उसकी नियुक्ति की गई है। परिवीक्षा पर उसकी नियुक्ति उसकी पुष्टि के अध्यधीन है, जो विनियम के निबंधनों के अनुसार उसके समाधानप्रद कार्य पर आधारित है। विनियम 25 के अधीन समिति को इस बात पर विचार करने का हक है कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति ने स्वयं को पद के योग्य सिद्ध किया है तथा उसकी ईमानदारी संदेह से परे है अथवा नहीं। इसका यह अर्थ हुआ कि

परिवीक्षाधीन व्यक्ति स्थायी बनाए जाने का हकदार तभी होगा, जब वह कार्य के लिए योग्य अथवा उपयुक्त हो। किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की, उसके असमाधानप्रद कार्य के आधार पर अपुष्टि उन निबंधनों के अनुसार कार्य समझी जा सकती है, जिन पर उसकी नियुक्ति की गई है। किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा की, उसके स्थायी बनाए जाने के अयोग्य पाए जाने के आधार पर, समाप्ति न तो पदच्युति है और न हटाया जाना। परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया व्यक्ति परीक्षण पर होता है। उसे अनुबंधित परिवीक्षा अवधि की समाप्ति पर स्वतः स्थायी नहीं बना दिया जाता। यह अनेक मामलों में अभिनिर्धारित किया गया है कि किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा परिवीक्षा अवधि की समाप्ति से पूर्व उस दशा में समाप्त की जा सकती है, यदि उसका कार्य असमाधानप्रद पाया जाता है अथवा वह स्थायी नियुक्ति के अयोग्य पाया जाता है। (पैरा 5, 6, 7)

परिवीक्षाधीन व्यक्ति को पद धारण करने का कोई अधिकार नहीं होता। संविदा के निबंधनों के अनुसार या सेवा के नियमों के अनुसार उसकी नियुक्ति की समाप्ति स्वतः दंड नहीं होती, जैसी कि वह स्थायी और पुष्ट कर्मचारी की दशा में होती है। इससे उसके भावी सेवा-जीवन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता और इसके कोई दुष्परिणाम नहीं होते। अतः उसकी सेवा-समाप्ति से पूर्व उसे (सुनवाई का) अवसर देने का नैसर्गिक न्याय का सिद्धांत परिवीक्षाधीन व्यक्ति के मामले में लागू नहीं होता। (पैरा 8)

		पैरा
[1983]	ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 494 : अजीत सिंह **बनाम** पंजाब राज्य (Ajit Singh *Vs.* the State of Punjab);	13
[1980]	1980 ए० एल० जे० 785 : पी० सी० बागला **बनाम** आगरा यूनिवर्सिटी (P. C. Bagla *Vs.* Agra University);	8,14
[1977]	1977(2) एस० एल० आर० 371 (पूर्ण न्यायपीठ) : जय सिंह **बनाम** हरियाणा राज्य (Jai Singh *Vs.* The State of Haryana);	12
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2547 : उत्तर प्रदेश राज्य **बनाम** रामचन्द्र त्रिवेदी (State of Uttar Pradesh *Vs.* Ramchandra Trivedi);	12

[1975] 1975(2) एस० एल० आर० 605 : कलक्टर एंड डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट वाराणसी बनाम मटरू राम (Collector and District Magistrate, Varanasi *Vs.* Mataru Ram); 7

[1963] ए० आई० आर० 1953 एस० सी० 1562 : रणेन्द्र चन्द्र बनाम भारत संघ (Ranendra Chandra *Vs.* Union of India); 12

[1960] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 689 : स्टेट ऑफ बिहार बनाम जी० के० प्रसाद (State of Bihar *Vs.* G. K. Prasad); 7

[1958] ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 36 : पुरुषोत्तम लाल ढींगरा बनाम यूनियन ऑफ इंडिया (Parshottam Lal Dhingra *Vs.* Union of India); 7

का अवलंब लिया गया ।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1974 का सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन सं० 572.

संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनरों की ओर से ... श्री ए० कुमार तथा कृष्ण जी

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री एस० आर० सिंह, एच० एस० एन० त्रिपाठी, यू० एस० एम० त्रिपाठी, स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय न्या० के० सी० अग्रवाल ने दिया ।

न्या० अग्रवाल :

पिटीशनर सोसाइटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम के अधीन रजिस्ट्रीकृत प्रबंध समिति है और जनता इन्टरमीडिएट कालिज, रामपुर अवस्थी, देवरिया नामक संस्था चलाती है। 8 जुलाई, 1971 को प्रत्यर्थी सं० 3 देवशरण तिवारी को उपर्युक्त कालिज में एक वर्ष की परिवीक्षा पर सहायक शिक्षक नियुक्त किया गया । परिवीक्षा अवधि की समाप्ति से पूर्ण प्रधानाचार्य ने प्रबंध-समिति के समक्ष 20-5-72 को एक रिपोर्ट प्रस्तुत की, जिसमें यह कहा गया था कि पिटीशनर स्थायी बनाए जाने के योग्य नहीं था । 21-5-72 को प्रबंध-समिति

ने उत्तर प्रदेश माध्यमिक शिक्षा अधिनियम (एतत् पश्चात् अधिनियम) की धारा 16-जी तथा विनियम 25 के अधीन उक्त प्रत्यर्थी सं० 3 की सेवा समाप्त करते हुए संकल्प पारित किया। 22-5-72 को प्रबंध समिति के प्रबंधक ने संकल्प को आवरक पत्र (कवरिंग लेटर) सहित मंजूरी हेतु देवरिया के जिला विद्यालय निरीक्षक के समक्ष प्रस्तुत किया।

2. ऐसा प्रतीत होता है कि 14-6-72 को जिला विद्यालय निरीक्षक ने समिति को एक पत्र लिखा, जिसकी एक प्रति इस रिट पिटीशन के उपा०ए०4 के रूप में फाइल की गई है। उस पत्र द्वारा समिति से यह अपेक्षा की गई थी कि समिति वे आधार बताएं, जिन पर प्रत्यर्थी सं० 3 का कार्य असमाधानप्रद पाया गया था। पूर्वोक्त पत्र का उत्तर दिया गया। उस उत्तर के साथ-साथ जिला विद्यालय निरीक्षक के पास कालिज के प्रधानाचार्य की रिपोर्ट भी भेजी गई। 14-6-72 को प्रत्यर्थी सं० 3 के पास जिला विद्यालय निरीक्षक द्वारा एक पत्र भेजा गया, जिसमें वे आधार प्रगणित किए गए, जिन पर प्रत्यर्थी सं० 3 की सेवा समाप्ति के लिए पूर्विक अनुमोदन चाहा गया था। प्रत्यर्थी सं० 3 से यह अपेक्षा की गई कि वह उस पत्र का उत्तर दो दिन के अन्दर दे। जिला विद्यालय निरीक्षक ने पत्र का उत्तर पाने से पूर्व ही प्रत्यर्थी सं० 3 की सेवा समाप्ति हेतु समिति की प्रस्थापना को मंजूरी दे दी। इस आदेश के विरुद्ध प्रत्यर्थी सं० 3 ने शिक्षा उप-निदेशक को अपील की। अपील इस आधार पर मंजूर कर ली गई कि प्रधानाचार्य के 6-5-72, 17-5-72 तथा 19-5-72 के पत्रों एवं जिला विद्यालय निरीक्षक के 14-6-72 के पत्र के आधार पर, जो प्रत्यर्थी सं० 3 को भेजे गये थे, उसकी सेवा-समाप्ति दंड स्वरूप थी। उप-निदेशक ने यह अभिनिर्धारित किया कि उक्त प्रत्यर्थी की सेवा समाप्त करने से पूर्व प्रबंध-समिति को अध्याय 3 के विनियम 35 तथा 36 का अनुपालन करना चाहिए था। इस आदेश को अभिखंडित करने के लिए समिति ने इस न्यायालय के समक्ष प्रस्तुत रिट पिटीशन फाइल किया।

3. रिट पिटीशन सुनवाई के लिए एक खण्ड न्यायपीठ के समक्ष आया। न्यायपीठ के दोनों न्यायाधीश निष्कर्ष के सम्बन्ध में मतभेद रखते थे। अतः उन्होंने इस प्रश्न पर एक तीसरे न्यायाधीश के मत के लिए निर्देश किया। माननीय मुख्य न्यायाधीश ने, जिनके समक्ष मतभेद के आधार पर मत के लिए मामला प्रस्तुत किया गया, निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

> "विद्वान न्यायाधीश ने, जो सम्बद्ध प्रश्न पर अपना निष्कर्ष देने से प्रविरत रहे, कतिपय मामलों के प्रति निर्देश किया है, जिनमें

यह अभिनिर्धारित किया गया था कि आक्षेपित आदेश को इस आधार पर अपास्त करने के पश्चात् कि वह विधि की गलती से ग्रस्त था, यह बेहतर होता है कि मामला अवर प्राधिकारी को भेज दिया जाए ताकि वह यथोचित आदेश पारित करे । विधि का ऐसा कोई सुस्पष्ट सिद्धांत नहीं है, जो सभी परिस्थितियों में लागू हो । उच्चतम न्यायालय ने अनेक मामलों में यह विनिश्चित किया है कि आक्षेपित आदेश अपास्त करने के पश्चात् आगे ऐसे आदेश करने के लिए न्यायालय शक्तिहीन नहीं है, जैसे मामले में न्याय करने के लिए अपेक्षित हों [देखें ग्रिडलेज बैंक लि० **बनाम** इन्कम टैक्स आफिसर (ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 656), मैसर्स शिव शंकर दाल मिल्स **बनाम** हरियाणा राज्य (ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1037) तथा डाइरेक्टर आफ इन्सपेक्शन आफ इन्कम टैक्स **बनाम** मैसर्स पूरन मल एण्ड सन्स (ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 67)] । यह साधारण सिद्धांत प्रस्तुत मामले में लागू नहीं होता कि न्यायालय संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन अविधिमान्य आदेश को अपास्त करने के पश्चात् तथ्य के प्रश्न का अवधारण करने हेतु साक्ष्य का पुनर्विलोकन नहीं करेगा । यह प्रश्न कि आक्षेपित आदेश दंड समझा जा सकता था अथवा नहीं विधि का प्रश्न है ।

अपरंच, माननीय न्यायाधीश दयाल के निर्णय से उनके इस आशय का कोई संकेत नहीं मिलता कि मामला नए सिरे से विनिश्चय हेतु शिक्षा उप-निदेशक को वापस भेज दिया जाए । ऐसी स्थिति में, ये गौण प्रश्न वस्तुतः उठते ही नहीं कि विनियम 10 की अपेक्षा आत्मपरक या तथ्यपरक समाधान की है अथवा विनियम 48 के कारण अनावरण सिद्धांत (प्रिन्सीपल आफ लिफ्टिंग दी वील) का निराकरण हो गया है या नहीं ।

मेरी राय में ऐसी परिस्थितियों में निर्देश करना आवश्यक नहीं था । मामले का अभिलेख आगे आदेश हेतु समुचित न्यायपीठ के समक्ष रखा जाए ।"

4. यह मामला अब हमारे समक्ष आया है । पिटीशनर की ओर से हमारे समक्ष यह निवेदन किया गया कि चूंकि प्रत्यर्थी सं० 3 को एक वर्ष की अवधि के लिए परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया था, अतः उसकी सेवा अधिनियम के अध्याय 3 के विनियम 25 के अधीन समाप्त की जा सकती

थी। पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल के अनुसार प्रधानाचार्य द्वारा प्रबंध-समिति के समक्ष रिपोर्ट प्रस्तुत करने से पूर्व प्रत्यर्थी सं० 3 को लिखे गए तीनों पत्रों के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि उसकी साधारण सेवा-समाप्ति पदच्युति बन गई। परिवीक्षाधीन प्रत्यर्थी सं०3 की साधारण आदेश द्वारा सेवा-समाप्ति कभी भी दंड नहीं मानी जा सकती थी। ऐसी सेवा-समाप्ति नियुक्ति के निबन्धनों के अनुसार होगी।

5. अधिनियम की धारा 16-जी के अधीन विरचित विनियम 25 प्रबन्ध समिति को यह शक्ति देता है कि वह किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा, उसकी परिवीक्षा अवधि के दौरान उसे एक मास का नोटिस देकर, समाप्त कर सके। विनियम 10 में यह उपबंधित है कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति, यदि वह तत्परतापूर्वक कार्य करता है और उसने अपने को उस पद के योग्य सिद्ध कर दिया है, जिस पर उसकी नियुक्ति की गई थी तथा उसकी ईमानदारी प्रमाणित कर दी जाती है तो, स्थायी बना दिया जाएगा।

6. विनियम 10 से यह प्रतीत होता है कि किसी भी परिवीक्षाधीन व्यक्ति को उस पद पर स्थायी बनाए जाने का अधिकार नहीं प्राप्त होता, जिस पर उसकी नियुक्ति की गई है। परिवीक्षा पर उसकी नियुक्ति उसकी पुष्टि के अध्यधीन है, जो विनियम के निबन्धनों के अनुसार उसके समाधानप्रद कार्य पर आधारित है। विनियम 25 के अधीन समिति को इस बात पर विचार करने का हक है कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति ने स्वयं को पद के योग्य सिद्ध किया है तथा उसकी ईमानदारी संदेह से परे है अथवा नहीं। इसका यह अर्थ हुआ कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति स्थायी बनाए जाने का हकदार तभी होगा, जब वह कार्य के लिए योग्य अथवा उपयुक्त हो।

7. इन दोनों उपबन्धों के अनुशीलन से यह निष्कर्ष निकलता है कि किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की उसके असमाधानप्रद कार्य के आधार पर अपुष्टि उन निबन्धनों के अनुसार कार्य समझी जा सकती है, जिन पर उसकी नियुक्ति की गई है। किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा की उसके स्थायी बनाए जाने के अयोग्य पाये जाने के आधार पर समाप्ति न तो पदच्युति है और न हटाया जाना। परिवीक्षा पर नियुक्त किया गया व्यक्ति परीक्षण पर होता है। उसे अनुबन्धित परिवीक्षा अवधि की समाप्ति पर स्वतः स्थायी नहीं बना दिया जाता। यह अनेक मामलों में अभिनिर्धारित किया गया है कि किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा परिवीक्षा अवधि की समाप्ति से पूर्व उस दशा में समाप्त की जा सकती है, यदि उसका कार्य असमाधानप्रद पाया जाता है अथवा वह स्थायी नियुक्ति के अयोग्य पाया जाता है। (देखें **पुरुषोत्तम लाल ढींगरा**

बनाम यूनियन आफ इंडिया[1], स्टेट आफ बिहार बनाम जी० के० प्रसाद[2], कलक्टर एण्ड डिस्ट्रिक्ट मजिस्ट्रेट वाराणसी बनाम मटरू राम[3])।

8. हाल ही में इस न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ ने पी० सी० बागला बनाम आगरा यूनिवर्सिटी[4] में इस संविवाद पर आगरा विश्वविद्यालय से सम्बद्ध पी० सी० बागला (पोस्ट ग्रेजुएट) कालिज हाथरस में नियोजित एक शिक्षक के सम्बन्ध में विचार किया था। इस प्रश्न से सम्बद्ध अनेक नजीरों के प्रति व्यापक निर्देश करते हुए विद्वान न्यायाधीशों ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया था :—

> "परिवीक्षाधीन व्यक्ति को पद धारण करने का कोई अधिकार नहीं होता। संविदा के निबन्धनों के अनुसार या सेवा के नियमों के अनुसार उसकी नियुक्ति की समाप्ति स्वत: दण्ड नहीं होती, जैसी कि वह स्थायी और पुष्ट कर्मचारी की दशा में होती है। इससे उसके भावी सेवा-जीवन पर कोई प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ता और इसके कोई दुष्परिणाम नहीं होते। अत: उसकी सेवा-समाप्ति से पूर्व उसे (सुनवाई का) अवसर देने का नैसर्गिक न्याय का सिद्धान्त परिवीक्षाधीन व्यक्ति के मामले में लागू नहीं होता।"

9. प्रत्यर्थी के काउन्सेल की दलील यह थी कि चूंकि प्रत्यर्थी सं० 3 से प्रधानाचार्य ने उपर्युक्त तीन पत्रों के माध्यम से कालिज परिसर में घटित कतिपय घटनाओं के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण मांगे थे, अत: उसकी सेवा समाप्ति पर इस तथ्यात्मक पृष्ठभूमि में विचार करना होगा। विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि प्रत्यर्थी सं० 3 की सेवा उन पत्रों में अन्तर्विष्ट आरोपों के कारण समाप्त की गई थी और चूंकि उन आरोपों की बाबत उक्त प्रत्यर्थी को स्पष्टीकरण देने का अवसर नहीं दिया गया था, अत: उसकी सेवा-समाप्ति का आदेश दण्डात्मक अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए। इस संदर्भ में काउन्सेल ने जिला विद्यालय निरीक्षक के उस पत्र के प्रति भी निर्देश किया, जिसके द्वारा प्रत्यर्थी सं० 3 को वे आधार बताए गए थे, जिन पर उसका कार्य असमाधानप्रद पाया गया था और उससे उन बातों की पृष्ठभूमि के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण

---

[1] ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 36.
[2] ए० आई० आर० 1960 एस० सी० 689.
[3] 1975 (2) एस० एल० आर० 605.
[4] 1980 ए० एल० जे० 785.

देने के लिए भी कहा गया था। काउन्सेल ने यह दलील दी कि वस्तुतः जिला विद्यालय निरीक्षक का वह पत्र हेतुक दर्शित करने का नोटिस था और उस नोटिस की उस पर तामील ने कार्यवाही को दण्ड अधिरोपित करने की कार्यवाही बना दिया और उस पर कलंक लगा दिया।

10. हमें इन दलीलों में कोई सार नहीं प्रतीत होता। विनियमों के अधीन प्रधानाचार्य से यह अपेक्षित था कि वह प्रत्यर्थी सं० 3 की परिवीक्षा-अवधि के दौरान उसके कार्य तथा आचरण के सम्बन्ध में रिपोर्ट प्रस्तुत करे। इस प्रयोजन के लिए उसने उक्त प्रत्यर्थी के संबंध में ब्यौरेवार रिपोर्ट समिति को दी, जिसमें यह कहा गया कि वह स्थायी किए जाने के योग्य नहीं था। प्रधानाचार्य की इस रिपोर्ट के आधार पर समिति ने विनिश्चय किया। प्रत्यर्थी की सेवा समाप्ति का आदेश दण्ड स्वरूप नहीं किया गया था बल्कि वह उसे लागू विनियमों के अनुसार सेवा-समाप्ति का आदेश मात्र था। समिति को रिपोर्ट प्रस्तुत करते समय प्रधानाचार्य कतिपय ऐसे परिवादों के संबंध में, जो प्रत्यर्थी सं० 3 के विरुद्ध प्राप्त हुए थे, जांच करके पूर्णतः न्यायोचित कार्य किया। यदि सेवा-समाप्ति के आदेश को उन तथ्यों के प्रकाश में किया गया माना जाए, जो प्रत्यर्थी सं० 3 को प्रधानाचार्य द्वारा दिए गए पत्रों में कथित हैं, तो प्रत्यर्थी का आचरण उस आदेश का हेतुक होगा न कि उसका आधार। प्रबंध-समिति ने उसे उसके पद पर पुष्ट इसलिए नहीं किया कि उसके विचार में उसके कार्य से संबंधित रिपोर्ट असमाधानप्रद थी। प्रत्यर्थी सं० 3 को प्रधानाचार्य द्वारा भेजे गए तीनों पत्रों के अनुशीलन से कुछ और निष्कर्ष निकालना सम्भव नहीं है। प्रधानाचार्य ने केवल जांच की थी और वह उक्त प्रत्यर्थी के विरुद्ध प्राप्त परिवादों के सम्बन्ध में सत्य जानना चाहता था। इन पत्रों के लिखे ज़ाने के पीछे प्रत्यर्थी सं० 3 को दण्डित करने के किसी हेतुक की प्रेरणा नहीं थी। पत्र सही स्थिति जानने हेतु कारबार के सामान्य अनुक्रम में लिखे गए थे।

11. प्रत्यर्थी सं० 3 के विद्वान काउन्सेल की यह दलील भी सही नहीं है कि यदि यह मान भी लिया जाए कि प्रबन्ध समिति द्वारा सेवा-समाप्ति की कार्यवाही उस प्रक्रम तक दण्डात्मक नहीं थी, जबकि संकल्प जिला विद्यालय निरीक्षक की मंजूरी हेतु भेजा गया था तो भी वह जिला विद्यालय निरीक्षक द्वारा 14-6-72 को प्रत्यर्थी पर तामील किए गए हेतुक दर्शित करने के नोटिस के कारण दण्डात्मक बन गई। इस दलील में कोई सार नहीं है। अधिनियम तथा तदधीन विरचित विनियमों के अधीन प्रबंध-समिति ही नियुक्ति निकाय

है। यदि गलत विचारणा के आधार पर जिला विद्यालय निरीक्षक ने ऊपर निर्दिष्ट पत्र भेजा और प्रत्यर्थी सं० 3 से यह अपेक्षा की कि वह वे परिस्थितियां स्पष्ट करे, जिनमें उसका कार्य असमाधानप्रद पाया गया था तो इससे सेवा समाप्ति की सामान्य कार्यवाही पदच्युति की कार्यवाही नहीं हो जाएगी। प्रबंध समिति का ऐसा आशय कभी भी नहीं था। प्रबंध समिति द्वारा पारित संकल्प में ऐसी कोई बात नहीं थी, जो उक्त प्रत्यर्थी पर कोई कलंक लगाती हो।

12. प्रबंध समिति ने प्रत्यर्थी सं० 3 की सेवा समाप्ति का अनपकारी संकल्प पारित किया था और उसके लिए जिला विद्यालय निरीक्षक का अनुमोदन चाहा था। संकल्प पारित करने से पूर्व प्रबंध समिति के समक्ष प्रधानाचार्य की रिपोर्ट थी, जिसमें पिटीशनर का कार्य असमाधानप्रद बताया गया था। इसी रिपोर्ट के आधार पर प्रत्यर्थी को स्थायी नहीं बनाया गया था। नियमों तथा विनियमों के अनुसार परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा-समाप्ति न तो पदच्युति है और न हटाया जाना। (देखें **रणेन्द्र चंद** बनाम **भारत संघ**[1], **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **रामचंद्र त्रिवेदी**[2], **जय सिंह** बनाम **हरियाणा राज्य**[3])

13. **अजीत सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[4] में उच्चतम न्यायालय ने इस बात पर विचार किया था कि परिवीक्षा अवधि विहित करना कब और कैसे प्रारंभ हुआ और सेवा विधि शास्त्र में परिवीक्षा अवधि का क्या तात्पर्य माना जाता रहा है। 'परिवीक्षाधीन व्यक्ति', जैसा कि शब्द से ही दर्शित होता है, वह व्यक्ति है जो परीक्षण पर है। परिवीक्षाधीन व्यक्ति की नियुक्ति की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने पृष्ठ 498 पर निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "नियोजक पर असक्षम और अदक्ष सेवक थोपा न जाए इस उद्देश्य से ही परिवीक्षा की विचारणा का आविष्कार हुआ, क्योंकि असक्षमता अथवा अदक्षता का आरोप लगाना तो सरल है किन्तु उसे साबित करना कठिन। सेवा के लिए उपयुक्त कार्मिक चुनने में मानवीय निर्णय की गलती से बचने के लिए नए भर्ती व्यक्ति को उसे सेवा में आमेलित करने से पूर्व या उसके द्वारा पद धारण करने का अधिकार अर्जित करने से पूर्व उसे एक अवधि तक परीक्षण पर रखा जाता

---

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 552.

[2] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2547.

[3] 1977 (2) एस० एल० आर० 371 (पूर्ण न्यायपीठ),

[4] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 494.

है। परिवीक्षा अवधि नियोजक को एक प्रकार की पर्यवेक्षणात्मक हैसियत देती है, ताकि वह सेवक के कार्य, उसकी योग्यता, दक्षता, कर्तव्य-निष्ठा तथा सक्षमता की परख कर सके और यदि सेवक पद के योग्य नहीं पाया जाता है तो स्वामी विहित अवधि, जिसे परिवीक्षा अवधि कहा जाता है, के दौरान या उसकी समाप्ति पर बिना कुछ और किए उसकी सेवा समाप्त करने का अधिकार आरक्षित रखता है। इस दृष्टिकोण से न्यायालयों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि परिवीक्षा अवधि के दौरान या उसकी समाप्ति पर किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा समाप्ति मामूली तौर पर और स्वयं में दण्ड नहीं होगी। क्योंकि इस प्रकार नियुक्त व्यक्ति को ऐसे पद पर बने रहने का उस समय से आगे हक नहीं होता, जब तक कि किसी प्राइवेट नियोजक द्वारा परिवीक्षा पर नियुक्त सेवक हकदार होता है। [देखें पुरुषोत्तम लाल ढींगरा **बनाम** भारत संघ (1958 एस० सी० आर० 828 = ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 36)]। परिवीक्षा अवधि मालिक को एक मूल्यवान अवसर देती है ताकि वह परिवीक्षाधीन व्यक्ति के कार्य का सूक्ष्म सम्प्रेक्षण कर सके और इस सम्बन्ध में निर्णय कर सके कि वह सेवक को नियमित सेवा में ले ले या उसकी सेवा समाप्त कर दे।"

14. प्रत्यर्थी संख्या 3 के विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी कि उसे यह हक था कि उसे सेवा समाप्ति से पूर्व सुनवाई का अवसर दिया जाता। इस दलील में कोई सार नहीं है। **पी० सी० बागला बनाम आगरा यूनिवर्सिटी**[1] के मामले में पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि परिवीक्षाधीन व्यक्ति, इससे पूर्व कि उसकी सेवा परिवीक्षा-अवधि के दौरान या उसकी समाप्ति पर समाप्त की जाए, सुनवाई का हकदार नहीं है। किसी परिवीक्षाधीन कर्मचारी की उपयुक्तता एवं योग्यता के संबंध में राय बनाने की नियोजक की शक्ति केवल इसलिए न्यायिक-कल्प प्रकृति की नहीं हो जाती कि वह ऐसी राय वस्तुपरक सामग्री के आधार पर बनाता है।

15. प्रत्यर्थी संख्या 3 के काउंसेल की दूसरी दलील यह थी कि चूंकि प्रबन्ध समिति ने कारण नहीं दिए हैं और न ही मंजूरी देने वाले आदेश में जिला विद्यालय निरीक्षक ने ही कारण दिए हैं, अतः सेवा-समाप्ति अविधिमान्य है। यह दलील भी मान्य नहीं है। न तो अधिनियम में और न विनियमों में ऐसा

---

[1] 1980 ए० एल० जे० 785.

कोई उपबन्ध है, जो यह अपेक्षा करता हो कि प्रबन्ध समिति या जिला विद्यालय निरीक्षक कारण बताएगा। कार्यवाही की प्रकृति ऐसी है कि कारण देने की प्रत्याशा नहीं की जा सकती। सेवा समाप्ति से पूर्व समिति से यह अपेक्षित था कि वह इस सम्बन्ध में अपना समाधान कर ले कि प्रत्यर्थी सं० 3 का कार्य समाधानप्रद नहीं था। इस प्रयोजन के लिए उसके समक्ष सामग्री थी। ऐसे मामले में, जहां समिति पूर्वाग्रहग्रस्त हो अथवा उसका कार्य असद्भाविक हो, इस न्यायालय को ऐसे कार्य को अभिखण्डित करने की शक्ति होती है, किन्तु जहां, जैसा कि इस मामले में है, ऐसा कोई अभिकथन नहीं किया गया है, उसके साबित किए जाने की तो बात ही क्या, वहां प्रत्यर्थी संख्या 3 की सेवा समाप्ति के अभिखण्डित किए जाने का प्रश्न ही नहीं उठता। जिला विद्यालय निरीक्षक से भी यह अपेक्षित नहीं था कि वह मंजूरी देने के लिए कोई कारण बताए। अधिनियम या तदधीन बनाए गए विनियमों के अधीन ऐसी कोई अपेक्षा नहीं थी कि वह मंजूरी देते समय कारण भी बताए। जिला विद्यालय निरीक्षक द्वारा अनुमोदन दिया जाना एक आंतरिक विषय है, जिसके लिए यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह न्यायिक या न्यायिक-कल्प कार्य करे और इसलिए अनुमोदन देने वाला कोई कारण देना अपेक्षित नहीं है। 1969 की विशेष अपील संख्या 1597 (इलाहाबाद) **देवी दयाल अग्रवाल** बनाम **दि वाइस-चांसलर** में, जिसका विनिश्चय 20-8-1970 को किया गया, इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

> "पूर्व अनुमोदन अपेक्षित करने वाले उपबन्ध में यह अनिवार्यतः विवक्षित है किसी परिवीक्षाधीन व्यक्ति की सेवा-समाप्ति के लिए कालेज कारण बताए, ताकि कुलपति इस संबंध में अपना समाधान कर सके कि अनुमोदन उचित आधार पर मांगा जा रहा है। तदनुसार प्रबन्ध समिति के लिए आवश्यक है कि वह अपने संकल्प में कारण विनिर्दिष्ट करे। सेवा समाप्ति के लिए संकल्प पारित किया जाना और कुलपति द्वारा अनुमोदन किया जाना परस्पर अभिन्न हैं। हमें ऐसा प्रतीत होता है कि कुलपति द्वारा अनुमोदन दिया जाना कालेज का आंतरिक विषय माना जाना चाहिए। तदनुसार यद्यपि तार की संपोषक प्रति (कन्फरमेटरी कापी) में अपीलार्थी की त्रुटि विनिर्दिष्ट है, फिर भी यह नहीं अभिनिर्धारित किया जा सकता कि उसकी सेवा-समाप्ति सेवा से हटाया जाना है।"

16. प्रस्तुत मामले के तथ्यों को लागू होने वाली विधि पर विचार

करने के पश्चात् हमारा यह निष्कर्ष है कि शिक्षा उप-निदेशक ने यह अभिनिर्धारित करके गलती की कि प्रत्यर्थी संख्या 3 की सेवा समाप्त करने वाला प्रबन्ध समिति का आदेश दण्डात्मक अतः अभिखण्डनीय था। उसने उस 'कारण दर्शाओ नोटिस' को ध्यान में लेकर गलती की, जो जिला विद्यालय निरीक्षक द्वारा प्रत्यर्थी संख्या 3 को जारी की गई थी। हमारी राय में, इन तथ्यों पर समुचित विचार करने पर यह नहीं कहा जा सकता कि आक्षेपित आदेश दण्ड स्वरूप पारित किया गया था। असंयत एवं गाली-गलौजपूर्ण भाषा, जिसका प्रयोग प्रत्यर्थी संख्या 3 ने क्लर्क के साथ कहा-सुनी में किया था, तथा उसका असमाधान प्रद कार्य प्रस्तुत मामले के तथ्यों और परिस्थितियों में इस युक्तियुक्त विश्वास का आधार हो सकता थी कि प्रत्यर्थी संख्या 3 उपयुक्त व्यक्ति नहीं था। संभव है, उसकी परिवीक्षाधीन सेवा की समाप्ति का यह हेतु रहा हो।

17. परिणामस्वरूप रिट पिटीशन सफल होता है और मंजूर किया जाता है। शिक्षा उप-निदेशक का 15-1-1974 का आदेश (उपाबन्ध क-11) अभिखण्डित किया जाता है। मामले की परिस्थितियों में पक्षकार अपने-अपने खर्चे वहन करेंगे।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—13

मोहन लाल कपूर बनाम उत्तर प्रदेश राज्य

(Mohan Lal Capoor *Vs.* The State of Uttar Pradesh)

तरीख 30 अगस्त, 1983

[न्या० के० एन० सिंह और बी० डी० अग्रवाल]

उत्तर प्रदेश सिविल सेवा विनियमावली, अनुच्छेद 465-क का टिप्पण-1—यदि उक्त अनुच्छेद 465-क के टिप्पण-1 के अधीन अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का आदेश असंगत सामग्री पर आधारित है अथवा महत्वपूर्ण सामग्री की उपेक्षा करता है अथवा विनिश्चय ऐसी अप्रचलित सामग्री पर आधारित है, जो विनिश्चय के लिए अपेक्षाकृत कम सुसंगत है, तो समयपूर्व सेवा-निवृत्ति का आदेश दूषित हो जाएगा।

2. प्रशासनिक विधि—सेवा विधि—अप्रवर्तनीय प्रतिकूल प्रविष्टियां—जब एक बार किसी सरकारी सेवक को दक्षतारोध पार करना अनुज्ञात कर दिया जाता है अथवा वह उच्चतर श्रेणी में या पद पर प्रोन्नत कर दिया जाता है तो उस अवधि से पूर्व की अवधि की प्रतिकूल प्रविष्टियां मिट जाती हैं।

पिटीशनर राज्य पुलिस सेवा में 1947 में आया था। 1962 में उसे राज्य पुलिस सेवा की चयन श्रेणी में अधिष्ठायी रूप से नियुक्त किया गया था। नवम्बर, 1961 में उसका नाम भारतीय पुलिस सेवा के ज्येष्ठ वेतनमान में स्थानापन्न पद पर नियुक्ति के लिए भारतीय पुलिस सेवा (प्रोन्नति सेवा नियुक्ति) विनियमों के अनुसार तैयार की गई सूची में सम्मिलित किया गया था। उसे 16-7-1962 से भारतीय पुलिस सेवा के ज्येष्ठ वेतन-मान में स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए अनुज्ञात किया गया था। पिटीशनर का नाम 1967 तक चयन-सूची में सम्मिलित किया जाता रहा और इस संपूर्ण अवधि भर पिटीशनर भारतीय पुलिस सेवा के ज्येष्ठ वेतन-मान में स्थानापन्न रूप में काम करता रहा। पिटीशनर का नाम भारतीय पुलिस सेवा (प्रोन्नति द्वारा नियुक्ति) विनियमों के विनियम 5(4) के अनुसार तैयार की गई 1968 के लिए चयन-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया और उसके स्थान पर चयन-सूची में उसके कनिष्ठ अधिकारियों का नाम सम्मिलित किया गया। चूंकि पिटीशनर का नाम चयन-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया था, अतः उसे राज्य संवर्ग में पुलिस अधीक्षक के पद पर प्रत्यावर्तित कर दिया गया। पिटीशनर ने 1968 का रिट पिटीशन सं० 2771 इस न्यायालय में फाइल किया, जिसके द्वारा उसने अपने प्रत्यावर्तन एवं भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के लिए तैयार की गई सन् 1968 की चयन-सूची को भी चुनौती दी। रिट पिटीशन इस न्यायालय द्वारा 27-3-1969 को मंजूर कर लिया गया और चयन-सूची को तथा उस आदेश को भी अभिखंडित कर दिया गया, जिसके द्वारा पिटीशनर को अधिष्ठायी पद पर प्रत्यावर्तित किया गया था। उत्तर प्रदेश राज्य ने उच्चतम न्यायालय में अपील की, किन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस न्यायालय के निर्णय को अपने 26-5-1973 के आदेश द्वारा कायम रखा। यह निर्णय ए० आई० आर० 1974, सुप्रीम कोर्ट 87 में प्रतिवेदित (रिपोर्टेड) है। इस न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसरण में 1968 की चयन-सूची नए सिरे से 1974 में तैयार की गई, किन्तु पिटीशनर का नाम चयन-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया। परन्तु पिटीशनर का नाम इससे पूर्व ही 1970 में तैयार की गई चयन-सूची में सम्मिलित कर लिया गया था और उसे रेलवे के पुलिस अधीक्षक के पद पर प्रोन्नत कर दिया गया। यह पद राज्य पुलिस सेवा की

विशेष श्रेणी का पद था। जब पिटीशनर आगरा के डकैती विरोधी अभियान में स्थानापन्न पुलिस अधीक्षक तैनात था, तो राज्य सरकार ने 28-11-74 को सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 465-क के टिप्पण-1 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए आदेश जारी किया, जिसके द्वारा पिटीशनर की आयु 50 वर्ष हो जाने पर उसे अनिवार्यतः सेवानिवृत्त कर दिया गया। व्यथित होकर पिटीशनर ने राज्य सरकार के आदेश की विधिमान्यता को चुनौती दी।

पिटीशनर के विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी है कि सरकार का पिटीशनर को समय-पूर्व सेवानिवृत्त करने का विनिश्चय लोकहित में नहीं था, क्योंकि सरकार ने ऐसी बासी और पुरानी प्रविष्टियों को ध्यान में रखा, जो पूर्णतः असंगत हो गई थीं। साथ ही ऐसी प्रविष्टियां भी ध्यान में रखी गईं, जो पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं। हाल की प्रविष्टियों को ध्यान में नहीं रखा गया और न ही उन्हें महत्व दिया गया और उनके स्थान पर पुरानी और बासी प्रविष्टियों को हिसाब में लिया गया। पिटीशनर को समय-पूर्व सेवा-निवृत्त करने का राज्य सरकार का विनिश्चय मनमाना था और जो सामग्री राज्य सरकार के समक्ष थी, उसके आधार पर कोई भी युक्तिमान व्यक्ति इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकता था कि पिटीशनर की समय-पूर्व सेवा-निवृत्ति लोकहित में थीं।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 465-क का टिप्पण-1 सरकार को यह अधिकार प्रदत्त करता है कि वह किसी अधिकारी की 25 वर्ष की अर्हक सेवा की समाप्ति पर उसे लोकहित में सेवा-निवृत्त कर सके। लोकहित का अभिप्राय लोकसेवा के संदर्भ में लोकसेवा में दक्षता होती है। सरकारी सेवा में अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दक्षताशून्य होते हैं और उन्हें सेवा-निवृत्त करना लोकहित में होता है और इस प्रयोजन के लिए अनुच्छेद 465-क का टिप्पण-1 सरकार को यह शक्ति देता है कि वह ऐसे अधिकारी की सेवा अवधि को कम कर सके। इससे पूर्व कि किसी सरकारी अधिकारी से समयपूर्व सेवा-निवृत्त होने की अपेक्षा की जाए, राज्य सरकार को सद्भावी रूप से यह राय बनानी होगी कि ऐसा करना लोकहित में है। **भारत संघ** बनाम **जे० एन० सिन्हा** वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यदि राज्य सरकार सद्भावी रूप से यह राय बनाती है कि किसी सरकारी सेवक को लोकहित में सेवा-निवृत्त कर दिया जाना चाहिए, तो उस राय की शुद्धता को चुनौती न्यायालय में नहीं दी जा सकती। किन्तु व्यथित पक्षकार यह दलील पेश करने के लिए स्वतंत्र है

कि अध्यपेक्षित राय सद्भावी रूप से नहीं बनाई गई है अथवा विनिश्चय सांपार्श्विक आधारों पर आधारित है अथवा मनमाना है। यद्यपि नियमों के अधीन सरकारी सेवक को न्यूनतम सेवा की गारंटी प्राप्त है, फिर भी सरकार को यह शक्ति दी गई है कि वह ऐसे लोगों को, जिनका सेवा में बने रहना सरकार की राय के अनुसार लोकहित में नहीं है, अनिवार्य रूप से सेवा-निवृत्त करके अपने तंत्र को अधिक ऊर्जा सम्पन्न एवं दक्ष बना सके। समय पूर्व सेवा-निवृत्ति की विधिमान्यता पर विचार करते समय उच्च न्यायालय इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह सरकारी सेवक के ऐसे सेवा-अभिलेख का अनुशीलन करे, जो उसे समय पूर्व सेवा-निवृत्ति हेतु अध्यपेक्षित राय बनाने के लिए सरकार द्वारा ध्यान में रखा गया हो। (पैरा 9)

जब अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के किसी आदेश को इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि वह मनमाना अथवा असद्भावी है और साथ ही स्पष्ट विनिर्दिष्ट कथन किए जाते हैं, तो सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसे अभिवाक् का खंडन करने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करे और न्यायालय के समाधान के लिए ऐसे दस्तावेज भी प्रस्तुत करे, जो उस अभिवाक् का पूर्ण उत्तर हों। जब सेवापूर्व-निवृत्ति के किसी आदेश को चुनौती दी जाती है तो राज्य सरकार को ऐसी सामग्री अवश्य प्रस्तुत करनी चाहिए, जिससे न्यायालय का यह समाधान हो सके कि आदेश किसी ऐसी सामग्री के अभाव में अविधिमान्य नहीं है, जो विधि से युक्तियुक्त रूप से अवगत किसी युक्तिमान व्यक्ति की राय में अनिवार्य सेवा-निवृत्ति को न्यायोचित ठहराने वाले लोकहित के लिए पर्याप्त हो। उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए सतर्कता बरतने का भी निदेश दिया था कि न्यायाधीश सम्बद्ध राज्य या प्राधिकारी के निर्णय के स्थान पर अपना निर्णय नहीं दे सकते। किन्तु वे उस न्यूनतम पुनर्विलोकन से भी मुक्त नहीं हैं, जो प्रशासनिक विधि में सुस्थिर है और जो सांविधानिक बाध्यताओं पर आधारित है। न्यायालय की सम्बद्ध सामग्री पर विचार करने की अधिकारिता सामग्री की ऐसी परीक्षा तक सीमित है, जो मात्र यह दिखाने के लिए की जाए कि क्या किसी युक्तिमान व्यक्ति का यह समाधान हो सकता है कि सम्बद्ध अधिकारी की अनिबार्य सेवा-निवृत्ति लोकहित में आवश्यक है। यदि अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का आदेश असंगत सामग्री पर आधारित है अथवा महत्वपूर्ण सामग्री की उपेक्षा करता है अथवा विनिश्चय ऐसी अप्रचलित सामग्री पर आधारित है जो विनिश्चय के लिए अपेक्षाकृत कम सुसंगत है तो समय-पूर्व सेवा-निवृत्ति का आदेश दूषित हो जाएगा। (पैरा 10)

प्रस्तुत मामले में पिटीशनर ने यह प्राख्यान किया कि राज्य सरकार ने यह अध्यपेक्षित राय बनाने के लिए कि पिटीशनर की सेवा-निवृत्ति लोकहित में है, उसकी भूतपूर्व सेवा की संपूर्ण प्रविष्टियों को ध्यान में रखा था। पिटीशनर ने यह भी प्राख्यान किया है कि वर्ष 1948-49, 1951-52, 1952-53, 1954-55, 1958-59, 1962-63, 1964-65 तथा 1966-67 की प्रविष्टियां पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं, यद्यपि इन प्रविष्टियों को प्रतिकूल माना गया है। यह प्राख्यान अनुपूरक प्रतिशपथपत्र के पैरा 11 में अंतर्विष्ट प्राख्यानों से पूर्णतः समर्थित है। किन्तु राज्य की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथपत्र में यह प्राख्यान किया गया है कि एक विवेचन समिति (स्क्रीनिंग कमेटी) गठित की गई थी, जिसने पिटीशनर के संपूर्ण सेवा-अभिलेख पर, जिसके अंतर्गत प्रतिकूल प्रविष्टियां भी थीं, विचार किया था। विवेचन-समिति ने अपनी राय पिटीशनर की सेवा की सभी प्रविष्टियों तथा उसके संपूर्ण कार्य-संपादन के आधार पर व्यक्त की थी। राज्य सरकार की ओर से फाइल किए गए शपथपत्र में यह बात स्वीकार की गई है कि पूर्वोक्त प्रविष्टियां पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं, यद्यपि उन्हें प्रतिकूल माना गया था और समयपूर्व सेवा-निवृत्ति के प्रयोजन के लिए पिटीशनर के कार्य तथा आचरण पर विचार करते समय उनको ध्यान में रखा गया था। किसी गोपनीय टिप्पणी में प्रतिकूल रिपोर्ट के आधार पर कार्य नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों के आधार पर तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि वह सम्बद्ध व्यक्ति को संसूचित न कर दी जाए ताकि वह अपने कार्य तथा आचरण में सुधार करने का अवसर पा सके अथवा उन परिस्थितियों के सम्बन्ध में स्पष्टीकरण दे सके, जिनसे रिपोर्ट का जन्म हुआ है। ऐसा अवसर खोखली औपचारिकता मात्र नहीं है। इसका आंशिक उद्देश्य यह है कि वरिष्ठ प्राधिकारी सम्बद्ध व्यक्ति द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण पर विचार करने के पश्चात् यह विनिश्चय करने में समर्थ हो सके कि प्रतिकूल रिपोर्ट न्यायोचित है अथवा नहीं। उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया मत समयपूर्व सेवानिवृत्ति को पूर्णतः लागू होता है। चूंकि प्रतिकूल प्रविष्टियां पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं, अतः उसे अभ्यावेदन के अवसर से वंचित रखा गया था और किसी ने भी यह विनिश्चय नहीं किया है कि प्रतिकूल प्रविष्टियां न्यायोचित थीं अथवा नहीं। (पैरा 11)

जब एक बार किसी सरकारी सेवक को दक्षतारोध पार करना अनुज्ञात कर दिया जाता है अथवा वह उच्चतर श्रेणी में या पद पर प्रोन्नत कर दिया जाता है तो उस अवधि से पूर्व की अवधि की प्रतिकूल प्रविष्टियां मिट जाती हैं। इन कारणों से हमारी राय है कि अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का आदेश दूषित

हो गया है, क्योंकि यह उन पुरानी प्रविष्टियों पर आधारित है, जो बासी और निष्प्रभाव हो गई थीं, फिर भी अध्यपेक्षित राय बनाने में उन्हें ध्यान में रखा गया था। पिटीशनर का नाम 1962 में भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के लिए चयन-सूची में सम्मिलित किया गया था और वह 1967 तक उस सूची में सम्मिलित किया जाता रहा। फलतः पिटीशनर उस अवधि के दौरान भारतीय पुलिस सेवा में स्थानापन्न रूप में पद धारण करता रहा। वर्ष 1967 में तैयार की गई चयन-सूची में पिटीशनर का नाम सम्मिलित नहीं किया गया। उसने सफलतापूर्वक उसकी विधिमान्यता को चुनौती दे दी और वह अंततः इस न्यायालय द्वारा तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिखंडित कर दी गई। न्यायालय के समक्ष लंबित मुकदमेबाजी के दौरान दिसम्बर, 1969 में वर्ष 1970 के लिए एक चयन-सूची तैयार की गई। पिटीशनर को प्रोन्नति के लिए उपयुक्त पाया गया और उसका नाम चयन-सूची में सम्मिलित किया गया। वह सूची दो साल तक प्रवृत्त रही। वर्ष 1972 में दूसरी चयन सूची तैयार की गई, किन्तु उसमें पिटीशनर का नाम सम्मिलित नहीं किया गया। उसके पश्चात् पिटीशनर की अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के पश्चात्, दिसम्बर, 1974 में एक चयन-सूची तैयार की गई। यह द्रष्टव्य है कि चयन-सूची भारतीय पुलिस सेवा (प्रोन्नति द्वारा नियुक्ति) विनियमों के विनियम 5(4) के अनुसार गुणागुण के मूल्यांकन के आधार पर तैयार की गई थी। पिटीशनर के नाम के चयन-सूची में सम्मिलित किए जाने से यह स्पष्टतः उपदर्शित होता है कि प्रतिकूल प्रविष्टियों के बावजूद भी उसे भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के योग्य पाया गया। अब पिटीशनर के सेवा जीवन को कम करने के लिए उन प्रतिकूल प्रविष्टियों को आधार नहीं बनाया जा सकता। जबकि यह सही है कि प्रोन्नति के बावजूद भी पिटीशनर को अनिवार्यतः सेवा-निवृत्त किया जा सकता था, यदि 1970 के पश्चात् उसकी दक्षता इतनी कम हो गई होती कि उसका सेवा में बने रहना लोकहित में नहीं होता, किन्तु ऐसी स्थिति प्रस्तुत मामले में उपलब्ध नहीं थी। प्रस्तुत मामले में निर्णय के पैरा 15 में निर्दिष्ट विभिन्न वर्षों की प्रविष्टियों में से कुछ में पिटीशनर के कार्य तथा उसकी दक्षता को अत्यंत ऊंचा नहीं वताया गया। किन्तु पिटीशनर के प्रतिकूल या उसकी अपख्यातिद्योतक कोई बात अभिलिखित नहीं की गई केवल इस बात को छोड़ कर कि पिटीशनर को यह सलाह दी गई कि वह अधिक अनमनीय न रहे और अधिक व्यवहारकुशल बने। प्रविष्टियों से यह दर्शित नहीं होता कि पिटीशनर सेवा में अनुपयोगी हो गया था और उसका हटाया जाना लोकहित में आवश्यक था। ऊपर उद्धृत प्रविष्टियों से यह दर्शित होता है कि पिटीशनर का कार्य

उत्तम था और उसे असंदिग्ध ईमानदारी की ख्याति प्राप्त थी। (पैरा 14 और 16)

		पैरा
[1970]	(1670) 2 एस० सी० सी० 836 : आर० एल० बुटाइल बनाम भारत संघ (R. L. Butyle *Vs.* Union of India) ;	12
[1900]	ए० आई० आर० 1900 एस० सी० 563 : भारत संघ बनाम एम० ई० रेड्डी (Union of India *Vs.* M. E. Reddy) ;	12
[1982]	ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 793 : डी० रामास्वामी बनाम तमिलनाडु राज्य (D. Ramaswami *Vs.* State of Tamilnadu) ;	14
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 70 : बलदेव राज चड्ढा बनाम भारत संघ (Baldev Raj Chadha *Vs.* Union of India) ;	10
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 296 : (स्वामी सरन सक्सेना बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Swami Saran Saxena *Vs.* State of Uttar Pradesh) ;	14
[1979]	ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1622 : गुरदयाल सिंह बनाम पंजाब राज्य (Gurdayal Singh *Vs.* State of Punjab) ;	11
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2411 : उत्तर प्रदेश राज्य बनाम चन्द्र मोहन (State of Uttar Pradesh *Vs.* Chandra Mohan) ;	10
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1766 : रिजनल मैनेजर बनाम पवन कुमार दूबे (Regional Manager *Vs.* Pawan Kumar Dubey) ;	14
[1971]	ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 41 : भारत संघ बनाम जे० एन० सिन्हा (Union of India *Vs.* J. N. Sinha) ;	9

[1970] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 2086 : पंजाब राज्य बनाम दीवान चुन्नी लाल (State of Punjab *Vs*. Dewan Chunni Lal) ;
का अवलम्ब लिया गया ।

[1983] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 130 : डी० एस० नकारा बनाम भारत संघ (D.S. Nakara *Vs*. Union of India) ;

[1981] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 594 : बृज बिहारी लाल बनाम उच्च न्यायालय, मध्य प्रदेश (Brij Behari Lal *Vs*. High Court of Madhya Pradesh) ;

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 2065 : सुपरिंटेंडेंट ऑफ टैक्स बनाम ओ० एन० ट्रस्ट (Superintendent of Tax *Vs*. O. N. Trust) ;

[1954] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 369 : श्याम लाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Shyam Lal *Vs*. State of Uttar Pradesh) ;
निर्दिष्ट किए गए ।

आरम्भिक (सिविल) रिट अधिकारिता : 1975 का रिट पिटीशन सं० 664.

संविधान के अनुच्छेद 226 तथा 227 के अधीन रिट पिटीशन ।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री एस० पी० गुप्त, डी० एन० वली तथा एस० सी० खरे

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री जे० एन० तिवारी

न्यायालय का निर्णय न्या० के० एन० सिंह ने दिया ।

न्या० सिंह :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन द्वारा पिटीशनर ने 28-11-1974 के राज्य सरकार के उस आदेश की विधिमान्यता को चुनौती दी है, जिसके द्वारा पिटीशनर को सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 464-क के टिप्पण-1 के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए रा

सरकार ने अनिवार्य रूप से सेवा निवृत्त कर दिया था और उसे नोटिस अवधि के स्थान पर तीन मास का वेतन दे दिया था।

2. पिटीशनर उत्तर प्रदेश राज्य पुलिस सेवा में मई, 1947 में आया था। सन् 1962 में उसे राज्य पुलिस सेवा की चयन श्रेणी में अधिष्ठायी रूप से नियुक्त किया गया था। नवम्बर, 1961 में उसका नाम भारतीय पुलिस सेवा के ज्येष्ठ वेतन-मान में स्थानापन्न पद पर नियुक्ति के लिए भारतीय पुलिस सेवा (प्रोन्नति सेवा नियुक्ति) विनियमों के अनुसार तैयार की गई सूची में सम्मिलित किया गया था। उसे 16-7-1962 से भारतीय पुलिस सेवा के ज्येष्ठ वेतन-मान में स्थानापन्न रूप में कार्य करने के लिए अनुज्ञात किया गया था। पिटीशनर का नाम 1967 तक चयन सूची में सम्मिलित किया जाता रहा और इस सम्पूर्ण अवधि भर पिटीशनर भारतीय पुलिस सेवा के ज्येष्ठ वेतन-मान में स्थानापन्न रूप में काम करता रहा। पिटीशनर का नाम भारतीय पुलिस सेवा (प्रोन्नति द्वारा नियुक्ति) विनियमों के विनियम 5(4) के अनुसार तैयार की गई 1968 के लिए चयन-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया और उसके स्थान पर चयन-सूची में उसके कनिष्ठ अधिकारियों का नाम सम्मिलित किया गया। चूंकि पिटीशनर का नाम चयन सूची में सम्मिलित नहीं किया गया था, अतः उसे राज्य संवर्ग में पुलिस अधीक्षक के पद पर प्रत्यावर्तित कर दिया गया। पिटीशनर ने 1968 का रिट पिटीशन संख्या 2771 इस न्यायालय में फाइल किया, जिसके द्वारा उसने अपने प्रत्यावर्तन एवम् भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के लिए तैयार की गई सन् 1968 की चयन-सूची को भी चुनौती दी। रिट पिटीशन इस न्यायालय द्वारा 27-3-1969 को मंजूर कर लिया गया और चयन-सूची को तथा उस आदेश को भी अभिखण्डित कर दिया गया, जिसके द्वारा पिटीशनर को अधिष्ठायी पद पर प्रत्यावर्तित किया गया था। उत्तर प्रदेश राज्य ने उच्चतम न्यायालय में अपील की किन्तु उच्चतम न्यायालय ने इस न्यायालय के निर्णय को अपने 26-9-1973 के आदेश द्वारा कायम रखा। यह निर्णय ए० आई० आर० 1974, सुप्रीम कोर्ट 87 में प्रतिवेदित (रिपोर्टेड) है। इस न्यायालय तथा उच्चतम न्यायालय के निर्णय के अनुसरण में 1968 की चयन-सूची नए सिरे से 1974 में तैयार की गई किन्तु पिटीशनर का नाम चयन-सूची में सम्मिलित नहीं किया गया। परन्तु पिटीशनर का नाम इससे पूर्व ही 1970 में तैयार की गई चयन-सूची में सम्मिलित कर लिया गया था और उसे रेलवे के पुलिस अधीक्षक के पद पर प्रोन्नत कर दिया गया था। यह पद राज्य पुलिस सेवा की विशेष श्रेणी का पद था। जब पिटीशनर आगरा के डकैती विरोधी

अभियान में स्थानापन्न पुलिस अधीक्षक तैनात था, तो राज्य सरकार ने 28-11-1974 को सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 465-क के टिप्पण-1 के अधीन शक्ति का प्रयोग करते हुए आदेश जारी किया, जिसके द्वारा पिटीशनर की आयु 50 वर्ष हो जाने पर उसे अनिवार्यतः सेवानिवृत्त कर दिया गया। व्यथित होकर पिटीशनर ने राज्य सरकार के आदेश की विधिमान्यता को चुनौती दी है।

3. रिट पिटीशन के लम्बित रहने के दौरान पिटीशनर इस न्यायालय के 24-1-1975 के अंतरिम आदेश के अधीन सेवा में बना रहा। वह अपना वेतन लेता रहा और सेवा की सभी सुविधाएं भोगता रहा है। उसने 58 वर्ष की अधिवर्षिता-आयु प्राप्त कर ली और 31-7-1981 को सेवा-निवृत्त हो गया। जब रिट पिटीशन हमारे सामने सुनवाई के लिए प्रस्तुत किया गया तो हमने स्थायी काउंसेल को यह निदेश दिया कि वे राज्य सरकार से पूछें कि क्या पिटीशनर को उस अवधि के दौरान कर्तव्य पर माना जाएगा, जब वह इस न्यायालय के अन्तरिम आदेश के अधीन सेवा में रहा। और क्या उसे पेंशन उपदान, छुट्टी के बदले नकद भुगतान और अन्य संबद्ध बातों के संबंध में प्रसुविधाएं दी जाएंगी। ऐसा इसलिए किया गया है, क्योंकि राज्य सरकार की ओर से यह दलील दी गई थी कि चूंकि पिटीशनर अधिवर्षिता आयु प्राप्त करने के बाद सेवा-निवृत्त हो गया था, अतः रिट पिटीशन निरर्थक हो गया। दूसरी ओर पिटीशनर ने यह दलील दी कि चूंकि पिटीशनर अपनी अधिवर्षिता तक सेवा में बना रहा, अतः वह सम्पूर्ण सुविधाओं का हकदार था, यद्यपि कि वह इस न्यायालय के अंतरिम आदेश के अधीन सेवा करता रहा था। राज्य सरकार के गृह विभाग के संयुक्त सचिव श्री हरिमोहन सिंह ने शपथ-पत्र फाइल किया था, जिसमें यह प्रकथन किया है कि राज्य सरकार का यह विचार है कि 28-11-1974 के पश्चात् पिटीशनर द्वारा की गई सेवा को उसकी पेंशन तथा छुट्टी, उपदान, नकद भुगतान आदि जैसी पैंशन संबंधी अन्य प्रसुविधाओं के प्रयोजन के लिए हिसाब में नहीं लिया जाएगा। अनुपूरक प्रति शपथ-पत्र में अपनाया गया रुख यह है कि पेंशन संबंधी सुविधाओं के प्रयोजन के लिए पिटीशनर को सेवा में नहीं माना जाएगा, क्योंकि वह 28-11-1974 को अनिवार्य रूप से सेवा-निवृत्त कर दिया गया था।

4. सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 465-क के अधीन निवृत्ति-पेंशन ऐसे अधिकारी को दी जाती है, जिससे 50 वर्ष की आयु पूरी करने पर अथवा 25 वर्ष की अर्हक सेवा पूरी करने पर सरकारी सेवा से निवृत्त होने की अपेक्षा

की जाती है। अनुच्छेद 474 से 495 के साथ पठित अनुच्छेद 468 में सेवा अवधि के अनुसार पेंशन की रकम के अवधारणार्थ उपबंध किया गया है। उपदान, छुट्टी के लिए नकद भुगतान तथा अन्य पेंशन संबंधी प्रसुविधाए सरकारी अधिकारी द्वारा उसकी सेवा अवधि के आधार पर अर्जित की जाती हैं। पेंशन संबंधी प्रसुविधाए न तो बाउंटी हैं और न ही अनुग्रह-धन। अतः वे सरकार की स्वेच्छा पर निर्भर नहीं हैं, बल्कि वे निहित अधिकार हैं, जो कानूनी सिविल सेवा विनियमों में अन्तर्विष्ट नियमों के अध्यधीन हैं। पेंशन अनुग्रह धन नहीं होती, बल्कि वह भूतपूर्व सेवा के लिए ऐसा संदाय है, जो भूतकाल में की गई निष्ठापूर्ण सेवा के लिए न केवल प्रतिकर होता है, बल्कि इसका महत्व और भी व्यापक है क्योंकि यह सामाजिक-आर्थिक न्याय का एक अध्युपाय है, जो सरकारी सेवक को उस समय प्राप्त होता है जब उसकी शारीरिक और मानसिक शक्ति क्षीण होने लगती है। 'पेंशन' पद की न्यायिक परिभाषा यह है कि पेंशन ऐसा भत्ता या वृत्तिका (स्टाइपेंड) है जो सेवक को उसकी भूतपूर्व सेवा के प्रतिफल के रूप में दिया जाता है अथवा ऐसे व्यक्ति को, जो सेवा-निवृत्त हो गया है उसके अधिकारों या परिलब्धियों के अभ्यर्पण-प्रतिफल के रूप में दिया जाता है, जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **डी० एस० नकारा बनाम भारत संघ**[1] में अभिनिर्धारित किया है। सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 465-क के अधीन समयपूर्व सेवा निवृत्त अधिकारी पेंशन का हकदार होता है। उक्त उपबंध के अधीन समय पूर्व सेवा निवृत्ति का आदेश पदच्युति अथवा सेवा से हटाए जाने का आदेश नहीं होता है। अतः उसका पेंशन प्राप्त करने का अधिकार अप्रभावित बना रहता है। **श्याम लाल बनाम उत्तर प्रदेश**[2] में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि कोई अधिकारी, जिसे अनिवार्यतः सेवा-निवृत्त कर दिया गया है, अपनी अर्जित प्रसुविधाओं का कोई भाग नहीं खोता, अनिवार्य सेवा निवृत्ति पर वह अपनी ऐसी पेंशन संबंधी प्रसुविधाओं का हकदार होगा, जो उसने वस्तुतः अर्जित की हों। प्रोद्भूत प्रसुविधा में किसी प्रकार की कोई कमी नहीं होती। इस प्रतिज्ञा (प्रीमाइज) के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अनिवार्य सेवा निवृत्ति पदच्युति या सेवा से हटाया जाना नहीं होता। अतः ऐसे मामले को संविधान का अनुच्छेद 311 अथवा नियम 55 लागू नहीं होता।

5. पिटीशनर निस्संदेह पेंशन का हकदार है। किन्तु प्रत्यर्थियों की

---

[1] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 130.

[2] ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 369.

दलील यह है कि वे पेंशन तथा पेंशन संबंधी प्रसुविधाओं का अवधारण करते समय प्रत्यर्थी पिटीशनर की उस सेवा अवधि को हिसाब में नहीं लेंगे, जो 28-11-1974 से बाद की है, यह वह तारीख है, जब पिटीशनर को समयपूर्व सेवा निवृत्त कर दिया गया था। प्रत्यर्थी ने यह आधार अपनाया है कि उसके पश्चात् पिटीशनर ने जो सेवा की है वह न्यायालय के अंतरिम आदेश पर आधारित है। प्रत्यर्थियों का यह अविवाक् मान्य नहीं प्रतीत होता। 24-1-1975 को इस न्यायालय के खण्ड न्यायपीठ ने रिट पिटीशन ग्रहण करते समय निम्नलिखित शब्दों में अन्तरिम आदेश पारित किया था :—

> "नोटिस जारी करें। जब तक न्यायालय आगे आदेश नहीं करता 28-11-1974 का आक्षेपित आदेश, जिसके द्वारा पिटीशनर को अनिवार्यतः सेवा निवृत्त किया गया है, प्रभावी नहीं किया जाएगा।"

राज्य ने न्यायालय के समक्ष पूर्वोक्त अंतरिम आदेश को प्रभावोन्मुक्त करने के लिए आवेदन फाइल किया। दोनों पक्षकारों को सुनने के पश्चात् न्यायालय ने 5-5-1975 को निम्नलिखित आदेश पारित किया :—

> "पक्षकारों के विद्वान काउन्सेलों को सुना। 24-1-1975 के अंतरिम आदेश को इस उपांतरण सहित पुष्ट किया जाता है कि प्रत्यर्थी पिटीशनर से काम लेने के लिए बाध्य नहीं होंगे किन्तु प्रत्यर्थी ऐसे वेतन और अन्य भत्तों का संदाय जारी रखेंगे, जिनके लिए पिटीशनर समय-समय पर हकदार होगा।"

उपर्युक्त आदेश के अधीन राज्य सरकार पिटीशनर से काम लेने के लिए आबद्ध नहीं थी या इस बात के लिए आबद्ध नहीं थी कि वह पिटीशनर को सरकारी सेवा करना अनुज्ञात करे। 24-1-1975 का अन्तरिम आदेश आत्यन्तिक शब्दों में था जिसके द्वारा यह अपेक्षित था कि प्रत्यर्थी पिटीशनर को सेवा करना अनुज्ञात करे। किन्तु 5-5-1975 के आदेश द्वारा उपांतरण के पश्चात् प्रत्यर्थियों पर ऐसी कोई विधिक बाध्यता नहीं थी कि वे पिटीशनर को सेवा करना अनुज्ञात करें। तथापि राज्य सरकार ने पिटीशनर से कार्य लेने के विकल्प का प्रयोग किया। और उसने पिटीशनर को स्थानापन्न पुलिस अधीक्षक (विशेष कार्य अधिकारी) तैनात किया और उसे नियमों तथा विनियमों के पुनरीक्षण का एवं मुरादाबाद पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय के विभिन्न प्रकाशनों के पुनरीक्षण का कार्य सौंपा। पिटीशनर इस पद पर अपनी अधिवर्षिता-आयु प्राप्त करने तक बना रहा। उस अवधि के दौरान, जब पिटीशनर पुलिस प्रशिक्षण महाविद्यालय

में तैनात था, उसकी चरित्र-पंजी की विशिष्टियों के अनुशीलन से यह प्रकट होता है कि उसका कार्य समाधानप्रद था और उसके कार्य का सर्वांगीण मूल्यांकन ऋजु (फेयर) था।

6. राज्य द्वारा अपनायी गई कार्य पद्धति इस न्यायालय के अन्तरिम आदेश का सीधा परिणाम नहीं थी। प्रत्यर्थियों को इस न्यायालय ने इस बात की पूरी स्वतन्त्रता दी थी कि वह पिटीशनर से काम न लें। किन्तु उसके पश्चात् भी पिटीशनर से यह अपेक्षा की गई कि वह सेवा करे और उसने दक्षता-पूर्वक सेवा की। प्रत्यर्थी अब वापस मुड़ कर यह नहीं कह सकता कि रिट पिटीशन के लंबित रहने के दौरान पिटीशनर द्वारा की गई सेवा की अवधि उसकी पैंशन एवं प्रसुविधाओं के अवधारण के लिए हिसाब में नहीं ली जाएगी। कोई पक्षकार न्यायालय के आदेश के अधीन प्रसुविधा प्राप्त करने के साथ ही साथ पारित आदेशजन्य परिणाम के लिए न्यायालय पर इस प्रकार दोषारोपण नहीं कर सकता कि वह यह अभिवाक् कर सके कि न्यायालय के कार्य से किसी की हानि नहीं होती, जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा **सुपरिन्टेन्डेन्ट आफ टैक्स बनाम ओ० एन० ट्रस्ट**[1] वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है। इन कारणों से, हमारी राय में, उस सेवा की अवधि, जो पिटीशनर ने इस पिटीशन के लंबित रहने के दौरान की, पैंशन तथा अन्य धन संबंधी प्रसुविधाओं के अनुदान के प्रयोजन के लिए पिटीशनर द्वारा की गई सेवा की अवधि के अवधारण में हिसाब में ली जाएगी। केवल इस बात से कि पिटीशनर सेवा में अन्तरिम आदेश के अनुसरण में बना रहा, उसकी पैंशन संबंधी प्रसुविधाओं पर प्रतिकूल प्रभाव नहीं पड़ेगा।

7. इस निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए कि रिट पिटीशन के लंबित रहने के दौरान पिटीशनर द्वारा की गई सेवा की अवधि उसकी पैंशन तथा अन्य पैंशन संबंधी प्रसुविधाओं का अवधारण करने में हिसाब में ली जाएगी, यह आवश्यक नहीं है कि अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के आदेश की विधिमान्यता पर गुणागुण के आधार पर विचार किया जाए, किन्तु चूंकि पक्षकारों के विद्वान् काउन्सलों ने उस आदेश की विधिमान्यता के संबंध में बहस की है, अतः हम उस पर विचार करना उचित समझते हैं।

8. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी है कि सरकार का पिटीशनर को समय पूर्व सेवा-निवृत्त करने का विनिश्चय लोकहित में नहीं था,

---

[1] ए० आई० आर० 1975 एस० सी 2065.

क्योंकि सरकार ने ऐसी बासी और पुरानी प्रविष्टियों को ध्यान में रखा, जो पूर्णत: असंगत हो गई थीं। साथ ही ऐसी प्रविष्टियां भी ध्यान में रखी गई, जो पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं। हाल की प्रविष्टियों को ध्यान में नहीं रखा गया और न ही उन्हें महत्व दिया गया और उनके स्थान पर पुरानी और बासी प्रविष्टियों को हिसाब में लिया गया। पिटीशनर को समयपूर्व सेवा निवृत्त करने का राज्य सरकार का विनिश्चय मनमाना था और जो सामग्री राज्य सरकार के समक्ष थी, उसके आधार पर कोई भी युक्तिमान व्यक्ति इस निष्कर्ष पर नहीं पहुंच सकता था कि पिटीशनर की समय पूर्व सेवा-निवृत्ति लोकहित में थी।

9. सिविल सेवा विनियमों के अनुच्छेद 465-क का टिप्पण-1 सरकार को यह अधिकार प्रदत्त करता है कि वह किसी अधिकारी की 25 वर्ष की अर्हक सेवा की समाप्ति पर उसे लोकहित में सेवा-निवृत्त कर सके। लोकहित का अभिप्राय लोकसेवा के संदर्भ में लोकसेवा में दक्षता होती है। सरकारी सेवा में अनेक ऐसे व्यक्ति होते हैं, जो दक्षता-शून्य होते हैं और उन्हें सेवा-निवृत्त करना लोकहित में होता है और इस प्रयोजन के लिए अनुच्छेद 465-क का टिप्पण-1 सरकार को यह शक्ति देता है कि वह ऐसे अधिकारी की सेवा अवधि को कम कर सके। इससे पूर्व कि किसी सरकारी अधिकारी से समयपूर्व सेवा-निवृत्त होने की अपेक्षा की जाए, राज्य सरकार को सद्भावी रूप से यह राय बनानी होगी कि ऐसा करना लोकहित में है। **भारत संघ** बनाम **जे० एन० सिन्हा**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि यदि राज्य सरकार सद्भावी रूप से यह राय बनाती है कि किसी सरकारी सेवक को लोकहित में सेवा-निवृत्त कर दिया जाना चाहिए, तो उस राय की शुद्धता को चुनौती न्यायालय में नहीं दी जा सकती। किन्तु व्यथित पक्षकार यह दलील पेश करने के लिए स्वतंत्र है कि अध्यपेक्षित राय सद्भावी रूप से नहीं बनायी गई है अथवा विनिश्चय संपार्श्विक आधारों पर आधारित है अथवा मनमाना है। यद्यपि नियमों के अधीन सरकारी सेवक को न्यूनतम सेवा की गारंटी प्राप्त है फिर भी सरकार को यह शक्ति दी गई है कि वह ऐसे लोगों को, जिनका सेवा में बने रहना सरकार की राय के अनुसार लोकहित में नहीं है, अनिवार्य रूप से सेवा-निवृत्त करके अपने तंत्र को अधिक ऊर्जा सम्पन्न एवं दक्ष बना सके। समयपूर्व सेवा-निवृत्ति की विधिमान्यता पर विचार करते समय उच्च

---

[1] ए० आई० आर० 1971 एस० सी० 41.

न्यायालय इस बात के लिए स्वतंत्र है कि वह सरकारी सेवक के ऐसे सेवा-अभिलेख का अनुशीलन करे, जो उसे समयपूर्व सेवा-निवृत्त करने हेतु अध्यपेक्षित राय बनाने के लिए सरकार द्वारा ध्यान में रखा गया हो।

10. **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **चन्द्र मोहन**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जब अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के किसी आदेश को इस आधार पर चुनौती दी जाती है कि वह मनमाना अथवा असद्भावी है और साथ ही स्पष्ट विनिर्दिष्ट कथन किए जाते हैं, तो सरकार का यह कर्त्तव्य होगा कि वह ऐसे अभिवाक् का खण्डन करने के लिए आवश्यक सामग्री प्रस्तुत करे और न्यायालय के समाधान के लिए ऐसे दस्तावेज भी प्रस्तुत करे, जो उस अभिवाक् का पूर्ण उत्तर हों। **बलदेव राज चड्ढा** बनाम **भारत संघ**[2] में उच्चतम न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि जब सेवापूर्व निवृत्ति के किसी आदेश को चुनौती दी जाती है तो राज्य सरकार को ऐसी सामग्री अवश्य प्रस्तुत करनी चाहिए, जिससे न्यायालय का यह समाधान हो सके कि आदेश किसी ऐसी सामग्री के अभाव में अविधिमान्य नहीं है, जो विधि से युक्तियुक्त रूप से अवगत किसी युक्तिमान व्यक्ति की राय में लोकसेवक की अनिवार्य सेवा-निवृत्ति को न्यायोचित ठहराने वाले लोकहित के आधार के लिए पर्याप्त हो। उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त करते हुए सतर्कता बरतने का भी निदेश दिया था कि न्यायाधीश संबद्ध राज्य या प्राधिकारी के निर्णय के स्थान पर अपना निर्णय नहीं दे सकते। किन्तु वे उस न्यूनतम पुनर्विलोकन से भी मुक्त नहीं हैं, जो प्रशासनिक विधि में सुस्थिर है और जो सांविधानिक बाध्यताओं पर आधारित है। न्यायालय की संबद्ध सामग्री पर विचार करने की अधिकारिता सामग्री की ऐसी परीक्षा तक सीमित है, जो मात्र यह देखने के लिए की जाए कि क्या किसी युक्तिमान व्यक्ति का यह समाधान हो सकता है कि संबद्ध अधिकारी की अनिवार्य सेवा-निवृत्ति लोकहित में आवश्यक है। यदि अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का आदेश असंगत सामग्री पर आधारित है अथवा महत्वपूर्ण सामग्री की उपेक्षा करता है अथवा विनिश्चय ऐसी अप्रचलित सामग्री पर आधारित है, जो विनिश्चय के लिए अपेक्षाकृत कम सुसंगत है, तो समयपूर्व सेवानिवृत्ति का आदेश दूषित हो जाएगा।

11. प्रस्तुत मामले में पिटीशनर ने यह प्राख्यान किया कि राज्य सरकार ने यह अध्यपेक्षित राय बनाने के लिए कि पिटीशनर की सेवा-निवृत्ति

---

[1] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2411.

[2] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 70.

लोकहित में है, उसकी भूतपूर्व सेवा की सम्पूर्ण प्रविष्टियों को ध्यान में रखा था। पिटीशनर ने यह भी प्राख्यान किया है कि वर्ष 1948-49, 1951-52, 1952-53, 1954-55, 1958-59, 1962-63, 1964-65 तथा 1966-67 की प्रविष्टियां पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं, यद्यपि इन प्रविष्टियों को प्रतिकूल माना गया है। यह प्राख्यान प्रभाकान्त तिवारी द्वारा फाइल किए गए अनुपूरक प्रतिशपथ-पत्र के पैरा 11 में अन्तर्विष्ट प्राख्यानों से पूर्णतः समर्थित है। किन्तु राज्य की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में यह प्राख्यान किया गया है कि एक विवेचन समिति (स्क्रीनिंग कमेटी) गठित की गई थी, जिसने पिटीशनर के सम्पूर्ण सेवा-अभिलेख पर, जिसके अन्तर्गत प्रतिकूल प्रविष्टियां भी थीं, विचार किया था। विवेचन समिति ने अपनी राय पिटीशनर की सेवा की सभी प्रविष्टियों तथा उसके सम्पूर्ण कार्य-सम्पादन के आधार पर व्यक्त की थी। राज्य सरकार की ओर से फाइल किए गए शपथ-पत्र में यह बात स्वीकार की गई है कि पूर्वोक्त प्रविष्टियां पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं यद्यपि उन्हें प्रतिकूल माना गया था और समयपूर्व सेवा-निवृत्ति के प्रयोजन के लिए पिटीशनर के कार्य तथा आचरण पर विचार करते समय उनको ध्यान में रखा गया था। **गुरदयाल सिंह** बनाम **पंजाब राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी गोपनीय टिप्पणी में प्रतिकूल रिपोर्ट के आधार पर कार्य नैसर्गिक-न्याय के सिद्धान्तों के आधार पर तब तक नहीं किया जा सकता, जब तक कि वह सम्बद्ध व्यक्ति को संसूचित न कर दी जाए, ताकि वह अपने कार्य तथा आचरण में सुधार करने का अवसर पा सके अथवा उन परिस्थितियों के संबंध में स्पष्टीकरण दे सके, जिनसे रिपोर्ट का जन्म हुआ है। ऐसा अवसर खोखली औपचारिकता मात्र नहीं है। इसका आंशिक उद्देश्य यह है कि वरिष्ठ प्राधिकारी सम्बद्ध व्यक्ति द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण पर विचार करने के पश्चात् यह विनिश्चय करने में समर्थ हो सके कि प्रतिकूल रिपोर्ट न्यायोचित है अथवा नहीं। उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त किया गया मत समयपूर्व सेवानिवृत्ति को पूर्णतः लागू होता है। चूंकि प्रतिकूल प्रविष्टियां पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थीं। अतः उसे अभ्यावेदन के अवसर से वंचित रखा गया था और किसी ने भी यह विनिश्चय नहीं किया है कि प्रतिकूल प्रविष्टियां न्यायोचित थीं अथवा नहीं।

12. **भारत संघ** बनाम **एम० ई० रेड्डी**[2] वाले मामले का अवलम्ब

---

[1] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1622.

[2] ए० आई० आर० 1900 एस० सी 563.

लेते हुए विद्वान् स्थायी काउंसेल ने यह निवेदन किया कि आदेश प्रविष्टियों की संसूचना के अभाव में भी अविधिमान्य नहीं होगा। हमारी राय में, उच्चतम न्यायालय ने ऊपर वर्णित विनिश्चय में इतनी व्यापक प्रस्थापना नहीं अधिकथित की है। उस मामले में प्रत्यर्थी की ओर से किया गया निवेदन यह था कि सम्बद्ध आदेश ऐसी सामग्री के आधार पर पारित किया गया था, जो अस्तित्व में ही नहीं थी, क्योंकि प्रत्यर्थी के विरुद्ध कोई भी प्रतिकूल टिप्पण नहीं था और उसका सम्पूर्ण सेवा-जीवन निष्कलंक था और यदि ऐसे टिप्पण उसकी गोपनीय रिपोर्ट में थे, तो उन्हें नियमों के अधीन उसे संसूचित किया जाना चाहिए था। इस दलील को अस्वीकार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि नियमों के अधीन यह आवश्यक नहीं है कि संबद्ध अधिकारी को प्रत्येक प्रतिकूल प्रविष्टि या टिप्पण संसूचित किया जाए। कुछ टिप्पण शुद्धतः अनपकारी (इन्नोकुअस) हो सकते हैं अथवा सामान्य ईमानदारी या निष्ठा के संबंध में अधिकारी-विशेष की साधारण ख्याति से संबधित हो सकते हैं। **आर० एल० बुटाइल** बनाम **भारत संघ**[1] में मुख्य न्यायाधिपति श्री हिदायतुल्लाह के मतों को इस प्रस्थापना के संबंध में उद्धृत किया गया कि मामूली तौर पर यह आवश्यक नहीं है कि गोपनीय रिपोर्ट में विनिर्दिष्ट घटनाएं दी जाएं, जिनके आधार पर मूल्यांकन किया जाता है। यह भी मत व्यक्त किया गया है कि रेड्डी से संबंधित प्रविष्टियों से यह उपदर्शित होता था कि उसकी ईमानदारी असंदिग्ध न थी, अतः रेड्डी के मामले में दिया गया विनिश्चय यह नहीं अधिकथित करता कि संबद्ध अधिकारी को प्रविष्टियों की असंसूचना का सभी परिस्थितियों में कुछ भी परिणाम नहीं होता चाहे प्रविष्टियों की अन्तर्वस्तु की प्रकृति और उनकी संसूचना से सम्बद्ध सुसंगत नियम कुछ भी हों। रेड्डी के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि यदि किसी अधिकारी की ईमानदारी संदिग्ध हो तो उसका मामला एक भिन्न वर्ग में ही आता है। उस मामले में संबद्ध अधिकारी की ईमानदारी पर सन्देह व्यक्त करने वाली प्रतिकूल प्रविष्टि थी और उस आधार पर उच्चतम न्यायालय ने अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के आदेश को कायम रखा था, क्योंकि संदिग्ध ईमानदारी का अधिकारी एक भिन्न प्रवर्ग में आता है और उसे सेवा में बनाए रखना निश्चय ही लोकहित में नहीं होता। इस विशेष परिस्थिति की पृष्ठभूमि में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि ऐसी प्रविष्टि की असंसूचना आदेश के लिए घातक नहीं थी।

---

[1] (1970) 2 एस० सी० सी० 876.

13. पश्चात्वर्ती विनिश्चय **बृज बिहारी लाल** बनाम **उच्च न्यायालय, मध्य प्रदेश**[1] में रेड्डी के मामले के प्रति भी निर्देश किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने रेड्डी के मामले पर विचार करने के पश्चात् अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के आदेश को इस आधार पर अभिखण्डित कर दिया कि ऐसी प्रतिकूल प्रविष्टि, जो पिटीशनर को संसूचित नहीं की गई थी, ध्यान में रखी गई थी। उच्चतम न्यायालय ने इस बात पर बल दिया कि सम्बद्ध सरकारी सेवक की गोपनीय रिपोर्टों में की गई प्रतिकूल प्रविष्टियों का संसूचित किया जाना आवश्यक होता है। अतः हमारी राय यह है कि रेड्डी के मामले से इस विधिक स्थिति पर कोई प्रभाव नहीं पड़ता कि यदि लोकहित में किसी सरकारी सेवक को सेवा-निवृत्त करने हेतु अध्यपेक्षित राय बनाने के लिए अनेक असंसूचित प्रतिकूल प्रविष्टियां हिसाब में ली जाती हैं, तो आदेश दूषित हो जाएगा।

14. वर्ष 1948-49, 1951-52, 1952-53, 1954-55, 1958-59, 1962-63, 1964-65 तथा 1966-67 के लिए प्रतिकूल प्रविष्टियों का अब कोई प्रभाव नहीं रह गया है, क्योंकि पिटीशनर को सन् 1961 में चयन श्रेणी दे दी गई थी और वह आगे भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के लिए भी चुन लिया गया था और भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति हेतु तैयार की गई चयन-सूची में उसका नाम 1967 तक सम्मिलित किया जाता रहा। इस प्रकार उपर्युक्त प्रतिकूल प्रविष्टियों के बावजूद भी पिटीशनर को चयन श्रेणी दी गई थी और उसे भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के लिए भी उसके गुणागुण के मूल्यांकन के आधार पर उपयुक्त पाया गया था। उच्चतम न्यायालय ने **पंजाब राज्य** बनाम **दीवान चुन्नी लाल**[2], **रिजनल मैनेजर** बनाम **पवन कुमार दूबे**[3], **स्वामी सरन सक्सेना** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य**[4] तथा **डी० रामस्वामी** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[5] में यह अधिकथित किया है कि जब एक बार किसी सरकारी सेवक को दक्षता-रोध पार करना अनुज्ञात कर दिया जाता है अथवा वह उच्चतर श्रेणी में या पद पर प्रोन्नत कर दिया जाता है तो उस अवधि से पूर्व की अवधि की प्रतिकूल प्रविष्टियां मिट जाती हैं। इन कारणों से हमारी राय है कि अनिवार्य सेवा-निवृत्ति का

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 594.
[2] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 2086.
[3] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1766.
[4] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 296.
[5] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 793.

आदेश दूषित हो गया है, क्योंकि यह उन पुरानी प्रविष्टियों पर आधारित है, जो बासी और निष्प्रभाव हो गई थीं, फिर भी अध्यपेक्षित राय बनाने में उन्हें ध्यान में रखा गया था। पिटीशनर का नाम 1962 में भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के लिए चयन-सूची में सम्मिलित किया गया था और वह 1967 तक उस सूची में सम्मिलित किया जाता रहा। फलतः, पिटीशनर उस अवधि के दौरान भारतीय पुलिस सेवा में स्थानापन्न रूप में पद धारण करता रहा। वर्ष 1967 में तैयार की गई चयन-सूची में पिटीशनर का नाम सम्मिलित नहीं किया गया। उसने सफलतापूर्वक उसकी विधिमान्यता को चुनौती दे दी और वह अन्ततः इस न्यायालय द्वारा तथा उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिखण्डित कर दी गई। न्यायालय के समक्ष लम्बित मुकदमेबाजी के दौरान दिसम्बर, 1969 में वर्ष 1970 के लिए एक चयन-सूची तैयार की गई। पिटीशनर को प्रोन्नति के लिए उपर्युक्त पाया गया और उसका नाम चयन-सूची में सम्मिलित किया गया। वह सूची दो साल तक प्रवृत्त रही। वर्ष 1972 में दूसरी चयन सूची तैयार की गई, किन्तु उसमें पिटीशनर का नाम सम्मिलित नहीं किया गया। उसके पश्चात् पिटीशनर की अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के पश्चात् दिसम्बर, 1974 में एक चयन-सूची तैयार की गई। यह द्रष्टव्य है कि चयन-सूची भारतीय पुलिस सेवा (प्रोन्नति द्वारा नियुक्ति) विनियमों के विनियम 5(4) के अनुसार गुणागुण के मूल्यांकन के आधार पर तैयार की गई थी। पिटीशनर के नाम के चयन-सूची में सम्मिलित किए जाने से यह स्पष्टतः उपदर्शित होता है कि प्रतिकूल प्रविष्टियों के बावजूद भी उसे भारतीय पुलिस सेवा में प्रोन्नति के योग्य पाया गया। अब पिटीशनर के सेवा-जीवन को कम करने के लिए उन प्रतिकूल प्रविष्टियों को आधार नहीं बनाया जा सकता। जब कि यह सही है कि प्रोन्नति के बावजूद भी पिटीशनर को अनिवार्यतः सेवा-निवृत्त किया जा सकता था, यदि 1970 के पश्चात् उसकी दक्षता इतनी कम हो गई होती कि उसका सेवा में बने रहना लोकहित में नहीं होता, किन्तु ऐसी स्थिति प्रस्तुत मामले में उपलब्ध नहीं थी।

15. राज्य की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में यह कहा गया है कि विवेचन समिति (स्क्रीनिंग कमेटी) ने 1-8-1974 को समाप्त होने वाली अवधि में पिटीशनर को दी गई प्रविष्टियों पर विचार किया था। हमने पिटीशनर की चरित्र-पंजी का, जो हमारे सामने प्रस्तुत की गई थी, अनुशीलन कर लिया है। पिटीशनर को निम्नलिखित वर्षों में उनके सामने लिखी गई प्रविष्टियां दी गई थीं :—

1969-70 श्री कपूर को 26-7-1969 को मुरादाबाद में रेल के पुलिस अधीक्षक के पद पर प्रोन्नत किया गया और तैनात किया गया। और उसी समय उस पद की श्रे बढ़ा दी गई। वह औसत योग्यता का अध्यवसायी अधिका है, जिसने अपराधों का समाधानप्रद रूप में पर्यवेक्षण किया है उसने पर्याप्त दौरा किया है। उसने अपने भ्राता अधिकारि के साथ समाधानप्रद सम्बन्ध बनाये रखे हैं। उस भ्रष्टाचार का उन्मूलन करने में तथा अपने सहयोगियों के कल्याण में समाधानप्रद रुचि ली है। आचरण उत्तम मेरी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई है, जिस श्री एम० एल० कपूर की ईमानदारी पर कोई आंच आ हो। ईमानदारी के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम और मैं उसकी ईमानदारी प्रमाणित करता हूं।

पुलिस उप-महानिरीक्षक, रेल
22-4-70 उत्तर प्रदेश, इलाहाबा

श्री कपूर ने वर्ष भर निरंतर कार्य किया है और उसका कार्य-संपादन समाधानप्रद रहा है।

13-1-1971 पुलिस महानिरीक्षक, उत्तर प्रदे

1970-71 एक अनुभवी अधिकारी, जिसे अपने कार्य के सं में सभी कुछ सुविदित है। वह अध्यवसायी तथा अत्य तीक्षण बुद्धि का है। सब मिलाकर उसका अपराध क पर्यवेक्षण तथा कार्यालय का कार्य समाधानप्रद था, कि उसे फाइलों के निपटाने में और शीघ्रता करनी चाहिए आचरण उत्तम।

मेरी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई है, जिस श्री एम० एल० कपूर पर कोई आंच आती हो। ईमानदा के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम है और मैं उस ईमानदारी प्रमाणित करता हूं।

प्रमाणित किया जाता है श्री कपूर ने अपनी अधिकार क्षेत्र में साम्प्रदायिक शांति तथा सामंजस्य बनाए रखने लिए पर्याप्त कदम उठाए थे। और उसने साम्प्रदायिक द

के निवारण के लिए अपना उत्तरदायित्व प्रभावी रूप में निभाया था ।

24-4-71 पुलिस उप-महानिरीक्षक, रेलवे, उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद

श्री एम० एल० कपूर पूरे वर्ष भर रेलवे का पुलिस अधीक्षक रहा। उसका कार्य कुल मिलाकर समाधानप्रद रहा, किन्तु उसे अपने उप-महानिरीक्षक की इस सलाह पर ध्यान देना चाहिए कि वह फाइलों के निपटाने में और शीघ्रता करे ।

पुलिस महानिरीक्षक, उत्तर प्रदेश
16-8-1971

1970-71 मैंने रेलवे के पुलिस अधीक्षक (मुरादाबाद) श्री एम० एल० कपूर का कार्य अवलोकनाधीन, वर्ष में 1-4-70 से 31-7-70 की अवधि के लिए देखा ।

श्री कपूर अत्यन्त अध्यवसायी है, जिसने व्यापक दौरा किया तथा अपराधों को नियंत्रण में रखा। प्रमाणित किया जाता है कि श्री एम० एल० कपूर ने अपने अधिकार क्षेत्र में साम्प्रदायिक शान्ति और सामंजस्य बनाए रखने के लिए पर्याप्त कदम उठाए थे और सामुदायिक दंगों के निवारण के लिए अपने उत्तरदायित्व का प्रभावी रूप में निर्वाह किया ।

ऐसी कोई बात मेरी जानकारी में नहीं आई, जिससे श्री एम० एल० कपूर की ईमानदारी पर कोई आंच आती हो । ईमानदारी के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम और मैं उसकी ईमानदारी प्रमाणित करता हूं ।

पुलिस उप-महानिरीक्षक, बरेली रेंज
31-3-1971

1971-72 यह अधिकारी सरकारी रेलवे पुलिस के मुरादाबाद खण्ड का भार-साधक अधीक्षक सम्पूर्ण वर्ष भर रहा ।

वह एक अनुभवी अधिकारी है, जिसने अपने खण्ड में व्यापक दौरा किया, किन्तु वह रेलवे अधिकारियों तथा अपने बल के सदस्यों के साथ कुछ सख्त रहा और अपने कुछ प्रशासनिक कार्यों का समुचित और व्यवहारिक बुद्धि सम्पन्न संपादन नहीं कर सका। जहां तक उसके अपराधों के

नियंत्रण का संबंध है, वर्ष के प्रारम्भिक भाग के दौरान उसके खण्ड में अपराधों के बढ़ने की प्रवृत्ति रही। परिणाम-स्वरूप उसे यह सलाह दी गई कि वह अपराधों को नियंत्रण में रखे और बाद में यह भी अनुदेश दिया गया कि वह प्रतिपक्ष एक विशेष रिपोर्ट पुलिस के महानिरीक्षक को दे और सप्ताह में उसकी प्रति रेलवे के उप महानिरीक्षक को भेजे। इससे उसने अधिक प्रयत्न किया और वर्ष के अन्तिम भाग के दौरान अपने खण्ड में अपराध की स्थिति में सुधार लाने में वह समर्थ हो सका। कुल मिलाकर, उसके आचरण को उत्तम श्रेणी का कहा जा सकता है।

मेरी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई जिससे श्री एम० एल० कपूर की ईमानदारी को कोई आंच आती हो। ईमानदारी के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम है और मैं उसकी ईमानदारी प्रमाणित करता हूं।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री एम० एल० कपूर ने अपने अधिकार क्षेत्र में साम्प्रदायिक शांति तथा सामंजस्य बनाए रखने के लिए पर्याप्त कदम उठाए थे और साम्प्रदायिक दंगों के निवारण के लिए उसने अपने दायित्व का निर्वाह प्रभावी रूप में किया।

पुलिस उप महानिरीक्षक रेलवे,
उत्तर प्रदेश, इलाहाबाद
24-4-1972

श्री कपूर औसत योग्यता का अधिकारी है जिसे ब्यौरों के संबंध में अधिक ध्यान देने की आवश्यकता और अपने सार्वजनिक संबंध में सुधार करने की भी आवश्यकता है। अवलोकनाधीन अवधि के दौरान कुल मिलाकर उसका कार्य तथा आचरण समाधानप्रद रहा।

पुलिस महानिरीक्षक, उत्तर प्रदेश

1972-73

इस अधिकारी ने इस कष्टसाध्य बटालियन का चार्ज 27-6-1972 को लिया। औसत योग्यता का अधिकारी, जिसने अपने एकक (यूनिट) का प्रबन्ध समाधानप्रद रूप में किया।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री एम० एल० कपूर ने साम्प्रदायिक सामंजस्य बनाए रखने के लिए सभी कदम उठाए।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री एम० एल० कपूर ने अनुसूचित जाति के कोटे को भरने के संबंध में सभी प्रकार के प्रयत्न किए और इस विषय से संबद्ध विभिन्न सरकारी आदेशों के कार्यान्वयन का भी हर सम्भव प्रयत्न किया।

हमारी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई, जिससे श्री एम० एल० कपूर की ईमानदारी पर कोई आंच आती हो।

उप-महानिरीक्षक, सी० आई० डी० 11, उत्तर प्रदेश
लखनऊ, भूतपूर्व उप-महानिरीक्षक पी० ए० सी०
11 उत्तर प्रदेश, लखनऊ
2-7-73

मैं इस बात से सहमत हूं कि श्री कपूर औसत योग्यता का अधिकारी है, जिसका कार्य कुल मिलाकर समाधानप्रद रहा।

पुलिस महानिरीक्षक, उत्तर प्रदेश
5-6-73

5-6-73 से 7-9-73 तक

मुझे इस अधिकारी का 5-6-73 से 7-9-73 तक का कार्य देखने का अवसर मिला। उसकी बटालियन में मई, 1973 में गंभीर अनुशासनहीनता रही और इस अवधि के दौरान बटालियन निरायुध बनी रही और उसके कार्मिकों से कोई कार्य नहीं लिया जा सका। श्री एम० एल० कपूर अपने कार्मिकों का प्रशिक्षण मात्र आयोजित कर सका और यह कार्य उसने समाधानप्रद रूप में किया। श्री कपूर एक अनुभवी अधिकारी है, और उसे नियमों तथा विनियमों का अच्छा ज्ञान है। उसकी लिखित अभिव्यक्ति अच्छी है और मौखिक अभिव्यक्ति भी समाधानप्रद है। उसने अपनी बटालियन की सामान्य स्थिति पुनः बनाने हेतु हर सम्भव प्रयत्न किए।

मेरी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई, जिससे श्री एम० एल० कपूर की ईमानदारी पर कोई आंच आती

हो। ईमानदारी के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम और मैं उसकी ईमानदारी प्रमाणित करता हूं।

पुलिस उप-महानिरीक्षक, पी० ए० सी० मुख्याल
उत्तर प्रदेश, लखनऊ
9-8-1974

1973-74 श्री कपूर निस्संदेह, एक अनुभवी अधिकारी है। यद्यपि मु गोरखपुर स्थित पी० ए० सी० की 26वीं बटालियन कमान्डेन्ट के रूप में उसके कार्य की कोई जानकारी नहीं किन्तु हमीरपुर में वह सफल नहीं रहा और उसे 6 मही बाद ही बदलना पड़ा। उसमें अपने रूखे व्यवहार के कार अधनीस्थ को नाराज करने की बुरी आदत है और वस्तु जनता के सभी संवर्गों के लोग उससे प्रसन्न नहीं थे, कि इस बात का श्रेय उसे मिलना चाहिए कि उसने सा साधारण निर्वाचनों में विधि और व्यवस्था की समस्या का समाधान सामान्यतः समाधानप्रद रूप में किया।

पुलिस महानिरीक्षक, उत्तर प्रदे
9-8-74

12-12-73 से 31-3-1974 तक श्री एम० एल० कपूर ने हाल ही में हमीरपुर के पुलि अधीक्षक का पद 1-12-1973 को सम्भाला। वह परि पक्व एवम् अनुभवी अधिकारी है। और उसने अ विशिष्ट व्यक्तियों/अति विशिष्ट व्यक्तियों के दौरों तथ साधारण निर्वाचनों का प्रबन्ध किया है। जिले में उसक प्रारम्भिक कार्य अच्छा है। आचरण उत्तम है।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री कपूर ने अपने जि में सांप्रदायिक शांति एवम् सामंजस्य बनाए रखने के लि पर्याप्त कदम उठाए और सांप्रदायिक दंगों के निवारण लिए अपने दायित्व का निर्वाह प्रभावी रूप में किया है।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री कपूर ने 1973-7 के दौरान सेवाओं में अनुसूचित जातियों के प्रतिनिधित्व पूरा करने का दायित्व प्रभावी रूप में निभाया है तथा इ विषय में समय-समय पर प्रशासन द्वारा जारी किए आदे के कार्यान्वयन में भी अपने दायित्व का निर्वाह प्रभावी रू में किया है।

मेरी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई है, जिससे श्री कपूर की ईमानदारी पर कोई आंच आती हो। ईमानदारी के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम है और मैं उसकी ईमानदारी प्रमाणित करता हूं।

पुलिस उप-महानिरीक्षक झांसी रेंज, यू० पी०

एक अनुभवी अधिकारी, जो अच्छा कार्य कर रहा है। अतीव विशिष्ट व्यक्तियों/विशिष्ट व्यक्तियों के दौरों तथा गत साधारण निर्वाचनों के दौरान जिले में शांति बनाए रखा। मजिस्ट्रेटों तथा विभागों से उसके संबंध सौहार्दपूर्ण हैं। और वह बिधि एवं व्यवस्था बनाए रखने में सभी की सहायता करता है।

आयुक्त : झांसी प्रभाग
1-4-74

1-4-1974 से
1-7-1974 तक

वह एक अनुभवी अधिकारी है, जो पुलिस कार्य के सभी दायित्वों से भली-भांति अवगत है। अपराध तथा अपराधियों पर उसका नियंत्रण पूर्णतः समाधानप्रद रहा।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री कपूर ने जिलों में सांप्रदायिक शांति और सामंजस्य बनाए रखने के लिए पर्याप्त कदम उठाए और सांप्रदायिक दंगों के निवारण के लिए अपने दायित्व का निर्वाह प्रभावी रूप में किया।

प्रमाणित किया जाता है कि श्री कपूर 1974-75 के दौरान सेवाओं में अनुसूचित जाति के प्रतिनिधित्व को पूरा करने में और इस विषय पर समय-समय पर प्रशासन द्वारा जारी किए गए आदेश के कार्यान्वयन में अपने दायित्व का निर्वाह प्रभावी रूप में किया है।

मेरी जानकारी में ऐसी कोई बात नहीं आई है, जिससे श्री कपूर की ईमानदारी पर कोई आंच आती हो। ईमानदारी के लिए उसकी सामान्य ख्याति उत्तम है और मैं उसकी ईमानदारी प्रमाणित करता हूं।

पुलिस उप-महानिरीक्षक, झांसी रेंज, उत्तर प्रदेश
17-5-75

16. उपर्युक्त प्रविष्टियों में से कुछ में पिटीशनर के कार्य तथा उसकी दक्षता को अत्यन्त ऊंचा नहीं बताया गया। किन्तु पिटीशनर के प्रतिकूल या उसकी अपख्याति द्योतक कोई बात अभिलिखित नहीं की गई। केवल इस बात को छोड़कर कि पिटीशनर को यह सलाह दी गई कि वह अधिक अनमना न रहे और अधिक व्यवहार कुशल बने। प्रविष्टियों से यह दर्शित नहीं होता कि पिटीशनर सेवा में अनुपयोगी हो गया था और उसका हटाया जाना लोकहित में आवश्यक था। ऊपर उद्धृत प्रविष्टियों से यह दर्शित होता है कि पिटीशनर का कार्य उत्तम था और उसे असंदिग्ध ईमानदारी की ख्याति प्राप्त थी।

17. राज्य सरकार नें उपर्युक्त उद्धृत प्रविष्टियों को बहुत महत्व नहीं दिया, क्योंकि उन प्रविष्टियों के बावजूद राज्य सरकार ने अपने 19-2-1974 के आदेश द्वारा पिटीशनर को एक विशेष श्रेणी में प्रोन्नत किया और उसे पुलिस अधीक्षक के पद पर नियुक्त किया, जिसकी परिलब्धियां भारतीय पुलिस सेवा संवर्ग के पद की होती हैं। उसकी प्रोन्नति के 4 मास के भीतर उसकी दक्षता में कोई आकस्मिक अवनति नहीं हुई। पिटीशनर के मामले पर 1-8-1974 को यथाविद्यमान विवेचन समिति (स्क्रीनिंग कमेटी) ने विचार किया। झांसी रेंज के पुलिस उप-महानिरीक्षक ने 1-4-1974 से 1-7-1974 की अवधि के लिए पिटीशनर को ऊपर उद्धृत प्रविष्टियां दीं, जिनमें पिटीशनर के कार्य और आचरण के संबंध में अत्यन्त सराहनीय विचार व्यक्त किया गया। पिटीशनर के संबंध में यह निष्कर्ष था कि उसने सांप्रदायिक दंगों के निवारण के लिए अपने दायित्व का निर्वाह प्रभावी रूप में किया था। फरवरी, 1974 में पिटीशनर के संबंध में यह निष्कर्ष था कि उसकी अर्हता और योग्यता, जिसमें स्वभावतः ही ईमानदारी भी सम्मिलित होती है, ऐसी थी कि उसे चयन श्रेणी पद पर प्रोन्नति के लिए हकदार माना गया और उसे एक विशेष पद पर तैनात किया गया, जिसमें भारतीय पुलिस सेवा के पद के समकक्ष परिलब्धियां मिलती हैं और जुलाई, 1974 में उसके कार्य को अत्यन्त सराहनीय बताया गया। जुलाई, 1974 तथा नवम्बर, 1974 के बीच ऐसी कोई बात नहीं हुई, जो पिटीशनर का सेवा से निकाला जाना लोकहित में उचित ठहराती हो। अभिलेख में यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं है कि बीच की अवधि में ऐसी गंभीर स्थिति पैदा हो गयी हो, जो प्राधिकारियों द्वारा इतना कड़ा कदम उठाने को उचित ठहराती हो।

18. डी० रामस्वामी वनाम तमिलनाडु राज्य[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यदि कुछ ही मास पूर्व सम्बद्ध अधिकारी

प्रोन्नति हुई हो और उसके पश्चात् अयोग्यता या अदक्षता इंगित करने वाली कोई बात न हो तो अधिकारी को सेवा से निवृत्त करने वाले सरकार के आदेश को कायम रखना असम्भव होगा । उस मामले में राज्य के काउन्सेल ने यह निवेदन किया था कि सरकार सम्बद्ध अधिकारी के सम्पूर्ण सेवावृत्त को हिसाब में लेने की हकदार है, जिसमें उसकी प्रोन्नति से पूर्व का भाग भी आता है। उच्चतम न्यायालय ने इस दलील को अस्वीकार कर दिया था और यह अभि-निर्धारित किया था कि यदि अधिकारी की प्रोन्नति के प्रश्चात् उसके प्रतिकूल कोई प्रविष्टि हो तो न्यायालय उसी प्रकार की गत प्रविष्टियों को देख सकती है और यह निष्कर्ष निकाल सकती है कि सरकारी सेवक को समयपूर्व सेवा-निवृत्त किया जा सकता था किन्तु जहां पिटीशनर के विरुद्ध कुछ भी न हो या ऐसा कुछ भी न हो, जिससे पिटीशनर की अपख्याति होती हो और ऐसी अपख्याति उसकी प्रोन्नति और अनिवार्य सेवा-निवृत्ति के बीच में हुई हो तो सेवा-निवृत्ति का आदेश विधि के अनुसार कायम नहीं रखा जा सकता । उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि जहां उस अवधि में ही ऐसा कोई दोष न हो जो उसकी प्रोन्नति को ही संदिग्ध बनाता हो तो अनावश्यक गड़े मुरदे उखाड़ने का कोई न्यायौचित्य नहीं होगा ।

19. उपर्युक्त विचार-विमर्श को ध्यान में रखते हुए हमारा यह मत है कि राज्य सरकार का वह आदेश विधि के अनुसार कायम रखने योग्य नहीं है, जिसके द्वारा पिटीशनर को समयपूर्व सेवा-निवृत्त कर दिया गया था। तदनुसार हम इस पिटीशन को मंजूर करते हैं और राज्य सरकार के 28-11-74 के आदेश को अभिखण्डित करते हैं । पिटीशनर अपने खर्चे का हकदार होगा ।

न्या० बी० डी० अग्रवाल :

मैं सहमत हूं ।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया ।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—40

*रस्सू लाल बनाम राजस्व बोर्ड और अन्य

(Rassu Lal *Vs.* The Board of Revenue and others)

तारीख 1 सितम्बर, 1983

[न्या० राम सूरत सिंह]

उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश एवं भूमि सुधार अधिनियम, 1950, धारा 209—उक्त धारा 209 की उपधारा (1) में उल्लिखित "कब्जा करले या रखे रहे" शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं—"कब्जा कर ले" से तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी का कब्जा प्रारंभ से ही वादी की सहमति से है जबकि 'रखे रहे' से तात्पर्य यह है कि प्रारंभ में वादी की सहमति से प्रतिवादी विवादित भूमि पर काबिज हुआ था, परंतु वादी द्वारासह मति वापस लिए जाने के उपरांत भी प्रतिवादी ने अपना कब्जा बनाए रखा—किंतु यह भी सुस्थिर है कि वाद संस्थित किए जाने के दिनांक से अनुज्ञप्ति समाप्त हो जाती है और प्रतिवादी का कब्जा गैर-कानूनी हो जाता है और प्रतिवादी को बेदखल किया जा सकता है।

पिटीशनर के हक-पूर्वाधिकारी ने प्रतिवादी सं० 6 एवं 7 को बेदखल करने हेतु वाद उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश एवं भूमि सुधार अधिनियम की धारा 209 के अंतर्गत इस आधार पर संस्थित किया कि वह विवादित भूमि का खातेदार है तथा प्रतिवादीगण अतिचारी होने के कारण बेदखल किए जाने योग्य हैं। विचारण न्यायालय ने वाद को इस निष्कर्ष के आधार पर खारिज कर दिया कि वादी विवादित भूमि का खातेदार है परंतु प्रतिवादीगण उसकी सहमति से विवादित भूमि पर काबिज हैं। इस निर्णय की अभिपुष्टि अतिरिक्त आयुक्त तथा राजस्व परिषद् ने भी की।

उच्च न्यायालय में वादी द्वारा रिट पिटीशन पर मुख्य प्रश्न यह उठा कि यदि यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतिवादी का कब्जा वादी की सहमति से है, तो सहमति का प्रभाव क्या होगा ?

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश एवं भूमि सुधार अधिनियम, 1950 की धारा 209 के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि बेदखली की आज्ञप्ति (डिक्री)

---

*मूल निर्णय हिन्दी में

प्राप्त करने हेतु वादी के लिए दो तथ्य प्रमाणित करना आवश्यक होता है—प्रथम यह कि प्रतिवादी ने प्रचलित विधि के प्राविधानों के प्रतिकूल किसी भूमि पर कब्जा कर लिया है अथवा कब्जा रख रहा है तथा द्वितीय यह कि वाद समय के अंतर्गत संस्थित किया गया है। धारा 209 अधिनियम की उपधारा (1) में उल्लिखित "कब्जा कर ले या रखे रहे" शब्द अत्यंत महत्वपूर्ण हैं। "कब्ज़ा कर ले" से तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी का कब्जा प्रारंभ से ही वादी की असहमति से है जबकि "रखे रहे" से तात्पर्य यह है कि प्रारंभ में वादी की सहमति से प्रतिवादी विवादित भूमि पर काबिज हुआ था। लेकिन वादी द्वारा सहमति वापस लिए जाने के उपरांत भी प्रतिवादी अपना कब्जा बनाए रखा है। प्रस्तुत मामले में वादी के अनुसार प्रतिवादीगण विवादित भूमि पर उसकी अनुमति/सहमति के बिना अपना कब्जा कर लिए। जबकि प्रतिवादीगण के अनुसार वे विवादित भूमि पर वादी की सहमति से कब्जे में है। सभी राजस्व न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रतिवादीगण वादी की सहमति से विवादित भूमि पर काबिज है। इसलिए याची का यह कहना कि प्रत्यर्थीगण का कब्जा उसके पिता की सहमति से प्रारंभ नहीं हुआ था, नहीं माना जा सकता तथा राजस्व न्यायालय का निष्कर्ष कि प्रत्यर्थीगण का कब्जा याची के पिता की सहमति से प्रारंभ हुआ, एक सही निष्कर्ष के रूप में मानने योग्य है। (पैरा 7)

प्रस्तुत मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया कि वादी ने अधिनियम की धारा 209 के अंतर्गत वाद संस्थित करके प्रतिवादीगण को दी गई अपनी सम्मति को समाप्त कर दिया। दूसरे शब्दों में, धारा 209 अधिनियम के अन्तर्गत वाद का संस्थित किया जाना अनुज्ञप्ति का समाप्त किया जाना है तथा वाद संस्थित किए जाने के दिनांक से प्रतिवादीगण का विवादित भूमि पर कब्जा गैर-कानूनी है। इस आधार पर वे विवादित भूमि से बेदखल किए जाने योग्य है। (पैरा 8)

आरंभिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1975 के रिट पिटीशन सं० 714 में प्रकीर्ण आवेदन।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री सी० पी० श्रीवास्तव और धनीराम

प्रत्यर्थियों की ओर से ... स्थायी काउंसेल

न्या० राम सूरत सिंह :

याची (पिटीशनर) रस्सू लाल ने यह याचिका (पिटीशन) राजस्व

परिषद् (बोर्ड) के आदेश दिनांक 21-11-1974 के विरुद्ध संस्थित की है, जिसके द्वारा उसकी द्वितीय अपील निरस्त (खारिज) कर दी गई है।

2. इस केस का संक्षिप्त विवरण इस प्रकार है कि याची के पिता भुल्ला ने प्रत्यर्थी संख्या 6 एवं 7 को बेदखल करने हेतु उसके विरुद्ध एक वाद उत्तर प्रदेश जमींदारी विनाश एवं भूमि सुधार अधिनियम (एतद्पश्चात् केवल अधिनियम कहलाएगा) की धारा 209 के अंतर्गत गाटा संख्या 363 क्षेत्रफल 2.63 एकड़ के संबंध में इस आधार पर संस्थित किया कि वह विवादित भूमि का खातेदार है तथा प्रतिवादीगण अतिचारी होने के कारण बेदखल किए जाने योग्य हैं। प्रत्यर्थीगण ने उक्त वाद का विरोध करते हुए अभिकथित किया कि वे लोग 1.62 एकड़ क्षेत्रफल भूमि पर काबिज हैं तथा वादी ने इस संबंध में उन्हें अपनी सहमति दे रखी है। इसलिए अधिनियम की धारा 209 के अंतर्गत संस्थित उनके विरुद्ध वाद पोषणीय (चलने योग्य) नहीं है। विचारण न्यायालय ने वाद को इस निष्कर्ष के साथ निरस्त (खारिज) कर दिया कि वादी विवादित भूमि का खातेदार है परंतु प्रतिवादीगण उसकी सहमति से विवादित भूमि पर काबिज हैं, अतः अधिनियम की धारा 209 के अंतर्गत उन्हें बेदखल नहीं किया जा सकता। विचारण न्यायालय के उक्त निर्णय की अभिपुष्टि अतिरिक्त आयुक्त द्वारा अपील में एवं राजस्व परिषद् द्वारा द्वितीय अपील में कर दी गई। याची ने राजस्व न्यायालय के उक्त निर्णयों के विरुद्ध इस न्यायालय के समक्ष यह याचिका प्रस्तुत की है।

3. द्वितीय अपील के लंबित रहने के दौरान वादी भुल्ला की मृत्यु हो चुकी थी एवं उसके स्थान पर उनका पुत्र रस्सू प्रतिस्थापित हुआ।

4. याची के विद्वान अधिवक्ता के तर्क के अनुसार सभी राजस्व न्यायालयों ने वह माना है कि याची का पिता भुल्ला विवादित भूमि का खातेदार था। परंतु उन्होंने उसके वाद को निरस्त करने में विधिक त्रुटि की है। याची के विद्वान् अधिवक्ता के अनुसार यदि यह मान भी लिया जाए कि प्रतिवादीगण का विवादित भूमि पर कब्जा वादी की सहमति से था तो भी जब वाद संस्थित किया गया, तो वाद का संस्थित किया जाना इस बात की ओर इंगित करता है कि वादी ने अपनी सहमति वापस ले ली और इस आधार पर, प्रतिवादीगण बेदखल होने योग्य हैं। अतः राजस्व न्यायालय का यह निष्कर्ष कि प्रतिवादीगण वादी की सहमति से विदादित भूमि पर काबिज है और इसलिए उन्हें बेकब्जा नहीं किया जा सकता, त्रुटिपूर्ण है।

5. इस केस के साक्ष्यों से यह स्पष्ट है कि उक्त वाद के संस्थित किए जाने से पूर्व याची के पिता भुल्ला को गाटा सं० 363 क्षेत्रफल 2.63 ए० भूमि का भूमिधर जोत चकबंदी कार्यवाही के दौरान घोषित किया गया था। जोत चकबंदी कार्यवाही की प्रविष्टि पर भरोसा करके राजस्व न्यायालयों का यह निष्कर्ष सही है कि याची का पिता विवादित भूमि का भूमिधर था।

6. इस केस में विचारणीय प्रश्न केवल यह है कि प्रतिवादीगण का विवादित भूमि पर कब्जा वादी की अनुमति/सहमति से है अथवा अतिचारी के रूप में है। यदि यह सिद्ध हो जाता है कि प्रतिवादीगण का कब्जा वादी की सहमति से है तो प्रश्न यह है कि उक्त सहमति का क्या प्रभाव है अर्थात् वाद संस्थित किए जाने से उक्त सहमति समाप्त होकर क्या प्रतिवादीगण बेदखल किए जाने योग्य है।

अधिनियम की धारा 209 निम्नलिखित है :—

"भूमि पर बिना हक के काबिज की बे दखली—

(1) यदि कोई व्यक्ति समय विशेष पर प्रचलित विधि के प्राविधानों (उपबंधों) के प्रतिकूल किसी भूमि पर कब्जा कर ले या रखे रहे—(अ) जहां भूमि किसी भूमिधर या आसामी के स्रोत का भाग हो वहां ऐसे भूमिधर या आसामी के खाते का भाग हो वहां ऐसे भूमिधर या आसामी की सहमति के बिना, (ब) जहां भूमि किसी भूमिधर, या आसामी के खाते का भाग न हो, गांव सभा की सहमति के बिना, तो वह उक्त खंड (अ) में अभिदिष्ट दशाओं में संबद्ध अथवा आसामी के और उक्त खंड (ब) में अभिदिष्ट दशाओं में गांव सभा के वाद पर बेदखल हो सकेगा और क्षतिपूर्ति का दावेदार होगा।

(2) उपधारा (1) के खंड (अ) में अभिदिष्ट प्रत्येक ऐसे वाद में, जो भूमि से संबद्ध हो, राज्य सरकार को आवश्यक पक्षकार के रूप में सम्मिलित किया जाएगा।"

7. उक्त धारा के अवलोकन से यह स्पष्ट है कि बेदखली की आज्ञप्ति (डिक्री) प्राप्त करने हेतु वादी के लिए दो तथ्य प्रमाणित करना आवश्यक होता है—प्रथम यह कि प्रतिवादी ने प्रचलित विधि के प्राविधानों के प्रतिकूल किसी भूमि पर कब्जा कर लिया है अथवा कब्जा रखा रहा है तथा द्वितीय यह कि वाद समय के अंतर्गत संस्थित किया गया है। अधिनियम की धारा 209 की उपधारा (1) में "कब्जा करले" से तात्पर्य यह है कि प्रतिवादी का कब्जा प्रारंभ से ही वादी की असहमति से है जबकि "रखे रहे" से तात्पर्य यह है

कि प्रारंभ में वादी की सहमति से प्रतिवादी विवादित भूमि पर काबिज हुआ था। लेकिन वादी द्वारा सहमति वापस लिए जाने के उपरांत भी प्रतिवादी अपना कब्जा बनाए रखा है। वर्तमान केस में वादी के अनुसार प्रतिवादीगण विवादित भूमि पर उसकी अनुमति/सहमति के बिना अपना कब्जा कर लिए। जबकि प्रतिवादीगण के अनुसार वे विवादित भूमि पर वादी की सहमति से कब्जे में है। सभी राजस्व न्यायालयों ने यह निष्कर्ष निकाला है कि प्रतिवादीगण वादी की सहमति से विवादित भूमि पर काबिज हैं। इसलिए याची का यह कहना कि प्रत्यर्थीगण का कब्जा उसके पिता की सहमति से प्रारंभ नहीं हुआ था, नहीं माना जा सकता तथा राजस्व न्यायालय का निष्कर्ष कि प्रत्यर्थीगण का कब्जा वादी के पिता की सहमति से प्रारंभ हुआ, एक सही निष्कर्ष के रूप में मानने योग्य है।

8. इस संबंध में यह विचार करना आवश्यक है कि अधिनियम की धारा 209 के अंतर्गत वाद के संस्थित किए जाने के परिणामस्वरूप क्या उक्त सहमति समाप्त हो गई। राजस्व न्यायालयों के उक्त निष्कर्ष के फलस्वरूप प्रतिवादीगण का कब्जा लाइसेन्सधारी (अनुज्ञप्तिधारी) का था तथा अधिनियम के किसी भी प्राविधान द्वारा प्रतिवादीगण को वाद संस्थित किए जाने से पूर्व कोई स्वत्व प्राप्त नहीं हुआ। वादी ने अधिनियम की धारा 209 के अन्तर्गत वाद संस्थित करके प्रतिवादीगण को दी गई अपनी सहमति को समाप्त कर दिया। दूसरे शब्दों में, धारा 209 अधिनियम के अन्तर्गत वाद का संस्थित किया जाना लाइसेन्स (अनुज्ञप्ति) का समाप्त किया जाना है तथा वाद संस्थित किए जाने के दिनांक से प्रतिवादीगण का विवादित भूमि पर कब्जा गैर-कानूनी है। इस आधार पर वे विवादित भूमि से बेदखल किए जाने योग्य हैं।

9. अतः उक्त विवेचना के आधार पर मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचता हूं कि राजस्व न्यायालयों का यह निष्कर्ष कि प्रतिवादीगण विवादित भूमि से बेदख़ल नहीं किए जा सकते, विधिविरुद्ध होने के कारण अपास्त होने योग्य है।

10. अतः यह याचिका स्वीकार की जाती है। राजस्व न्यायालयों के समस्त निर्णय अभिखंडित किए जाते हैं। चूंकि प्रत्यर्थीगण की ओर से कोई उपस्थित नहीं हुआ, अतः व्यय के संबंध में किसी प्रकार का आदेश पारित नहीं किया जाता है।

रिट पिटीशन मंजूर किया गया।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—45

श्री ए० के० होम चौधरी बनाम नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन

(Sri A. K. Home Chaudhary *Vs.* National Textile Corporation)

तारीख 1 सितम्बर, 1983

[न्या० के० एन० सिंह और गोपी नाथ]

1. प्रशासनिक विधि—सेवा विधि—जहां सेवा संविदा के निबंधनों के अधीन किसी कर्मचारी की सेवा समाप्त की जा सकती है, वहां सेवा-समाप्ति का आदेश मात्र इस आधार पर दंडात्मक नहीं कहा जा सकता कि नियोजक ने सेवा-समाप्ति का आदेश पारित करने से पूर्व अपना समाधान करने के लिए प्रारंभिक जांच की।

2. संविधान, 1950, अनुच्छेद 12 सपठित अनुच्छेद 311—सरकारी कंपनी का ऐसा कर्मचारी या अधिकारी, जो संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद धारण नहीं करता, मात्र इस बात से कि वह ऐसी सरकारी कंपनी में नियोजित है, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत राज्य है, संविधान के अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का उसी प्रकार हकदार नहीं है, जैसा कि सरकारी सेवक होता है—अतः वे विचारणाएं, जो सरकारी सेवक की सेवा-समाप्ति की विधिमान्यता अवधारित करने के लिए ध्यान में रखी जाती हैं, सरकारी कंपनी के कर्मचारी की सेवा-समाप्ति के आदेश को लागू नहीं की जा सकतीं।

3. संविधान, 1950, अनुच्छेद 311 सपठित अनुच्छेद 12—सरकारी कंपनी का ऐसा कर्मचारी या अधिकारी, जो संघ सरकार या राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद धारण नहीं करता मात्र इस बात से कि वह ऐसी सरकारी कंपनी में नियोजित है, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत राज्य है, संविधान के अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का उसी प्रकार हकदार नहीं है जैसा कि सरकारी सेवक होता है। अतः वे विचारणाएं जो सरकारी सेवक की सेवा-समाप्ति की विधिमान्यता अवधारण करने के लिए ध्यान में रखी जाती हैं सरकारी कंपनी के कर्मचारी की सेवा समाप्ति के आदेश को लागू नहीं की जा सकती।

4. कंपनी अधिनियम, 1956 धारा 284 सपठित नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (उत्तर प्रदेश) के संगम-अनुच्छेद, अनुच्छेद 84, 85, 86—उक्त

धारा 284 में कम्पनी के अंशधारकों के अधिवेशन में मामूली संकल्प द्वारा कम्पनी के किसी निदेशक को हटाने की प्रक्रिया उपबंधित है किंतु यह धारा निःशेषकारी नहीं है और न उसमें इस बात का प्रतिषेध है कि धारा 284 का अनुसरण किए बिना किसी निदेशक को नहीं हटाया जा सकता—अतः निदेशक-बोर्ड अनुच्छेद 86(ग) के अनुसार अनुच्छेद 85(घ) के अनुसार नियुक्त किसी पूर्णकालिक निदेशक को किसी भी समय अपने आत्यंतिक विवेकानुसार हटा सकता है।

पिटीशनर नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (पश्चिम बंगाल) में महा-प्रबंधक था, जहां से उसकी पदच्युति हुई थी, किन्तु बाद में उसने इस तथ्य को छिपा लिया और उसकी नियुक्ति नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन उत्तर प्रदेश में निदेशक के रूप में हो गई। जब इस बात का पता कारपोरेशन को लगा तो पिटीशनर से स्पष्टीकरण मांगा गया। उसने यह स्पष्टीकरण दिया कि चूंकि उसकी पदच्युति का मामला न्यायाधीन था अतः उसने इस तथ्य को प्रकट करने की आवश्यकता नहीं समझी। उसका यह स्पष्टीकरण स्वीकार नहीं किया गया और उसकी सेवा समाप्त कर दी गई।

उच्च न्यायालय में रिट पिटीशन पर पिटीशनर की ओर से यह दलील दी गई कि (1) सेवा-समाप्ति का आदेश यद्यपि प्रकट रूप में अनपकारी लगता है किन्तु वह पिटीशनर को प्रतिरक्षा का अवसर दिए बिना दंड स्वरूप जारी किए गया था, (2) पिटीशनर की सेवा-समाप्ति का आदेश मनमाना है और संविधान के अनुच्छेद 14 तथा 16 का उल्लंघन करता है, (3) चूंकि पिटीशनर एक कम्पनी का निदेशक था, अतः उसे कम्पनी अधिनियम की धारा 284 के अनुसार ही हटाया जा सकता था। उच्च न्यायालय के समक्ष इस तथ्य के संबंध में कोई विवाद नहीं था कि कारपोरेशन के निदेशक-बोर्ड ने अपने अधिवेशन में पिटीशनर की सेवा समाप्ति का संकल्प पारित किया था और उसकी सेवा-समाप्ति उन संगम अनुच्छेदों के अनुसार की गई थी और सेवा संविदा के निबंधनों को विनियमित करते थे।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

जब नियोजक द्वारा अपने कर्मचारी के विरुद्ध अभिकथनों की शुद्धता अभिनिश्चित करने के लिए प्रारंभिक जांच की जाती है और यदि तत्पश्चात् वह यह विनिश्चय करता है कि कर्मचारी को दंड देने के लिए कोई आनुषंगिक कार्यवाही किए बिना उसकी सेवा साधारण आदेश द्वारा समाप्त कर दी जाए तो यह नहीं कहा जा सकता कि सेवा-समाप्ति के आदेश की प्रकृति दंडात्मक

है। प्रारंभिक जांच प्रायः यह अवधारित करने के लिए की जाती है कि क्या प्ररूपिक विभागीय जांच के लिए प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है अथवा नहीं और यह अत्यंत आवश्यक है कि दोनों को एक ही न समझ लिया जाए। मात्र इस तथ्य का कि किसी अस्थायी सेवक के विरुद्ध एक प्रकार की प्रारंभिक जांच की जाती है और जांच के अनुसरण में विनिर्दिष्ट सेवा नियम के अथवा संविदा के अनुसार उसकी सेवा समाप्त कर दी जाती है, यह अर्थ नहीं होगा कि सेवा-समाप्ति अनुच्छेद 311(2) के अर्थान्तर्गत पदच्युति या सेवा से हटाए जाने का दंड है। अब यह सुस्थिर है कि जहां सेवा-संविदा के निबंधनों के अधीन किसी कर्मचारी की सेवा समाप्त की जा सकती है वहां सेवा-समाप्ति का आदेश मात्र इस आधार पर दंडात्मक आदेश नहीं कहा जा सकता कि नियोजक ने सेवा-समाप्ति का आदेश पारित करने से पूर्व अपना समाधान करने के लिए प्रारंभिक जांच की। प्रस्तुत मामले में इस तथ्य से इनकार नहीं किया गया है कि निदेशक-बोर्ड ने संगम-अनुच्छेदों के अधीन पिटीशनर को नियुक्त किया था और उसे पिटीशनर की सेवा-समाप्ति की शक्ति थी तथा सेवा संविदा में पिटीशनर को उसकी सेवा समाप्त करने से पूर्व कोई जांच या अवसर देना अनुध्यात नहीं था, अतः सेवा-समाप्ति का आदेश दंडात्मक आदेश नहीं कहा जा सकता। (पैरा 6, 7)

पिटीशनर संघ सरकार के अधीन अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद नहीं धारण करता। मात्र इस बात से कि वह ऐसी सरकारी कम्पनी में नियोजित है, जो संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत 'राज्य' है, वह अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का उसी प्रकार हकदार नहीं है, जैसा कि सरकारी सेवक होता है। सरकारी कम्पनी यद्यपि कि वह सरकार द्वारा पूर्णतः वित्त-पोषित और नियंत्रित हो, सरकार का विभाग नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार कम्पनी की सेवा को संघ या राज्य सरकार के अधीन सेवा नहीं माना जा सकता। वे विचारणायें, जो सरकारी सेवक की सेवा-समाप्ति की विधिमान्यता अवधारित करने के लिए ध्यान में रखी जाती हैं सरकारी कंपनी के कर्मचारी की सेवा समाप्ति के आदेश को लागू नहीं की जा सकतीं। पिटीशनर का स्पष्टीकरण अभिप्राप्त किया गया और उसके पक्षकथन पर निगम द्वारा उसकी सेवा समाप्त करने से पूर्व विचार किया गया था। नियमों के अभाव में नैसर्गिक सिद्धांतों का पालन हो गया था और यह आवश्यक नहीं था कि पिटीशनर को आगे और अवसर दिया जाए। (पैरा 9)

निःसंदेह कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 284 में कम्पनी के

अंशधारकों के अधिवेशन में मामूली संकल्प द्वारा कम्पनी के किसी निदेशक को हटाने की प्रक्रिया उपबंधित है, किन्तु धारा निःशेषकारी नहीं है। निदेशक सेवानिवृत्ति, पदच्युति, हटाए जाने या स्वेच्छया अपना पद रिक्त करके भी पद धारण करना बंद कर सकता है । उसे निदेशक-बोर्ड द्वारा अथवा अंशधारकों द्वारा कम्पनी के अधिवेशन में भी हटाया जा सकता है । धारा 284 अंशधारकों द्वारा निदेशक के हटाने का उपबंध मात्र करती है और उसके लिए प्रक्रिया विहित करती है । उसमें इस बात का प्रतिषेध नहीं है कि धारा 284 का अनुसरण किए बिना किसी निदेशक को नहीं हटाया जा सकता। धारा 284 की उपधारा (7)(ख) में यह अधिकथित है कि इस धारा में की कोई बात किसी निदेशक को हटाने की ऐसी शक्ति को लघुकृत करने वाली नहीं समझी जाएगी, जो इस धारा से पृथक् अस्तित्व में हो । अत: स्वयं धारा में ही यह अनुध्यात है कि धारा में अंतर्विष्ट उपबंधों के अतिरिक्त भी निदेशक को हटाया जा सकता है । अतः जहां संगम-अनुच्छेद निदेशक-बोर्ड को यह शक्ति देते हैं कि वह प्रबंध-निदेशक को या अन्य निदेशकों को हटा सके, वहां ऐसी शक्ति पर धारा 284 के उपबंधों से कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा। (पैरा 11)

नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (उत्तर प्रदेश) लि० के ज्ञापन तथा संगम-अनुच्छेदों का अनुच्छेद 84 निदेशकों के गठन का उपबंध करता है। अनुच्छेद 85 में अध्यक्ष एवं प्रबंधक-निदेशक तथा अन्य निदेशक पूर्णकालिक निदेशकों की नियुक्ति करने के हकदार होंगे। अनुच्छेद 86(ग) में यह उपबंधित है कि अध्यक्ष एवं प्रबंधक-निदेशक तथा निदेशकों को यह शक्ति होगी कि वे अनुच्छेद 85(घ) के अनुसार नियुक्त किए गए किसी पूर्णकालिक निदेशक को किसी भी समय अपने आत्यंतिक विवेकानुसार हटा सकें। इस प्रकार संगम-अनुच्छेदों के अधीन निदेशक-बोर्ड द्वारा नियुक्त किया गया कोई भी निदेशक किसी भी समय हटाए जाने के दायित्वाधीन है। पिटीशनर को अनुच्छेद 85(घ) के अधीन पूर्णकालिक निदेशक नियुक्त किया गया था और उसकी सेवा अनुच्छेद 86(ग) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए निदेशक-बोर्ड द्वारा समाप्त कर दी गई है। संगम-अनुच्छेद निदेशक-बोर्ड की किसी निदेशक को सेवा से हटाने की शक्ति पर कोई बंधन नहीं लगाते। किसी निदेशक के हटाए जाने से सम्बन्धित निदेशक-बोर्ड की शक्ति कम्पनी अधिनियम की धारा 284 से अप्रभावित बनी रहती है । अतः सेवा-समाप्ति का आक्षेपित आदेश कम्पनी अधिनियम की धारा 284 का उल्लंघन नहीं करती । (पैरा 12)

		पैरा
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी०-212 : सोम प्रकाश रेखी बनाम यूनियन आफ इंडिया (Som Prakash Rekhi *Vs.* Union of India) ;	9
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1242 : आइल एंड नेचुरल गैस कमिशन और अन्य बनाम डा० मोहम्मद एस० सिकंदर अली (Oil and Natural Gas Commission and others *Vs.* Dr. Mohammad S. Sikander Ali) ;	7
[1979]	ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1629 : रामन दयाराम शेट्टी बनाम दि इन्टरनेशनल एयरपोर्ट अथारिटी आफ इंडिया और अन्य (Raman Dayaram Shetty *Vs.* The International Airport Authority of India and others) ;	8
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2547 : स्टेट आफ उत्तर प्रदेश बनाम रामचंद्र त्रिवेणी (State of Uttar Pradesh *Vs.* Ramchandra Triveni);	7
[1970]	ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1150 : डा० एस० एल० अग्रवाल बनाम जनरल मैनेजर, हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड (Dr. S. L. Aggarwal *Vs.* General Manager, Hindustan Steel Limited) का अवलम्ब लिया गया ।	9
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 487 : अजय हसिया बनाम खालीद मुजीब सहरावर्दी और अन्य (Ajay Hasia etc. *Vs.* Khalid Mujib Shehravardi and others) ;	8
[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 212 : सोम प्रकाश रेखी बनाम भारत संघ (Som Prakash Rekhi *Vs.* Union of India) से प्रभेद बताया गया ।	8

आरंभिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1982 का रिट पिटीशन सं० 1230

संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री पालक बसु

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री वी० के० तिवारी तथा स्थायी काउंसेल।

न्यायालय का निर्णय न्या० के० एन० सिंह ने दिया।

न्या० सिंह :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन द्वारा पिटीशनर ने इस अनुतोष का दावा किया है कि पिटीशनर की सेवा समाप्त करने वाला 18-10-1982 का आदेश अभिखंडित करते हुए प्रतिप्रेषण का रिट जारी किया जाए और प्रत्यर्थियों को उसे नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (उत्तर प्रदेश) लिमिटेड, कानपुर के निदेशक (तकनीकी) के रूप में कार्य करते में हस्तक्षेप करने से अवरुद्ध किया जाए।

2. 1976 की जुलाई में पिटीशनर को पटलाद टैक्सटाइल मिल्स, पटलाद (गुजरात) लिमिटेड का, जो नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन का एक एकक है, उत्पादन-प्रबंधक नियुक्त किया गया था। पिटीशनर को बाद में गुजरात स्थित राज नगर टैक्सटाइल मिलस का महाप्रबंधक नियुक्त किया गया। नवम्बर, 1980 में पिटीशनर को कलकत्ता स्थित नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन पश्चिम बंगाल (डब्ल्यू बी ए बी एण्ड कं०) में स्थानांतरित कर दिया गया। मई, 1982 में पिटीशनर को उत्तर प्रदेश स्थित नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन में स्थानांतरित किया गया और उसे कानपुर स्थित नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (उत्तर प्रदेश) का निदेशक (तकनीकी) नियुक्त किया गया। जब पिटीशनर कलकत्ता में तैनात था तो संसद् में ये प्रश्न पूछे गए कि पिटीशनर राज्य सरकार का पदच्युत कर्मचारी था और फिर भी उसे नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन की अनुषंगी कंपनियों में से एक का निदेशक कूट-रचित दस्तावेजों के आधार पर नियुक्त कर दिया गया था। केन्द्रीय सरकार द्वारा जारी किए गए निदेश पर नई दिल्ली स्थित एन० टी० सी० लिमिटेड ने कलकत्ता स्थित एन० टी० सी० लिमिटेड के अध्यक्ष एवं प्रबंध-निदेशक को यह निदेश दिया कि पिटीशनर से यह स्पष्टीकरण लिया जाए कि पश्चिम बंगाल के नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन की सेवा से उसकी पदच्युति कैसे हुई थी और इस अभिकथन के सम्बन्ध में भी उसका स्पष्टीकरण लिया जाए कि

उसने अपनी पदच्युति के सम्बन्ध में तथ्यों को छिपाया था। तारीख 17-5-1982 को पिटीशनर ने अपना स्पष्टीकरण दिया, जिस पर एन० टी० सी०, नई दिल्ली ने विचार किया। तत्पश्चात् एन० टी० सी० (उत्तर प्रदेश) लिमिटेड के निदेशक-बोर्ड ने पिटीशनर की सेवा-समाप्ति का विनिश्चय किया। तदनुसार अध्यक्ष एवं प्रबन्ध निदेशक ने सेवा-समाप्ति का आदेश जारी किया। जो उसके 18-10-1982 के पत्र में अंतर्विष्ट है और जिसके द्वारा पिटीशनर की सेवा 18-10-1982 से समाप्त कर दी गई। व्यथित होकर पिटीशनर ने अपनी सेवा-समाप्ति के आदेश की विधिमान्यता को चुनौती दी है।

3. पिटीशनर के विद्वान काउंसेल श्री पालक बसु ने निम्नलिखित दलीलें दीं—(1) सेवा-समाप्ति का आदेश यद्यपि प्रकट रूप में अनपकारी लगता है, किन्तु वह पिटीशनर को प्रतिरक्षा का अवसर दिए बिना दंड स्वरूप जारी किया गया था, (2) पिटीशनर की सेवा-समाप्ति का आदेश मनमाना है और संविधान के अनुच्छेद 14 तथा 16 का उल्लंघन करता है, तथा (3) चूंकि पिटीशनर एक कम्पनी का निदेशक था, अतः उसे कंपनी अधिनियम की धारा 284 के अनुसार ही हटाया जा सकता था।

4. नई दिल्ली स्थित नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन कंपनी अधिनियम की धारा 617 के अर्थान्तर्गत सरकारी कंपनी है। यह एक नियंत्री कंपनी है, जिसके अधीन अनेक अनुषंगी सरकारी कंपनियां हैं, जिनके अंतर्गत एन० टी० सी० (गुजरात) लिमिटेड, एन० टी० सी० (यू० पी०) लिमिटेड तथा एन० टी० सी० वेस्ट बंगाल आते हैं। पिटीशनर की सेवा उस समय समाप्त की गई, जब वह कानपुर स्थित एन० टी० सी० (यू० पी०) का निदेशक (तकनीकी) था। यह कंपनी भी सरकारी कंपनी थी। पिटीशनर की निदेशक के रूप में नियुक्ति एन० टी० सी० (यू० पी०) लिमिटेड, कानपुर के संगम-अनुच्छेदों के अनुच्छेद 133 के साथ पठित अनुच्छे 85(घ) के अधीन की गई थी। ऐसा प्रतीत होता है कि नई दिल्ली स्थित नियंत्री कंपनी, अर्थात् नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन द्वारा अपनी अनुषंगी कंपनी अर्थात् एन० टी० सी० (यू० पी०) को यह निदेश दिया गया कि वह पिटीशनर की सेवा समाप्त कर दे। एन०टी० सी० (यू० पी०) के निदेशक-बोर्ड ने नियंत्री कंपनी के निदेशानुसार अपने अधिवेशन में पिटीशनर की सेवा समाप्त करने का संकल्प पारित किया। पिटीशनर की सेवा उन संगम-अनुच्छेदों के अनुसार समाप्त की गई, जो सेवा संविदा के निबंधनों को विनियमित करते हैं।

5. पिटीशनर की यह दलील ग़लत धारणा पर आधारित है कि

सेवा-समाप्ति का आदेश पिटीशनर को अवसर दिए बिना दंड स्वरूप पारित किया गया था। यह परिवाद प्राप्त होने पर कि पिटीशनर राज्य सरकार के उपक्रम से पदच्युत किया गया था, पिटीशनर का स्पष्टीकरण अभिप्राप्त किया गया। अपने स्पष्टीकरण में पिटीशनर ने यह स्वीकार किया कि पहले वह वेस्ट बंगाल स्पिनिंग एंड वीविंग मिल्स में, जो पश्चिम बंगाल का एक राज्य उपक्रम था, नियोजित था। प्रबंध-मंडल के साथ विवाद उठा, जिसके परिणामस्वरूप उसकी सेवा समाप्त कर दी गई, किन्तु उसने सेवा-समाप्ति के आदेश को चुनौती दी और विवाद न्यायालय में लंबित था। उसने यह प्रकथन किया कि चूंकि मामला न्यायाधीन था, अतः उसने यह आवश्यक नहीं समझा कि वह इस बात का उल्लेख नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन में रोजगार की प्रार्थना करने वाले आवेदन में करता। जांच करने पर निगम ने यह पाया कि पिटीशनर सेवा से पदच्युत कर दिया गया था और उस आदेश के विरुद्ध कलकत्ता उच्च न्यायालय में उसके द्वारा फाइल किया गया रिट पिटीशन भी खारिज कर दिया गया था और पिटीशनर ने इस तात्विक तथ्य को छिपाया था। प्रतिशपथपत्र में यह भी प्रकथन किया गया है कि पिटीशनर का आचरण एन० टी० सी० (गुजरात) लिमिटेड में समाधानप्रद नहीं था और वहां उसके विरुद्ध लेखाओं के सम्बन्ध में गड़बड़ करने तथा दस्तावेजों की कूटरचना करने की गंभीर शिकायतें थीं, जिनके परिणामस्वरूप निगम का उसमें विश्वास नहीं रहा। इस प्रकार यह प्रकट है कि शिकायत मिलने हर पिटीशनर का स्पष्टीकरण अभिप्राप्त किया गया और प्रारम्भिक जांच की गई। तत्पश्चात् उसकी सेवा समाप्त कर दी गई।

6. पिटीशनर की दलील यह है कि चूंकि जांच की गई और पिटीशनर को तात्विक तथ्य छिपाने का दोषी पाया गया, अतः सेवा-समाप्ति का आदेश सारतः दंडात्मक प्रकृति का है। हम इस दलील में कोई सार नहीं पाते। जब नियोजक द्वारा अपने कर्मचारी के विरुद्ध अभिकथनों की शुद्धता अभिनिश्चित करने के लिए प्रारंभिक जांच की जाती है और यदि तत्पश्चात् वह यह विनिश्चय करता है कि कर्मचारी को दंड देने के लिए कोई आनुषंगिक कार्यवाही किए बिना उसकी सेवा साधारण आदेश द्वारा समाप्त कर दी जाए, तो यह नहीं कहा जा सकता कि सेवा-समाप्ति के आदेश की प्रकृति दंडात्मक है। **चंपकलाल चिमन लाल शाह बनाम भारत संघ**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि प्रारम्भिक जांच प्रायः यह अवधारित करने के लिए की जाती कि क्या प्ररूपिक विभागीय जांच के लिए प्रथमदृष्ट्या मामला बनता है

---

[1] ए०.आई० आर० 1964 एस० सी० 1854.

अथवा नहीं और यह अत्यन्त आवश्यक है कि दोनों को एक ही न समझ लिया जाए। मात्र इस तथ्य का कि किसी अस्थायी सेवक के विरुद्ध एक प्रकार की प्रारम्भिक जांच की जाती है और जांच के अनुसरण में विनिर्दिष्ट सेवा नियम के अथवा संविदा के अनुसार उसकी सेवा समाप्त कर दी जाती है, यह अर्थ नहीं होगा कि सेवा-समाप्ति अनुच्छेद 311(2) के अर्थान्तर्गत पदच्युति या सेवा से हटाए जाने का दंड है।

7. आदेश का प्ररूप उसकी प्रकृति के सम्बन्ध में निश्चायक नहीं होता। आपेक्षित आदेश की पूर्ववर्ती या वर्तमान परिस्थितियों की न्यायालय द्वारा सम्यक्तः परीक्षा की जानी चाहिए और सर्वोपरि कसौटी यह होगी कि अवचार आदेश का मात्र हेतुक है अथवा उसका आधार ही है। प्रस्तुत मामले में यह स्पष्ट है कि पिटीशनर के विरुद्ध कोई दंडात्मक कार्यवाही नहीं की गई। पिटीशनर के आचरण से सम्बन्धित अभिकथन मात्र हेतुक था न कि आधार। **स्टेट आफ यू० पी० बनाम रामचन्द्र त्रिवेणी**[1] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि किसी अस्थायी सरकारी सेवक को पद पर कोई अधिकार नहीं होता और सेवा संविदा तथा सेवा नियमों के अधीन, जो सेवा को विनियमित करते हैं, राज्य को यह अधिकार है कि वह उसकी सेवा को एक मास का नोटिस देकर समाप्त कर सके। अतः सेवा-समाप्ति का आदेश, जो स्पष्टतः निर्दोष प्रकृति का था, आदेश के हेतुक के संबंध में जांच करने के पश्चात् दंडात्मक नहीं अभिनिर्धारित किया जा सकता था। **आयल एण्ड नेचुरल गैस कमिशन और अन्य** बनाम **डा० मोहम्मद एस० सिकन्दर अली**[2] में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि उस दशा में भी, जबकि अवचार, उपेक्षा, अक्षमता हेतुक हो या प्रेरक तत्व हो, जिसने कर्मचारी की सेवा समाप्त करने के लिए नियोजन पर प्रभाव डाला हो, सेवा-समाप्ति का अधिकार नियोजक को निस्संदेह होता है और सेवा संविदा से निसृत होती है। इस प्रश्न पर और मामले देना आवश्यक नहीं है। मात्र इतना कहना पर्याप्त होगा कि अब यह सुस्थिर है कि जहां सेवा-संविदा के निबंधनों के अधीन किसी कर्मचारी की सेवा समाप्त की जा सकती है वहां सेवा-समाप्ति का आदेश मात्र केवल इस आधार पर दंडात्मक आदेश नहीं कहा जा सकता कि नियोजक ने सेवा समाप्ति का आदेश पारित करने से पूर्व अपना समाधान करने के लिए प्रारंभिक जांच की। प्रस्तुत मामले में इस तथ्य से इनकार नहीं किया गया है कि

---

[1] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2547.

[2] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1242.

निदेशक-बोर्ड ने संगम-अनुच्छेदों के अधीन पिटीशनर को नियुक्त किया था और उसे पिटीशनर की सेवा-समाप्ति की शक्ति थी तथा सेवा संविदा में पिटीशनर को उसकी सेवा समाप्त करने से पूर्व कोई जांच या अवसर देना अनुध्यात नहीं था, अतः सेवा-समाप्ति का आदेश दंडात्मक आदेश नहीं कहा जा सकता।

8. तब विद्वान काउन्सेल ने यह कहा कि मात्र स्पष्टीकरण पर्याप्त नहीं था, क्योंकि आरोप विरचित नहीं किए गए, कोई जांच नहीं की गई और पिटीशनर को अपनी प्रतिरक्षा प्रस्तुत करने या साक्षियों की प्रतिपरीक्षा करने का अवसर नहीं दिया गया। उन्होंने यह भी आग्रह किया कि यद्यपि कि नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन सरकारी कम्पनी है, उसकी समस्त अंश-पूंजी की स्वामी सरकार है और उस पर सरकार का प्रभावी नियंत्रण है, अतः निगम राज्य का एक अभिकरण है, और संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत राज्य है। रा **दयाराम शेट्टी** बनाम **दि इन्टरनेशनल एअरपोर्ट अथारिटी आफ इंडिया और अन्य**[1], **अजय हसिया** बनाम **खलीद मुजीब सहरावर्दी और अन्य**[2], तथा **प्रकाश रेखी** बनाम भारत संघ[3] में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लेते हुए विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि पिटीशनर राज्य का कर्मचारी था और इसलिए उसे अपनी प्रतिरक्षा के लिए युक्तियुक्त अवसर का हक था। पिटीशनर द्वारा अवलंबित विनिश्चयों में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि जहां कोई निगम सरकार का अभिकरण या उपकरण हो, वहां यह अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि वह अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत प्राधिकारी है और इसलिए वह सरकार की भांति मौलिक अधिकारों का पालन करने की मौलिक पद्धति के अधीन है। सरकार का कोई उपकरण या अभिकरण अनुच्छेद 12 के अंतर्गत प्राधिकारी होता है। उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि सरकार के उपकरण या अभिकरण की विचारणा कानून द्वारा सृष्ट निगम तक ही सीमित नहीं है, बल्कि वह किसी कम्पनी या सोसाइटी को भी समानतः लागू होती है और किसी मामला-विशेष में सुसंगत बातों पर विचार करने के पश्चात् यह विनिश्चय करना होगा कि कम्पनी या सोसाइटी सरकार का उपकरण या अभिकरण है अथवा नहीं और वह अनुच्छेद 12 में प्रयुक्त 'प्राधिकारी' शब्द के अर्थान्तर्गत आता है या नहीं। इस मामले में और गहराई से जाने और यह विनिश्चय करने

---

1 ए० आर० आर० 1979 एस० सी० 1629.

2 ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 487.

3 ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 212.

आवश्यकता नहीं है कि नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन प्राधिकारी है अथवा नहीं, क्योंकि हमारी राय में यदि यह मान भी लिया जाए कि यह ऐसा प्राधिकारी है तो भी संविधान के अनुच्छेद 311 के उपबंध लागू नहीं होते। यदि नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन प्राधिकारी है और संविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत न्यायिक एकक है, तो भी पिटीशनर मौलिक अधिकारों की संरक्षा का हकदार होगा और संविधान के भाग 3 तथा 4 लागू होंगे। चूंकि पिटीशनर की सेवा संविदा के निबंधनों के अनुसार समाप्त की गई है, अतः पिटीशनर के मौलिक अधिकारों के उल्लंघन का प्रश्न नहीं उठता।

9. पिटीशनर संघ सरकार के अधीन अथवा राज्य सरकार के अधीन कोई सिविल पद नहीं धारण करता। मात्र इस बात से कि वह ऐसी सरकारी कम्पनी में नियोजित है, जो सविधान के अनुच्छेद 12 के अर्थान्तर्गत 'राज्य' है, वह अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का उसी प्रकार हकदार नहीं है, जैसा कि सरकारी सेवक होता है। **डा० एस० एल० अग्रवाल** बनाम **जनरल मैनेजर, हिन्दुस्तान स्टील्स लि०**[1] में इस प्रश्न पर विचार किया गया था कि क्या हिन्दुस्तान स्टील लिमिटेड का कर्मचारी, जो संपूर्णतः सरकार द्वारा वित्त-पोषित थी और जिसका प्रबंध भारत के राष्ट्रपति के उत्तरदायित्वाधीन था, सिविल पद धारण करता था और संविधान के अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का हकदार था। उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि सरकारी कम्पनी यद्यपि कि वह सरकार द्वारा पूर्णतः वित्त-पोषित और नियंत्रित हो, सरकार का विभाग नहीं मानी जा सकती। इसी प्रकार कम्पनी की सेवा को संघ या राज्य सरकार के अधीन सेवा नहीं माना जा सकता। अतः उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि हिन्दुस्तान स्टील लि० सरकार का विभाग नहीं था और उसके कर्मचारी राज्य के अधीन पद धारण करने वाले सेवक नहीं थे और इसलिए वे अनुच्छेद 311 के संरक्षण के हकदार नहीं थे। **सोम प्रकाश रेखी** बनाम **यूनियन आफ इण्डिया**[2] में **डाक्टर एस० एल० अग्रवाल के मामले**[3] में दिए गए विनिश्चय को दोहराया गया। इन विनिश्चयों से यह स्पष्ट हो जाता है कि सरकारी कम्पनी के कर्मचारी को संविधान के अनुच्छेद 311 के सांविधानिक संरक्षण का हक नहीं होता। ऐसी

---

[1] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1150.

[2] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 212.

[3] ए० आई० आर० 1970 एस० सी० 1150.

वस्तुस्थिति में पिटीशनर की यह दलील अवश्य ही अस्वीकार की जानी चाहिए कि सेवा-समाप्ति का आक्षेपित आदेश दंडात्मक आदेश है और चूंकि प्रतिरक्षा का कोई युक्तियुक्त अवसर नहीं दिया गया था, अतः दूषित हो गया। वे विचारणाएं जो सरकारी सेवक की सेवा-समाप्ति की विधिमान्यता अवधारित करने के लिए ध्यान में रखी जाती हैं, सरकारी कम्पनी के कर्मचारी की सेवा-समाप्ति के आदेश को लागू नहीं की जा सकतीं। पिटीशनर का स्पष्टीकरण अभिप्राप्त किया गया और उसके पक्षकथन पर निगम द्वारा उसकी सेवा समाप्त करने से पूर्व विचार किया गया था। नियमों के अभाव में नैसर्गिक सिद्धांतों का पालन हो गया था और यह आवश्यक नहीं था कि पिटीशनर को आगे और अवसर दिया जाए।

10. विद्वान काउन्सेल की यह दलील भी निस्सार है कि पिटीशनर की सेवा-समाप्ति मनमानी है और संविधान के अनुच्छेद 14 की उल्लंघनकारी है। प्रत्यर्थी निगम की ओर से फ़ाइल किए गए दो प्रतिशपथपत्रों में अन्तर्विष्ट प्रकथनों से यह पर्याप्त रूप में स्पष्ट हो जाता है कि निगम पिटीशनर के कार्य तथा आचरण से संतुष्ट नहीं था और यह भी पाया गया था कि पिटीशनर ने सरकारी उपक्रम से अपनी पदच्युति के संबंध में तात्विक तथ्यों को छिपाया था और इसलिए निगम ने यह विनिश्चय किया कि पिटीशनर की सेवा समाप्त कर दी जाए। अतः इस प्रकार पिटीशनर की सेवा-समाप्ति का विधिमान्य कारण था, जिसे किसी भी कल्पना के आधार पर यह नहीं कहा जा सकता कि वह मनमाना या विभेदकारी था।

11. तब पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि चूंकि पिटीशनर सरकारी कम्पनी का निदेशक था, अतः उसे कम्पनी अधिनियम, 1956 की धारा 284 में अधिकथित प्रक्रिया के अनुसार ही हटाया जा सकता था। निदेशक-बोर्ड को पिटीशनर को हटाने का कोई प्राधिकार नहीं था, क्योंकि वह कम्पनी का निदेशक था। धारा 284 में यह अधिकथित है कि कोई कंपनी मामूली संकल्प द्वारा किसी निदेशक को हटा सकती है। किसी निदेशक को हटाने के संकल्प का नोटिस प्राप्त करने पर कम्पनी उसकी एक प्रति संबद्ध निदेशक को भेजेगी और यदि वह कम्पनी के समक्ष अभ्यावेदन करता है, तो वह कंपनी की समिति के समक्ष विचारार्थ रखी जा सकती है। यह दलील दी गई कि धारा 284 द्वारा विहित प्रक्रिया का अनुसरण नहीं किया गया और इसलिए पिटीशनर का निदेशक के पद से हटाया जाना विधिविरुद्ध हो गया। निस्संदेह धारा 284 में कम्पनी के अंशधारकों के अधिवेशन

मामूली संकल्प द्वारा कम्पनी के किसी निदेशक को हटाने की प्रक्रिया उपबंधित है, किन्तु धारा निःशेषकारी नहीं है। निदेशक सेवानिवृत्ति, पदच्युति, हटाए जाने से या स्वेच्छया अपना पद रिक्त करके भी पद धारण करना बंद कर सकता है। उसे निदेशक बोर्ड द्वारा अथवा अंशधारकों द्वारा कम्पनी के अधिवेशन में भी हटाया जा सकता है। धारा 284 अंशधारकों द्वारा निदेशक के हटाने का उपबंध मात्र करती है और उसके लिए प्रक्रिया विहित करती है। उसमें इस बात का प्रतिषेध नहीं है कि धारा 284 का अनुसरण किए बिना किसी निदेशक को नहीं हटाया जा सकता। धारा 284 की उपधारा (7)(ख) में यह अधिकथित है कि इस धारा में की कोई बात किसी निदेशक को हटाने की ऐसी शक्ति को लघूकृत करने वाली नहीं समझी जाएगी, जो इस धारा से पृथक् अस्तित्व में हो। अतः स्वयं धारा में ही यह अनुध्यात है कि धारा में अन्तर्विष्ट उपबन्धों के अतिरिक्त भी निदेशक को हटाया जा सकता है। अतः जहां संगम-अनुच्छेद निदेशक-बोर्ड को यह शक्ति देते हैं कि वह प्रबन्ध-निदेशक को या अन्य निदेशकों को हटा सके, वहां ऐसी शक्ति पर धारा 284 के उपबंधों से कोई प्रभाव नहीं पड़ेगा।

12. नेशनल टैक्सटाइल कारपोरेशन (उत्तर प्रदेश) लि० के ज्ञापन तथा संगम-अनुच्छेदों का अनुच्छेद 84 निदेशकों के गठन का उपबंध करता है। अनुच्छेद 85 में अध्यक्ष एवं प्रबन्धक-निदेशक तथा अन्य निदेशक पूर्णकालिक निदेशकों की नियुक्ति करने के हकदार होंगे। अनुच्छेद 86(ग) में यह उपबंधित है कि अध्यक्ष एवं प्रबंधक-निदेशक तथा निदेशकों को यह शक्ति होगी कि वे अनुच्छेद 85(घ) के अनुसार नियुक्त किए गए किसी पूर्णकालिक निदेशक को किसी भी समय अपने आत्यंतिक विवेकानुसार हटा सकें। इस प्रकार संगम-अनुच्छेदों के अधीन निदेशक बोर्ड द्वारा नियुक्त किया गया कोई भी निदेशक किसी भी समय हटाए जाने के दायित्वाधीन है। पिटीशनर को अनुच्छेद 85(घ) के अधीन पूर्णकालिक निदेशक नियुक्त किया गया था और उसकी सेवा अनुच्छेद 86(ग) के अधीन अपनी शक्तियों का प्रयोग करते हुए निदेशक-बोर्ड द्वारा समाप्त कर दी गई है। संगम-अनुच्छेद निदेशक-बोर्ड की किसी निदेशक को सेवा से हटाने की शक्ति पर कोई बंधन नहीं लगाते। किसी निदेशक के हटाए जाने से संबंधित निदेशक-बोर्ड की शक्ति कम्पनी अधिनियम की धारा 284 से अप्रभावित बनी रहती है। अतः सेवा-समाप्ति का आक्षेपित आदेश कम्पनी अधिनियम की धारा 284 का उल्लंघन नहीं करता।

13. परिणामस्वरूप हम उपर्युक्त कारणों से यह अभिनिर्धारित करते

हैं कि पिटीशनर किसी भी अनुतोष का हकदार नहीं है । पिटीशन असफल होता है और तदनुसार खर्चे सहित खारिज किया जाता है ।

न्या० गोपीनाथ :

मैं सहमत हूं ।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—58

श्रीमती महेन्द्र कौर बनाम हफीज खलील और अन्य

(Smt. Mahendra Kaur *Vs.* Hafiz Khalil & Others)

तारीख 5 सितम्बर, 1983

[मु० न्या० सतीश चन्द्र, न्या० के० सी० अग्रवाल और न्या० ए० एन० वर्मा]

सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, आदेश 1 का नियम 10(2) सपठित आदेश 22 का नियम 4 और 9—सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 का नियम 10(2) वैवेकिक है और न्यायालय को किन्हीं मामलों में किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ने की शक्ति देता है जहाँ पर ऐसा करने के लिए न्याय के हित में आवश्यक है—यदि इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग मृत प्रतिवादी के वारिसों के प्रतिस्थापन करने के लिए किया जाता है तो वह आवश्यक रूप से उपशमन के परिणाम को अकृत करेगी जिसमें वारिसों को अभिलेख पर नहीं लाया गया था और ऐसा न करने के लिए कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था—यह शक्ति सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 में उपबन्धित उपबन्धों के अनुसार ही प्रयोग की जा सकती है ।

हफीज खलील, विरोधी पक्षकार सं० 1 ने एक वाद फाइल किया था जो श्रीमती जीवन कौर (उस समय जीवित थी) के और सरदार इन्दर सिंह के विरुद्ध व्यादेश के लिए फाइल किया गया था जिसमें उनको वादग्रस्त भूमि पर विनिर्माण करने से और वादी के भूमि पर निर्गमन और प्रवेश के अधिकार में हस्तक्षेप करने से रोकने के लिए प्रार्थना की गई थी । श्रीमती जीवन कौर की वाद के लम्बित रहने के दौरान मृत्यु हो गई । वादी ने प्रतिस्थापन के लिए

कोई भी आवेदन नहीं दिया और विधि द्वारा परिसीमित समय के अन्दर उपशमन को अपास्त करने के लिए भी कोई आवेदन नहीं दिया। समय के समाप्त हो जाने के बहुत समय बाद वादी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 के अधीन प्रतिस्थापन के लिए इस आधार पर आवेदन किया कि उसे श्रीमती जीवन कौर की मृत्यु के बारे में जानकारी बाद में प्राप्त हुई थी। उसके बाद उसने दो आवेदन दिए जिनमें से एक विलम्ब की माफी के लिए था और दूसरा उसके बाद उपशमन को अपास्त करने के लिए दिया गया था। विद्वान् मुन्सिफ ने यह निर्धारित करते हुए कि विलम्ब का संतोषजनक रूप से स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है और इसलिए विलम्ब माफ करने के लिए और उपशमन को अपास्त करने के लिए कोई भी पर्याप्त कारण नहीं है, आवेदन खारिज कर दिया। यह विचार व्यक्त करते हुए, कि प्रतिस्थापन के आदेश को खारिज कर देने के बावजूद मृतक श्रीमती जीवन कौर के वारिसों को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन अभिलेख पर लाया जा सकता था, उपशमन को अपास्त करने के लिए और विलम्ब को माफ करने के लिए दिए गए आवेदनों पर न्यायालय ने मृतक श्रीमती जीवन कौर के वारिसों को पक्षकार बनाने के लिए निदेश दिया।

उच्च न्यायालय के समक्ष विचार के लिए मुख्य प्रश्न यह है कि क्या मृतक के वारिसों को किसी न्यायालय द्वारा अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग में अभिलेख पर लाया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 में मृतक वादकारी के वारिसों को अभिलेख पर लाने के लिए एक आवेदन देने के लिए सम्पूर्ण प्रक्रिया निर्धारित की गई है। यदि आवेदन 90 दिन के अंदर फाइल नहीं किया गया है तो वाद का उपशमन हो जाएगा और आदेश 22 के किसी भी उप नियम के उपबंधों के अधीन इसके उपशमन का प्रभाव नियम 9 और उपनियम 2 में वर्णित किया गया है जो उपशमन के द्वारा व्यथित व्यक्ति के लिए उपचार उपबन्धित करता है। नियम 9 के अधीन वादी या वह व्यक्ति जो मृत वादी का विधिक प्रतिनिधि होने का दावा करता है, उपशमन को अपास्त करने के लिए आवेदन कर सकता है और यदि यह साबित कर दिया जाता है कि वाद को चालू रखने से वह किसी पर्याप्त हेतुक से निवारित रहा था तो न्यायालय वाद के उपशमन या वाद की खारिजी को इस प्रकार के निबन्धनों पर, जैसे खर्चे, अपास्त कर सकता है। उपशमन के अपास्त हो जाने पर, वाद को जीवित कर दिया जाता

है और यह उस प्रक्रम से अग्रसर होगा जहां पर मृत्यु हुई थी। यह कहा जा सकता है कि एक विधिक प्रतिनिधि सिर्फ उस वादहेतुक पर वाद को चालू रख सकेगा जिस पर वाद चलाया गया था और कोई नया या व्यक्तिगत अधिकार पैदा नहीं कर सकता। (पैरा 10)

सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 22 विशिष्ट रूप से पक्षकारों की "मृत्यु, शादी और दिवालायापन" के मामलों में लागू होने वाली प्रक्रिया को निर्धारित करता है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 का नियम 10, न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह कार्यवाहियों के किसी भी प्रक्रम पर या तो दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबन्धनों पर जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हों, यह आदेश दे सकेगा कि किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ा जा सकेगा यदि न्यायालय के विचार में इस प्रकार के व्यक्ति का पक्षकार बनाना वाद में अंतर्वलित सभी प्रश्नों का प्रभावी तौर पर और पूरी तरह न्यायनिर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1, नियम 10 और आदेश 22 के नियम 4 और 9 में बहुत बड़ा अन्तर है। आदेश 1 के नियम 10 में किसी मृतक के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के प्रतिस्थापन के बारे में उपबन्ध नहीं है। यह न्यायालय को किसी भी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाना या जोड़ना या अनुचित तौर पर संयोजित किसी व्यक्ति के नाम को काटने की शक्ति प्रदान करता है यदि न्यायालय विवाद में वास्तविक मामले के अवधारण के लिए आवश्यक समझता है। आदेश 22 का नियम 4 वादी को मृतक के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए अधिकार प्रदान करता है। यदि वाद चलाने का अधिकार नहीं बचता है तो वाद समाप्त हो जाएगा और उपशमन हो जाएगा। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 द्वारा दिए गए अधिकार से न्यायालय किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ सकेगा। आदेश 1 के नियम 10 का एक विशिष्ट और सीमित प्रयोजन है जो सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 द्वारा अनुध्यात प्रयोजन से भिन्न है। ये दो उपबंधों, दो सम्भाव्यताओं और आकस्मिकताओं के बारे में हैं। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 के अधीन मृत पक्षकार के स्थान पर वाद में किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाने के लिए आवेदन फाइल करने के लिए है और यह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन एक नए पक्षकार को जोड़ने की प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। इनमें मुख्य

अन्तर यह है कि एक मामले में पक्षकारों का अधिकार दूसरे मामले में पक्षकार के अधिकार से भिन्न है । एक विधिक प्रतिनिधि वही हैसियत और अधिकार रखता है जो मृतक के थे जबकि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाए गए किसी व्यक्ति का दायित्व और अधिकार सीमित नहीं होगा और वह कोई भी दलील लेने के लिए, जिसकी उसे सलाह दी गई है, हकदार होगा । (पैरा 11)

कानून के निर्वचन का स्थिर नियम यह है कि यदि जहां पर विशिष्ट मामले का व्यवहार करने के लिए कोई विशिष्ट उपबंध है तो वह साधारण उपबंध पर अध्यारोही होगा । किसी उपबंध को विशिष्ट तभी कहा जाता है जब वह किसी विशिष्ट उद्देश्य को पूरा करने के बारे में यथावत् या निश्चित हो । (पैरा 15)

सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 का नियम 10(2) वैवेकिक है और न्यायालय को उन मामलों में किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ने की शक्ति देता है जहां पर ऐसा करने के लिए न्याय के हित आवश्यक हैं । यदि इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग मृत प्रतिवादी के वारिसों के प्रतिस्थापन करने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो वह आवश्यक रूप से उपशमन के परिणाम को अकृत करेगा जिसमें वारिसों को अभिलेख पर नहीं लाया गया था और ऐसा न करने के लिए कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था । यह सिर्फ सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 में और परिसीमा अधिनियम की धारा 5 में उपबन्धित उपबंध के अनुसार प्रयोग की जा सकती है । (पैरा 23)

		पैरा
[1974]	ए० आई० आर० 1974 इलाहाबाद 422 : खलील अहमद **बनाम** अपर जिला न्यायाधीश, गोरखपुर और अन्य (Khalil Ahmad *Vs.* Additional District Judge, Gorakhpur and others);	1
[1958]	ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 886 : रज़िया बेगम **बनाम** साहिबज़ादी अनवर बेगम और अन्य (Razia Begam *Vs.* Sahibzadi Anwar Begam and others)	28

से प्रभेद बतलाया गया ।

[1979] ए० आई० आर० 1979 गोवा पृ० 8 : वी० एन० बांडेकर **बनाम** मैसर्स जनार्दन जी थाली एण्ड कम्पनी (V. N. Bandekar *Vs.* M/s. Janardan G. Thaly & Company); 28

[1978] ए० आई० आर० 1978 मद्रास 294 : स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया लिमिटेड **बनाम** के० वी० वैद्यालिंगम् और अन्य (State Trading Corporation of India Ltd. *Vs.* K.V. Vaidyalingam and others); 12, 28

[1969] ए० आई० आर० 1969, एस० सी० 677 : मोहन राज **बनाम** सुरेन्द्र कुमार (Mohan Raj *Vs.* Surendra Kumar); 25

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 215 : भारत संघ **बनाम** राम चरण (Union of India *Vs.* Ram Charan); 24

[1963] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1901 : रामेश्वर प्रसाद **बनाम** शामबेहर लाल (Rameshwar Prasad *Vs.* Shambehar Lal); 22

[1961] ए० आई० आर० 1961 पटना पृ० 178 : जमुना राय और अन्य **बनाम** चन्द्रदीप राय (Jamuna Rai and others *Vs.* Chandradip Rai); 28

[1958] ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 681 : शिशिर कुमार तरफदार **बनाम** मनींद्र कुमार बिसवास (Sisir Kumar Tarafdar *Vs.* Manindra Kumar Biswas) 14, 2[illegible]

का अवलम्ब लिया गया ।

[1983] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 355 : भगवान स्वरूप और अन्य **बनाम** मूलचन्द और अन्य (Bhagwan Swarup and others *Vs.* Mool Chand and others); 1[illegible]

[1981]	ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1450 : मुसम्मात बीबी रहमानी खातून और अन्य **बनाम** हरकू गोपे और अन्य (Mst. Bibi Rehmani Khatoon and others *Vs*. Harkoo Gope and others);	8
[1974]	ए० आई० आर० 1974 इलाहाबाद 422 : खलील अहमद **बनाम** अपर जिला न्यायाधीश, गोरखपुर और अन्य (Khalil Ahmed *Vs*. Additional District Judge, Gorakhpur and others);	1,4,6,26
[1972]	ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 2526 : जे० सी० चटर्जी **बनाम** एस० के० टंडन (J. C. Chatterji *Vs*. S. K. Tandon);	10
[1969]	ए० आई० आर० 1969 पंजाब और हरियाणा 373 : गोबरधन दास **बनाम** दर्शन सिंह (Gobardhan Das *Vs*. Darshan Singh);	1,4,13
[1966]	ए० आई० आर० 1966, एस० सी० 828 : वेंकटेश्वर राव **बनाम** आन्ध्र प्रदेश सरकार (Venkateshwar Rao *Vs*. Government of Andhra Pradesh);	16
[1966]	ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1342 : सी० आई० टी० पटियाला **बनाम** शहजादानन्द एण्ड संस (C. I. T. Patiala *Vs*. Shahzada Nand & Sons).	16
[1940]	ए० आई० आर० 1940 प्रि० कौ० 215 : मोहम्मद अली त्याद अली **बनाम** सफिया वाई (Mohammad Ali Tyad Ali *Vs*. Safia Vai)	29

निर्दिष्ट किए गए।

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 1978 का पुनरीक्षण संख्या 2019.

शाहजहांपुर के मुन्सिफ के तारीख 31 जनवरी, 1978 के आदेश के विरुद्ध फाइल किया गया सिविल पुनरीक्षण।

आवेदक की ओर से ··· श्री कान्त और श्री सी० बी० मिश्रा

प्रत्यर्थियों की ओर से ··· श्री रवि किरण जैन

न्यायालय का निर्णय न्या० के० सी० अग्रवाल द्वारा दिया गया।

न्या० के० सी० अग्रवाल :

इस पूर्ण न्यायपीठ का गठन खलील अहमद बनाम अपर जिला न्यायाधीश, गोरखपुर और अन्य[1] में दिए गए विनिश्चय की शुद्धता के बारे में विनिश्चित करने के लिए किया गया है।

2. इस निर्देश को विनिश्चित्त करने के लिए इस मामले के सुसंगत तथ्य इस प्रकार हैं। हफीज खलील, विरोधी पक्षकार संख्या 1 ने 1972 का वाद संख्या 309 फाइल किया था जो श्रीमती जीवन कौर (उस समय जीवित थी) के और सरदार इन्दर सिंह के विरुद्ध व्यादेश के लिए फाइल किया गया था। जिसमें उनको वादग्रस्त भूमि पर विनिर्माण करने से और वादी के भूमि पर निर्गमन और प्रवेश के अधिकार में हस्तक्षेप करने से रोकने के लिए प्रार्थना की गयी थी।

3. श्रीमती जीवन कौर की 17 नवम्बर, 1974 को मृत्यु हो गई। वादी ने प्रतिस्थापन के लिए कोई भी आवेदन नहीं दिया और विधि द्वारा विहित समय के अन्दर उपशमन को अपास्त करने के लिए भी कोई आवेदन नहीं दिया। समय के समाप्त हो जाने के बहुत समय बाद वादी ने 18 मई, 1976 को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 के अधीन प्रतिस्थापन के लिए इस आधार पर आवेदन किया कि उसे श्रीमती जीवन कौर की मृत्यु के बारे में जानकारी 27 मार्च, 1976 को हुई थी। उसके बाद उसने दो आवेदन दिए जिनमें से एक विलम्ब की माफी के लिए था और दूसरा उसके बाद 7 सितम्बर, 1976 को उपशमन को अपास्त करने के लिए दिया गया था।

4. विद्वान् मुन्सिफ ने यह निर्धारित करते हुए कि विलम्ब का संतोषजनक रूप से स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है और इसलिए विलम्ब माफ करने के लिए और उपशमन को अपास्त करने के लिए कोई भी पर्याप्त कारण नहीं हैं, 31 जनवरी, 1978 को आवेदन खारिज कर दिया। यह विचार व्यक्त करते हुए, कि प्रतिस्थापन के आदेश को खारिज कर देने के बावजूद मृतक श्रीमती जीवन कौर के वारिसों को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन अभिलेख पर लाया जा सकता था, उपशमन को अपास्त करने के लिए और विलम्ब को माफ करने के लिए दिए गए आवेदन पर न्यायालय ने मृतक श्रीमती जीवन कौर के वारिसों को 31 जनवरी, 1978 को पक्षकार बनाने के लिए निदेश दिया। विद्वान् मुन्सिफ ने **खलील अहमद बनाम अपर जिला न्यायाधीश, गोरखपुर और अन्य**[1] (उपर्युक्त) का मृतक

---

[1] ए० आई० आर० 1974, इलाहाबाद 422.

जीवन कौर के वारिसों को पक्षकार बनाने के लिए निदेश देने में अवलम्ब लिया है। इस मामले में इस न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने यह निर्धारित किया है कि सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 1 का नियम 10(2) न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह किसी भी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में पक्षकार बना सकता है जब इस प्रकार का पक्षकार बनाना न्यायालय के लिए वाद में अंतर्वलित प्रश्न को न्यायनिर्णीत करने के लिए आवश्यक हो। खण्ड न्यायपीठ के मतानुसार किसी भी व्यक्ति को प्रतिवादी के रूप में अभिलेख पर लाने में या पक्षकार बनाने में वादी का निष्क्रिय हो जाना इस नियम के अधीन न्यायालय की शक्ति को प्रभावित नहीं कर सकेगा।

5. यह पुनरीक्षण उपर्युक्त निर्णय के विरुद्ध किया गया है जो इस न्यायालय के विद्वान् एकल न्यायाधीश के समक्ष पेश हुआ था, जिसने **खलील अहमद** बनाम अपर जिला न्यायाधीश, **गोरखपुर और अन्य**[1] (उपर्युक्त) में दिए गए दृष्टिकोण की शुद्धता के बारे में संदेह प्रकट किया है। परिणामस्वरूप उसने मुख्य न्यायाधीश के समक्ष कागज-पत्र प्रस्तुत करने के लिए निदेश दिया जो मामले को बड़ी न्यायपीठ के समक्ष निर्देशित कर सकें।

6. यह मामला 2 जुलाई, 1979 को एक खण्ड न्यायपीठ के समक्ष पेश किया गया। न्यायपीठ ने विलम्ब को माफ करने के कारण की पर्याप्तता के बारे में विचारण न्यायालय के लिए विवाद्यक विप्रेषित किया जिससे विचारण न्यायालय विनिश्चित कर सके। चूंकि इस विवाद्यक पर कोई भी निष्कर्ष नहीं था अतः इस विवाद पर वापस किया गया निष्कर्ष वादी-विरोधी-पक्षकार के विरुद्ध था। फिर भी इस धारणा के होने की वजह से कि विद्वान् एकल न्यायाधीश द्वारा दिया गया निर्देश एक पूर्ण न्यायपीठ के विचार के लिए समुचित रूप से भेजा जाना चाहिए, खण्ड न्यायपीठ ने इस मामले को पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष 2 जुलाई, 1979 को निर्देशित किया। परिणामस्वरूप माननीय मुख्य न्यायाधीश ने इस न्यायपीठ का यह विनिश्चय करने के लिए गठन किया है कि क्या **खलील अहमद** बनाम अपर जिला, **न्यायाधीश गोरखपुर**[1] (पूर्वोक्त) वाले मामले में अधिकथित मत सही विधि के रूप से लागू होता है।

7. सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 22 उन मामलों पर लागू होता है जिनमें वाद के लम्बित रहने के दौरान हित का सृजन, हस्तांतरण या न्यागमन होता है। यह उस तरीके का समापन है जिसमें उस व्यक्ति का जिसकी वाद या अपील के लम्बित रहने के दौरान मृत्यु हो गई है, प्रतिनिधित्व उसके वारिसों

[1] ए० आई० आर० 1974 इलाहाबाद 422.

और विधिक प्रतिनिधियों द्वारा किया जा सकता है। आदेश 22 मामले के उस प्रक्रम में लागू होता है जबकि वादकारियों में से किसी एक वादकारी की, जो मुकदमे के लिए आवश्यक है, मृत्यु हो गई है। ऐसे व्यक्ति की मृत्यु से 90 दिन की समाप्ति के तुरन्त बाद वाद का अपने आप ही उपशमन हो जाता है। यदि वाद इस प्रकार का है जिसमें वाद लाने का अधिकार बचा नहीं रहता है, तो वहां पर मृत्यु से वाद समाप्त हो जाता है। दूसरी तरफ, यदि ऐसा वाद है जिसमें वाद लाने का अधिकार बचा रहता है, तो इस प्रकार की मृत्यु से वाद समाप्त नहीं होगा।

8. **मुसम्मात बीबी रहमानी खातून और अन्य बनाम हरकू गोपे और अन्य**[1] में उच्चतम न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 की स्कीम का परीक्षण किया था और इस स्कीम का परीक्षण करने के बाद उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया था :—

> "उपशमन की संकल्पना सिविल विधि में होती है। यदि कार्रवाई के एक पक्ष की विचारण न्यायालय में या अपील में या पुनरीक्षण में मृत्यु हो जाती है और वाद लाने का अधिकार बचा रहता है या एक दावे का उत्तर देना होता है तो वहां पर मृतक पक्षकार के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित किया जाएगा और ऐसा करने में असफल रहने पर कार्यवाहियों का उपशमन हो जाएगा अब यदि किसी वाद के पक्षकार की मृत्यु हो जाती है और उपशमन हो जाता है तो वहां पर वाद का उपशमन हो जाएगा।"

9. वाद का उपशमन स्वतः होता है। कथित प्रयोजन के लिए न्यायालय द्वारा कोई भी विशिष्ट आदेश पारित करना अपेक्षित नहीं है। प्रतिस्थापन का आवेदन देने के लिए उपबन्धित अवधि, 90 दिन, तक वाद खत्म नहीं होता है या समाप्त नहीं किया जाता है। किन्तु यदि कोई भी प्रतिस्थापन का आवेदन फाइल नहीं किया गया है तो इसका परिणाम यह होगा कि वाद स्वतः ही समाप्त हो जाएगा।

10. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 में मृतक वादकारी के वारिसों को अभिलेख पर लाने के लिए एक आवेदन देने के लिए सम्पूर्ण प्रक्रिया निर्धारित है। यदि आवेदन 90 दिन के अन्दर फाइल नहीं किया गया है तो वाद का उपशमन हो जाएगा और आदेश 22 के किसी भी उप नियम के उपबंधों के अधीन इसके उपशमन का प्रभाव नियम 9 और उसके उपनियम 2

---
1 ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1450.

में वर्णित किया गया है जिसमें उपशमन के द्वारा व्यथित व्यक्ति के लिए उपचार उपबन्धित है। नियम 9 के अधीन वादी या वह व्यक्ति जो मृतक वादी का विधिक प्रतिनिधि होने का दावा करता है, उपशमन को अपास्त करने के लिए आवेदन कर सकता है और यदि यह साबित कर दिया जाता है कि वाद को चालू रखने से वह किसी पर्याप्त हेतुक से निवारित रहा था तो न्यायालय वाद के उपशमन या वाद की खारिजी को खर्चे के बारे में इस प्रकार के निबन्धनों पर अपास्त कर सकता है। उपशमन के अपास्त हो जाने पर, वाद को जीवित कर दिया जाता है और यह उस प्रक्रम से अग्रसर होगा जहां पर मृत्यु हुई थी। यह कहा जा सकता है कि एक विधिक प्रतिनिधि सिर्फ उस वाद हेतुक पर वाद को चालू रख सकेगा जिस पर वाद चलाया गया था और कोई नया या व्यक्तिगत अधिकार पैदा नहीं कर सकता। (जे० सी० चटर्जी बनाम एस० के० टन्डन[1] देखिए)। इस प्रकार वह अपने लिए व्यक्तिगत रूप से कोई नई दलील नहीं ले सकता और न नई दलील पेश कर सकता है। उसकी दलील वही होगी जो एक विधिक प्रतिनिधि के रूप में उसकी हैसियत के अनुसार समुचित है। वह मामले में मृतक द्वारा ली गई दलील के विपरीत कोई भी दलील लेने का हकदार नहीं होगा।

11. सिविल प्रक्रिया संहिता का आदेश 22 विशिष्ट रूप से पक्षकारों की "मृत्यु, शादी और दिवालायापन" के मामलों में लागू होने वाली प्रक्रिया को निर्धारित करता है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 का नियम 10, न्यायालय को यह शक्ति प्रदान करता है कि वह कार्यवाहियों के किसी भी प्रक्रम में या तो दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबन्धनों पर जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हो, यह आदेश दे सकेगा कि किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ा जा सकेगा यदि न्यायालय के विचार में इस प्रकार के व्यक्ति का पक्षकार बनाना बाद में अंतर्वलित सभी प्रश्नों का प्रभावी तौर पर और पूरी तरह न्यायनिर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय को समर्थन बनाने की दृष्टि से आवश्यक है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 और आदेश 22 के नियम 4 और 9 में बहुत बड़ा अंतर है। आदेश 1 के नियम 10 में किसी मृतक के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के प्रतिस्थापन के बारे में उपबंध नहीं है। यह न्यायालय को किसी भी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाना या जोड़ना या अनुचित तौर पर संयोजित किसी व्यक्ति के नाम को काटने की शक्ति प्रदान करता

---

[1] ए० आई० आर० 1972, एस० सी० 2526.

है यदि न्यायालय विवाद में वास्तविक मामले के अवधारण के लिए आवश्यक समझता है। आदेश 22 का नियम 4 वादी को मृतक के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लेने के लिए अधिकार प्रदान करता है। यदि वाद चलाने का अधिकार नहीं बचता है तो वाद समाप्त हो जाएगा और उपशमन हो जाएगा। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 द्वारा दिए गए अधिकार से न्यायालय किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ सकेगा। आदेश 1 के नियम 10 का एक विशिष्ट और सीमित प्रयोजन है जो सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 द्वारा अनुध्यात प्रयोजन से भिन्न है। ये दो उपबंध दो सम्भाव्यताओं और आकस्मिकताओं के बारे में हैं जैसा कि ऊपर पहले ही निर्धारित किया जा चुका है कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 के अधीन मृतक पक्षकार के स्थान पर वाद में किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में पक्षकार बनाने के लिए आवेदन फाइल करने के लिए है और यह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन एक नए पक्षकार को जोड़ने की प्रक्रिया से बिल्कुल भिन्न है। इनमें मुख्य अंतर यह है कि एक मामले में पक्षकारों का अधिकार दूसरे मामले में पक्षकार के अधिकार से भिन्न है। एक विधिक प्रतिनिधि वही हैसियत और अधिकार रखता है जो मृतक के थे जबकि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन पक्षकार बनाए गए किसी व्यक्ति का दायित्व और अधिकार सीमित नहीं होगा और वह कोई भी दलील लेने के लिए, जिसकी उसे सलाह दी गई है, हकदार होगा।

12. **स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया लिमिटेड** बनाम **के० वी० वैद्यालिंगम और अन्य**[1] वाले मामले में इस विषय पर विचार किया गया था और इन दो प्रकार के व्यक्तियों के अधिकारों के बीच भिन्नता पर बहुत प्रकाश डाला गया है जिनको अभिलेख पर लाया गया है।

13. **गोबरधन दास** बनाम **वी० दर्शन सिंह**[2] वाले मामले में विद्वान न्यायाधीश ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) के प्रयोजन को निर्देशित किया है और यह अधिकथित किया कि उपर्युक्त उपबंध के अधीन एक पक्षकार को जोड़ना सिर्फ लम्बित वादों में ही किया जा सकता है वहां पर नहीं, जहां पर प्रतिवादी की मृत्यु हो गई है।

14. **शिशिर कुमार तरफदार** बनाम **मनींद्र कुमार बिसवास**[3]

---

[1] ए० आई० आर० 1978 मद्रास 294.

[2] ए० आई० आर० 1969 पंजाब और हरियाणा, 372.

[3] ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 681.

कलकत्ता उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने यह निर्धारित किया है कि उपनियम 2 का प्रथम भाग न्यायालय को किसी पक्षकार के नाम को काटने का अधिकार देता है जिसका अनुचित तौर पर संयोजन किया गया है, और दूसरा भाग एक पक्षकार को जोड़ने की शक्ति देता है। विद्वान् न्यायाधीशों ने "संयोजित" और "पक्षकार बनाया" और उपनियम 2 के शब्दों में "प्रतिस्थापित किया गया" शब्द के लोप का महत्व बताया है। विद्वान् न्यायाधीशों के मतानुसार आदेश 1 के नियम 10(2) में "प्रतिस्थापित" शब्द के प्रयोग का लोप जानबूझकर किया गया था। उन्होंने यह निर्धारित किया कि सिर्फ प्रतिस्थापन का मामला जोड़ने से भिन्न है और वह संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के उपनियम 2 के अन्तर्गत नहीं आता। हम इस मत से पूर्ण रूप से सहमत हैं और यह पाते हैं कि आदेश 1 के नियम 10 का उपनियम 2 न्यायालय को किसी भी ऐसे व्यक्ति को पक्षकार के रूप में संयोजित करने की शक्ति देता है, जिसे संयोजित किया जाना चाहिए था। यह उपबंध उस स्थिति में लागू किए जाने के लिए नहीं था कि किसी व्यक्ति को उसके हित पूर्वाधिकारी की मृत्यु पर पक्षकार के रूप में प्रतिस्थापित किया जाए। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन न्यायालय को मृत प्रतिवादी के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को प्रतिस्थापित करने की शक्ति नहीं होगी। उपशमन हो जाने की दशा में उसका अपास्त किया जाना आवश्यक है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन न्यायालय किसी पक्षकार को जोड़ सकता है या घटा सकता है। वह उपशमन को अपास्त नहीं कर सकता और न मृतक के वारिसों को प्रतिस्थापित कर सकता है।

15. कानून के निर्वचन का स्थिर नियम यह है कि यदि जहां पर विशिष्ट मामले का व्यवहार करने के लिए कोई विशिष्ट उपबंध है, तो वह साधारण उपबंध अध्यारोही होगा। किसी उपबंध को विशिष्ट तभी कहा जाता है जब वह किसी विशिष्ट उद्देश्य को पूरा करने के वारे में यथावत् या निश्चित हो।

16. **वेंकटेश्वर राव** बनाम **आन्ध्र प्रदेश सरकार**[1] और **सी० आई० टी० पटियाला** बनाम **शहजादानन्द एन्ड सन्स**[2] वाले मामलों में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया है कि यदि किसी निश्चित विषय पर कोई विशेष उपबंध बनाया गया है तो वह विषय साधारण उपबंधों से अपवर्जित कर दिया जाता है।

---

1 ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 828.

2 ए० आई० आर० 1966 एस० सी० 1342.

17. उपर्युक्त सिद्धांत से जो निष्कर्ष निकलता है वह यह है कि चूंकि आदेश 22 के नियम 4 में प्रतिस्थापन, उपशमन और उपशमन को अपास्त करने के बारे में विशिष्ट उपबंध दिया गया है तो वह सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 नियम 10(2) में पक्षकार को जोड़ने के साधारण उपबंध को अपवर्जित करेगा।

18. हाल ही में **भगवान स्वरूप और अन्य बनाम मूलचन्द और अन्य**[1] में उच्चतम न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 और आदेश 22 के नियम 4 के प्रविषय पर विचार किया था। उस मामले में मृत प्रत्यर्थी संख्या 1 के वारिसों को, जिनको उच्चतम न्यायालय के समक्ष अपील में अपीलार्थी के द्वारा समय के अन्दर पक्षकार नहीं बनाया गया था आदेश 1 के नियम 10 के अधीन अभिलेख पर लाने के लिए आवेदन किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया कि चूंकि अपीलार्थी ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष आदेश 22 के नियम 4 के अधीन कोई आवेदन समय के अन्दर फाइल नहीं किया था और उक्त उपबंध के अधीन आवेदन करने की परिसीमा भी समाप्त हो चुकी थी अतः आदेश 1 के नियम 10 के उपबंध का सहारा लेकर उस परिणाम को नहीं रोका जा सकता था। उच्चतम न्यायालय में गठित की गई न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीशों ने दो निर्णय दिए। फिर भी वे दोनों निर्णय अपील के परिणाम के बारे में सहमत थे। न्या० डी० ए० देसाई ने आदेश 22 के नियम 4 के प्रविषय के बारे में दलील पर विचार करते हुए यह मत व्यक्त किया :—

> "इस दलील में कुछ बल है कि जब कोई विशेष उपबंध किया गया है जैसा कि आदेश 22 के नियम 4 में उपबंधित है, तो आदेश 1 के नियम 10 की तरह साधारण उपबंध का सहारा लेना उचित नहीं होगा।"

चूंकि मृत प्रत्यर्थी संख्या 1 के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों ने स्वयं अभिलेख पर उनको लाने के लिए आवेदन किया है इसलिए विद्वान् न्यायाधीश ने उस मामले के तथ्यों पर यह निर्धारित किया कि उनको अभिलेख पर मृतक के स्थान पर लाया जा सकता था।

19. माननीय न्या० ए० एन० सेन ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन आवेदन के चल सकने योग्य न होने के बारे में यह

---

1 ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 355.

निर्धारित करते हुए उच्च न्यायालय के मत का अनुमोदन किया :—

> "सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन मृतक के वारिसों के द्वारा प्रतिस्थापन के लिए फाइल किया गया आवेदन वास्तव में भ्रमपूर्ण है और उच्च न्यायालय द्वारा इस प्रकार निर्धारित किया जाना सही है।"

दोनों ही विद्वान् न्यायाधीशों का एक ही विचार है कि अपीलार्थी द्वारा मृत प्रत्यर्थी संख्या 1 के वारिसों को उस मामले के तथ्यों की पृष्ठभूमि में अभिलेख पर लाने के लिए प्रतिस्थापन के लिए दिया गया आवेदन मंजूर करने योग्य था। उस आधार पर उपशमन अपास्त किया गया था और प्रतिस्थापन आवेदन मंजूर किया गया था।

20. यह बहस करना सही नहीं है जैसा कि प्रत्यर्थी सं० 1 की तरफ से हाजिर हुए विद्वान् काउन्सेल के द्वारा की गई है कि उच्चतम न्यायालय ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) के अधीन आवेदन को मंजूर कर लिया था और इसके बावजूद कि अपील का उपशमन हो चुका था, प्रतिस्थापन के लिए निदेश दिया था। उच्चतम न्यायालय ने ऐसा कुछ नहीं कहा है। दोनों विद्वान् न्यायाधीशों की समान राय थी कि आदेश 1 के नियम 10(2) के अधीन आवेदन चलाए जाने योग्य नहीं था। उन्होंने वारिसों के द्वारा पक्षकार बनाए जाने के लिए या पक्षकार के रूप में जोड़े जाने के लिए दिए गए आवेदन के तथ्य पर विचार किया था जब वे उस मामले के अपीलार्थी द्वारा उपशमन को अपास्त करने की प्रार्थना के बारे में व्यवहार कर रहे थे। उन्होंने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) के अधीन वारिसों को नहीं जोड़ा।

21. प्रत्यर्थी सं० 1 के विद्वान् काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया है कि चूंकि माननीय न्या० डी० ए० देसाई ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) के अधीन वारिसों और विधिक प्रतिनिधि द्वारा दिए गए आवेदन को मंजूर किया था, इसलिए ऐसा माना जाना चाहिए कि विद्वान् न्यायाधीश ने उक्त उपबंध को उस मामले में भी लागू करना मंजूर कर लिया था जहां पर उपशमन हो चुका था। उसने अनुरोध किया है कि निर्णय के इस भाग के लिए न्या० ए० एन० सेन ने सहमति व्यक्त की थी। उच्चतम न्यायालय के निर्णय का सही अध्ययन करने पर हमको यह सही प्रतीत नहीं होता है। उन्होंने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) के अधीन वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों द्वारा दिए गए आवेदन का वर्णन किया था किन्तु एक

सीमित प्रयोजन के लिए किया है। उन्होंने अपीलार्थी द्वारा प्रतिस्थापन के लिए आवेदन को मंजूर किया है और उसे मंजूर करने में इस तथ्य का उल्लेख किया था। यह स्पष्ट है कि यदि अपीलार्थी ने सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 के अधीन आवेदन नहीं किया होता और आगे विलम्ब को माफ करने की प्रार्थना नहीं की होती तो मृतक के वारिसों को सिर्फ उनके आवेदन के आधार पर अभिलेख पर नहीं लाया जा सकता था।

22. प्रश्न यह है कि क्या मृतक के वारिसों को किसी न्यायालय द्वारा अपनी विशेष शक्तियों के प्रयोग में अभिलेख पर लाया जा सकता था, उच्चतम न्यायालय द्वारा **रामेश्वर प्रसाद** बनाम **शाम्बेहर लाल**[1] वाले मामले में विचार किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने अभिनिर्धारित किया :—

> "जब मृतक अपीलार्थी के विधिक प्रतिनिधि और उत्तरजीवी अपीलार्थी प्रतिस्थापन के लिए कार्यवाही न करने में उपेक्षावान हो गये थे तो वहां पर न्यायालय को ऐसे पक्षकार के हित में अपने विवेकाधिकार का प्रयोग नहीं करना चाहिए। विवेकाधिकार की शक्ति का प्रयोग अपील के उपशमन के प्रभाव को अकृत करने के लिए नहीं किया जा सकता, जहां तक केदार नाथ का सम्बन्ध है···।"

23. सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 का नियम 10(2) वैवेकिक है और न्यायालय को उन मामलों में किसी व्यक्ति को पक्षकार के रूप में जोड़ने की शक्ति देता है जहां पर ऐसा करने के लिए न्याय के हित में आवश्यक है। यदि इस प्रकार की शक्ति का प्रयोग मृत प्रतिवादी के वारिसों के प्रतिस्थापन करने के लिए अनुज्ञात किया जाता है तो वह आवश्यक रूप से उपशमन के परिणाम को अकृत करेगा जिसमें वारिसों को अभिलेख पर नहीं लाया गया था और ऐसा न करने के लिए कोई भी स्पष्टीकरण नहीं दिया गया था। यह सिर्फ सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 4 और 9 में और परिसीमा अधिनियम की धारा 5 में उपबन्धित उपबंध के अनुसार प्रयोग की जा सकती है।

24. **भारत संघ** बनाम **राम चरण**[2] में उच्चतम न्यायालय ने यह निर्धारित किया है कि न्यायालय को सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 151 के अधीन अन्तर्निहित शक्ति का अवलम्ब मृत प्रत्यर्थी के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने के प्रयोजन के लिए नहीं करना चाहिए, यदि वाद का

---

1 ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1901.

2 ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 215.

उपशमन अपीलार्थी द्वारा समय के अन्तर्गत मृत पक्षकार के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए उचित कार्यवाहियां न करने के कारण हो गया था और जब उपशमन को अपास्त करने के लिए आवेदन को न्यायालय का यह समाधान करने में असफल रहने के कारण मंजूर नहीं किया गया है कि समय के अन्दर मृतक के विधिक प्रतिनिधियों को पक्षकार बनाने से उचित हेतुक के कारण वह विरत रहा था और समय के अंतर्गत उपशमन को अपास्त करने के लिए आवेदन देने से विरत रहा था।

25. **मोहन राज** बनाम **सुरेन्द्र कुमार**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय से इस प्रश्न पर विचार करने की अपेक्षा की गई थी कि क्या किसी व्यक्ति को, जिसे निर्वाचन पिटीशन में पक्षकार के रूप में पक्षकार नहीं बनाया गया था, न्यायालय के द्वारा सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) का सहारा लेकर जोड़ा जा सकता था। उच्चतम न्यायालय ने इस बहस को यह निर्धारित करते हुए मंजूर नहीं किया कि जब अधिनियम के द्वारा किसी व्यक्ति को आवश्यक पक्षकार बनाया गया है और उसमें यह उपबन्धित है कि यदि इस प्रकार के पक्षकार का संयोजन नहीं किया गया है, तो पिटीशन खारिज हो जाएगा, तो आदेश 6 के नियम 17 के प्रयोग के द्वारा किसी पक्षकार को जोड़ने की शक्ति सम्भव हो सकती थी न कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के द्वारा।

26. **खलील अहमद** बनाम **अपर जिला न्यायाधीश, गोरखपुर**[2] वाले मामले (पूर्वोक्त) में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10(2) के लागू होने के प्रश्न को विनिश्चित करने के लिए अनेकों सुसंगत तथ्यों को विद्वान् न्यायाधीश के समक्ष नहीं लाया गया था जहां पर उपशमन हो चुका है। इस विचार के होते हुए कि सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन पक्षकारों को जोड़ना विवेकाधिकार का मामला है, न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया है कि यह उपबंध उस मामले में भी लागू हो सकेगा जहां पर उपशमन हो चुका है और मृतक के वारिसों को अभिलेख पर लाया जा सकता है। यह सत्य है कि आदेश 1 का नियम 10(2) वैवेकिक उपबंध है, परन्तु इसका अर्थ यह नहीं है कि न्यायालय किसी व्यक्ति को प्रत्येक मामले में पक्षकार के रूप में जोड़ने के लिए स्वतंत्र है जहां पर वह ऐसा करना पसन्द करता है। किसी न्यायालय से, जिसको वैवेकिक शक्ति दी गई है,

---

1 ए० आई० आर० 1969 एस० सी० 677.

2 ए० आई० आर० 1974 इलाहाबाद 422.

यह अपेक्षा की जाती है कि वह विधि के अनुसार सही रूप से कार्य करे। ऐसे विषयों पर उसे अपना ध्यान देना चाहिए जिन पर वह विचार करने के लिए बाध्य है और ऐसे विषयों पर विचार करने के लिए बाध्य नहीं है जो असंगत हैं। आदेश 1 का नियम 10(2) इस प्रकार है :—

> "न्यायालय कार्यवाहियों के किसी भी प्रक्रम में या तो दोनों पक्षकारों में से किसी के आवेदन पर या उसके बिना और ऐसे निबंधनों पर जो न्यायालय को न्यायसंगत प्रतीत हों, यह आदेश दे सकेगा कि वादी के रूप में या प्रतिवादी के रूप में अनुचित तौर पर संयोजित किसी भी पक्षकार का नाम काट दिया जाए और किसी व्यक्ति का नाम जिसे वादी या प्रतिवादी के रूप में संयोजित किया जाना चाहिए था या न्यायालय के सामने जिसकी उपस्थिति वाद में अन्तर्वलित सभी प्रश्नों का प्रभावी तौर पर और पूरी तरह न्यायनिर्णयन और निपटारा करने के लिए न्यायालय को समर्थ बनाने की दृष्टि से आवश्यक हो, जोड़ दिया जाए।"

27. उपर्युक्त उपबंध न्यायालय को किसी पक्षकार को सूची से काटने की शक्ति प्रदान करता है यदि वह इसे अनावश्यक या अनुचित तौर पर संयोजित पाता है चूंकि यह किसी पक्षकार को जोड़ने के लिए निदेश दे सकता है जिसकी उपस्थिति वाद में अन्तर्वलित सभी प्रश्नों का प्रभावी तौर पर और पूरी तरह से न्यायनिर्णयन करने के लिए आवश्यक समझी जाती है।

28. **रजिया बेगम** बनाम **साहिबजादी अनवर बेगम और अन्य**[1] का ऐसा मामला नहीं था जहां पर मृत प्रतिवादी के वारिसों को अभिलेख पर न लाए जाने के कारण उपशमन हो गया था। उस मामले में न्यायालय ने एक पक्षकार को प्रतिवादियों में से एक के रूप में जोड़ने के लिए इस निष्कर्ष पर मंजूर कर दिया था कि ऐसा करना पक्षकारों के अधिकारों पर अन्तिम रूप से न्यायनिर्णयन करने में सहायक हो सकता था। यह मामला इस घोषणा के लिए एक वाद से उद्‌भूत हुआ था कि वादी प्रतिवादी की विधिक शादीशुदा पत्नी थी। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि हैसियत के प्रश्न पर घोषणा की डिक्री का परिणाम सिर्फ न्यायालय के समक्ष पक्षकारों को ही प्रभावित नहीं करेगा बल्कि आने वाली पीढ़ियों को भी प्रभावित करेगा, उस बात को ध्यान में रखते हुए आदेश 1 के नियम 10(2) के अधीन दिए गए आवेदन को मंजूर कर लिया था। किसी विनिश्चय में जो कुछ विनिश्चित किया जाता है,

1 ए० आई० आर० 1958 एस० सी० 886.

वह नजीर होता है। उस मामले में विवाद भिन्न था। सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 115 के अधीन पुनरीक्षण में न्यायालय की शक्तियों के बारे में विचार करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह टिप्पणी की :—

> "सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 1 के नियम 10 के अधीन पक्षकारों को जोड़ने का प्रश्न साधारणतः न्यायालय की प्रारम्भिक अधिकारिता में से एक नहीं है किन्तु एक न्यायिक विवेकाधिकार का है जिसका प्रयोग किसी विशिष्ट मामले की परिस्थितियों और तथ्यों को ध्यान में रखते हुए किया जाता है...।"

इस दृष्टि से कि आदेश 1 का नियम 10(2) प्रस्तुत मामले के प्रकार के मामलों में लागू नहीं होता है, हम **वी० एन० बांडेकर** बनाम **मैसर्स जनार्दन जी थाली एण्ड कम्पनी**[1], **स्टेट ट्रेडिंग कारपोरेशन आफ इण्डिया** बनाम **के० वी० वैद्यालिंगम् और अन्य**[2] (पूर्वोक्त), **शिशिर कुमार तरफदार** बनाम **महेन्द्र कुमार विस्वास**[3] और **जमुना राय और अन्य** बनाम **चन्द्र दीप राय**[4] में संप्रकाशित विनिश्चयों से समर्थन पाते हैं।

29. हमारा ध्यान प्रिवी कौंसिल के एक मामले—**मोहम्मद अली त्यादअली** बनाम **सफियाबाई**[5] की तरफ आकर्षित किया गया था। जहां पर हालांकि मृत प्रतिवादी के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने के लिए आवेदन वादी द्वारा नहीं दिया गया था किन्तु फिर भी न्यायालय ने उन वारिसों को आदेश 1 के नियम 10 के उपनियम 2 के अधीन जोड़े जाने के लिए मंजूर कर लिया था। यह मामला बिल्कुल ही भिन्न है और विरोधी पक्षकार संख्या 1 द्वारा की गई बहस को इससे थोड़ी सी भी सहायता नहीं मिलती। उस मामले में एक मुसलमान ने अपने सह उत्तराधिकारियों के विरुद्ध प्रशासन के लिए वाद फाइल किया था। प्रतिवादियों में से एक, जो समान हित रखता था और जो वादियों के समान स्थिति में था, की मृत्यु हो गई और वादी द्वारा उसके वारिसों को अभिलेख पर लाने के लिए कोई भी आवेदन नहीं दिया गया था। यह निर्धारित किया गया था कि प्रशासन के लिए वाद मृत प्रतिवादी के विरुद्ध उपशमन के कारण समाप्त नहीं हुआ

---

[1] ए० आई० आर० 1979, गोवा, पृ० 8.

[2] ए० आई० आर० 1978 मद्रास 294.

[3] ए० आई० आर० 1958 कलकत्ता 681.

[4] ए० आई० आई० 1961, पटना पृ० 178.

[5] ए० आई० आर० 1940 प्रिवी कौंसिल 215.

क्योंकि विद्वान् न्यायाधीश ने यह कहा था कि प्रशासन के वाद में ऐसा अक्सर नहीं होता कि किसी एक कारण से या अन्य किसी कारण से एक विशिष्ट हित का प्रतिनिधित्व डिक्री से पहले नहीं किया जाता किन्तु या तो डिक्री द्वारा उपबन्धित किया जाता है या पश्चात्वर्ती प्रक्रम पर डिक्री के अधीन प्राख्यान किया जाता है या किसी ऐसे पक्षकार द्वारा विशेष प्रभाव में किया जाता है जिसे कुछ निश्चित लेखाओं को देखने और जांच करने के लिए अनुज्ञात किया जाता है जिससे कि वह परिणाम के द्वारा आबद्ध हो जाए।

30. यहां पर इस मामले में हमारा सम्बन्ध किसी प्रशासनिक वाद से नहीं है। उस वाद में कोई भी उपशमन नहीं हुआ था। उस प्रकार के वाद में आदेश 1 का नियम 10(2) लागू हो सकेगा। चूंकि उन वादों की लिस्ट सर्वांगीण रूप से देना सम्भव नहीं है जहां पर उपशमन नहीं होता है और जिसमें आदेश 1 का नियम 10(2) लागू किया जा सकेगा। इसके बावजूद कि पक्षकारों में से किसी की मृत्यु हो गई है, हम ऐसा करने से विरत रहते हैं और अधिक स्पष्ट करने के लिए ऐसे वादों में जहां पर उपशमन नहीं होता है, आदेश 1 का नियम 10(2) लागू किया जा सकता है; यदि ऐसा करना न्याय के हित में अपेक्षित है। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 22 के नियम 12 में यह उपबन्धित है कि नियम 2, 4 और 8 में कोई भी बात आदेश या डिक्री के निष्पादन की कार्यवाहियों में लागू नहीं होगी। इस नियम के कारण उपशमन की कार्यवाहियों के निष्पादन का कोई प्रश्न नहीं है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह उपबन्धित करते हुए इस नियम में संशोधन किया है कि नियम 3, 4 और 8 विचारण न्यायालय में आरम्भिक डिक्री पास हो जाने के बाद की गई कार्यवाहियों में लागू नहीं होंगे जहां पर अन्तिम डिक्री पारित किया जाना अपेक्षित है। इस प्रकार के मामलों में कोई भी यह कल्पना कर सकता है कि आदेश 1 का नियम 10(2) लागू किया जा सकता है। फिर भी, हम संयम रखते हुए यह मत व्यक्त करते हैं कि हमारे द्वारा व्यक्त किए गए ये मत इस प्रकार नहीं पढ़े जाने चाहिए जैसे कि वे ऊपर निर्दिष्ट कार्यवाहियों में पारित आदेश के विरुद्ध फाइल की गई अपीलों पर लागू होंगे।

31. हमने जो कुछ ऊपर कहा है, हम यह निर्धारित करना असम्भव पाते हैं कि आदेश 1 के नियम 10(2) का सहारा किसी पक्षकार द्वारा तब लिया जा सकता है जब मृतक के विधिक प्रतिनिधियों को अभिलेख पर लाने में उसके असफल रहने के कारण वाद का उपशमन हो गया है और जब उपशमन को अपास्त करने के लिए आवेदन को मंजूर नहीं किया जाता है।

32. हमको मामले के गुणागुण पर कोई भी चीज नहीं दिखाई गई जिससे यह सिद्ध हो सके कि विद्वान मुन्सिफ द्वारा यह निर्धारित करना गलत था कि प्रतिस्थापन के लिए आवेदन समय के बाद फाइल किया गया था और उपशमन को अपास्त करने के लिए कोई भी उचित कारण साबित नहीं किया गया था। परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के अधीन फाइल किए गए आवेदन पर प्रत्यर्थी सं० 2 के विरुद्ध दिए गए निष्कर्ष पर आपत्ति नहीं की जा सकती।

33. परिणामस्वरूप यह पुनरीक्षण मंजूर किया जाता है। निचले न्यायालय का तारीख 31 जनवरी, 1978 का आदेश और निर्णय अपास्त किया जाता है, और यह घोषित किया जाता है कि मृत प्रतिवादी संख्या 1 के विरुद्ध वाद का उपशमन हो गया है।

पुनरीक्षण मंजूर किया गया।

शर्मा/मि०

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—77

अरुण मिश्र बनाम भारत संघ

(Arun Misra *Vs.* Union of India)

तारीख 7 सितम्बर, 1983

[न्या० के० एन० सिंह और न्या० गोपी नाथ]

प्रशासनिक विधि—सेवा नियम—सरकार पर अनुग्रहजन्य आधार पर मृतक के लड़के/लड़की/नजदीकी रिश्तेदार को नियुक्ति देने की बाध्यता नहीं है, जहां पर कि परिवार में कमाने वाले सदस्य हैं और वे परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अपने मूल कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहे हों।

2. भारत के संविधान के अनुच्छेद 226—हालांकि अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को अत्यन्त व्यापक शक्ति प्रदान करता है, लेकिन ये शक्तियां अपने में कुछ सीमा रखती हैं और उच्च न्यायालय उन कार्यों को नहीं कर सकता, जो प्रशासनिक निकायों के विवेकाधिकार में हैं।

यह पिटीशन संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल किया गया है। इसके द्वारा प्रत्यर्थियों के विरुद्ध परमादेश के लिए प्रार्थना की गई है, जिससे पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में निरीक्षक के रूप में

प्रत्यर्थियों द्वारा नियुक्त किए जाने के लिए निदेश दिया जा सके। पिटीशनर का पिता केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में अधीक्षक के रूप में नियुक्त था। उसकी कार्य करते समय मृत्यु हो गई थी। उसने अपने पीछे पत्नी और 6 बच्चों को छोड़ा था। पिटीशनर स्वर्गीय पिता का तृतीय पुत्र है। प्रथम दो लड़के कमाने वाले हैं, पहला डॉ० है और दूसरा एक अधिवक्ता है। मृत्यु के पश्चात् पिटीशनर की मां ने केन्द्रीय उत्पाद कलक्टर को एक आवेदन दिया और पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद में निरीक्षक के पद पर नियुक्त करने के लिए दिया था। उस समय पिटीशनर बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा था। विभाग ने मृतक के परिवार को उसकी शीघ्र आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वर्धित कौटुम्बिक पैंशन दी थी। पिटीशनर ने प्रत्यर्थियों को उसे विभाग में अनुग्रहजन्य आधार पर निरीक्षक के रूप में नियुक्त करने के लिए अभ्यात्रेदन दिया। पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग के कलक्टर के यहां से सूचना प्राप्त हुई थी, कि उसका आवेदन खारिज किया जा चुका है।

इससे व्यथित होकर पिटीशनर ने इस रिट पिटीशन को परमादेश के लिए फाइल किया, जिसके द्वारा प्रत्यर्थियों को निदेश दिया जा सके कि वे पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में निरीक्षक के रूप में अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्त कर सके। प्रत्यर्थियों का पक्षकथन यह है चूंकि, पिटीशनर के परिवार के दो सदस्य यानी कमाने वाले व्यक्ति हैं तो यह उनका कर्तव्य है कि वे परिवार का भरण-पोषण करें किन्तु वे उसकी उपेक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं। तथ्य और परिस्थितियां भी पिटीशनर की अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति को न्यायोचित नहीं ठहराते। यह कहा गया है कि मृत्यु पर पिटीशनर के परिवार को वर्धित पैंशन मंजूर की गई थी, जिससे वे तुरन्त राहत प्राप्त कर सकें और यह तब से चली आ रही है, अब पिटीशनर सरकारी नियोजन के लिए आयु सीमा पार कर चुका है। और यदि विभाग के द्वारा दी गई इस सहायता के दौरान पिटीशनर अपने जीवन में कोई उन्नति करने में सफल नहीं रहा तो यह गलती उसकी है। यह सुझाव दिया गया कि पिटीशनर जैसे तैसे सरकारी सेवा पाने के लिए प्रयास कर रहा है। यह कहा गया था कि अभ्यावेदन को मामले के सम्पूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के बाद खारिज किया गया था।

इस न्यायालय के समक्ष विचार के लिए मुख्य प्रश्न दो थे। पहला, क्या सरकार अनुग्रहजन्य आधार पर मृतक कर्मचारी के लड़के/लड़की/नजदीकी रिश्तेदार को नियुक्ति देने के लिए बाध्य है, जहां पर परिवार में कमाने वाले सदस्य हैं और वे परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अपने कर्त्तव्य का

पालन नहीं कर रहे हैं। दूसरा, क्या उच्च न्यायालय उन मामलों में परमादेश जारी कर सकता है जो प्रशासनिक निकायों के विवेकाधिकार में आते हैं।

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

पिटीशनर के दो भाई परिवार में कमाने वाले व्यक्ति हैं और सरकार ने रिट पिटीशन के साथ उपाबंध-1 के पैरा 9 में इस स्थिति का स्पष्टीकरण किया है कि यदि कोई कमाने वाला सदस्य परिवार का भरण-पोषण नहीं करता है या उसकी उपेक्षा करता है तो सरकार परिवार के अन्य सदस्य को अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति देने के लिए बाध्य नहीं है जो सिर्फ एक रियायत है। सरकार पर अनुग्रहजन्य आधार पर मृतक के लड़के/लड़की/नजदीकी रिश्तेदार को नियुक्ति देने की बाध्यता नहीं है; जहां पर परिवार में कमाने वाले सदस्य हैं और वे परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अपने प्राथमिक कर्तव्य का पालन नहीं कर रहे हों। हलांकि अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को अत्यन्त व्यापक शक्ति प्रदान करता है, किन्तु ये शक्तियां अपने में कुछ सीमा रखती हैं और उच्च न्यायालय उन कार्यों को नहीं कर सकता जो प्रशासनिक निकायों के विवेकाधिकार में हैं। अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति देना प्रत्यर्थियों के विवेकाधिकार में था। यदि उन्होंने मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के बाद ऐसा करने से इनकार कर दिया है, तो इस न्यायालय के लिए यह न्यायोचित नहीं होगा कि वह उन पर दबाव डालें। (पैरा 6 और 8)

		पैरा
[1971]	ए० आई० आर० 1971 इलाहाबाद 317 : महाबीर प्रसाद शर्मा और अन्य बनाम राज्य परिवहन और एक अन्य (Mahabir Prasad Sharma and others *Vs.* The State Transport & another) का अवलम्ब लिया गया।	7
[1967]	ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 993 : के० वी० राजलक्ष्मीया सेटी और एक अन्य बनाम मैसूर राज्य और एक अन्य (K. V. Rajalakshmiah Setty and another *Vs.* The State of Mysore and another) ;	7
[1962]	ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1044 : कलकत्ता गैस कम्पनी लिमिटेड बनाम पश्चिम बंगाल	7

राज्य और अन्य (Calcutta Gas Company Limited *Vs.* State of West Bengal and others) ;

[1952] ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 12 : उड़ीसा राज्य **बनाम** मदन गोपाल रोंगटा (State of Orissa *Vs.* Madan Gopal Rungta)

से प्रभेद बताया गया।

[1976] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1104 : मैसूर राज्य और अन्य **बनाम** एच० श्रीनिवासमूर्ति (The State of Mysore & others *Vs.* H. Srinivas-Murthy);

[1973] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 3030 : भारत संघ **बनाम** के० पी० जोसफ और अन्य (Union of India *Vs.* K.P. Joseph and others)

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1979 का रिट पिटीशन सं० 2785.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल किया गया रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री बी० पी० श्रीवास्तव

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री जे० एन० तिवारी, श्री एम० पी० वाजपेई और वी० के० बर्मन

न्यायालय का निर्णय न्या० गोपीनाथ ने दिया।

न्या० गोपीनाथ :

यह पिटीशन संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन फाइल किया गया है। इसके द्वारा प्रत्यर्थियों के विरुद्ध परमादेश के लिए प्रार्थना की गई है, जिसके द्वारा पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में निरीक्षक के रूप में प्रत्यर्थियों द्वारा नियुक्त किए जाने के लिए निदेश दिया जाए।

2. पिटीशनर विद्याधर मिश्र का पुत्र है, जो केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में अधीक्षक के रूप में नियुक्त था। उसकी मृत्यु कार्य करते समय 16 फरवरी, 1970 को हो गई थी। उसने अपने पीछे विधवा श्रीमती इन्द्रा

मिश्रा और 6 बच्चों—5 लड़के और एक लड़की को छोड़ा था उनके नाम इस प्रकार हैं :—

1. डा० अशोक मिश्र
2. अजय मिश्र
3. अरुण मिश्र
4. अनूप मिश्र
5. रत्नेश मिश्र
6. कुमारी मंजु

पिटीशनर स्वर्गीय विद्याधर मिश्र का तृतीय पुत्र है। प्रथम दो लड़के कमाने वाले हैं, पहला डा० है और दूसरा अधिवक्ता है। विद्याधर मिश्र की मृत्यु के पश्चात् पिटीशनर की मां ने केन्द्रीय उत्पाद-शुल्क के कलक्टर को एक आवेदन पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में निरीक्षक नियुक्त करने के लिए दिया था। यह आवेदन 20 फरवरी, 1977 को दिया गया था। उस समय पिटीशनर बी० ए० कक्षा में पढ़ रहा था। विभाग ने विद्याधर मिश्र की मृत्यु पर मृतक के परिवार को उसकी शीघ्र आवश्यकताओं को पूरा करने के लिए वर्धित कुटुम्ब पैंशन दी। पिटीशनर ने 1977 में बी० ए० पास कर लिया। 15 नवम्बर, 1977 को पिटीशनर ने प्रत्यर्थियों को उसे विभाग में अनुग्रहजन्य आधार पर निरीक्षक नियुक्त करने के लिए अभ्यावेदन दिया। पिटीशन में यह कहा गया है कि उस समय विभाग ने मृतक के परिवार के प्रति सहानुभूतिपूर्ण रवैया अपनाया था। पिटीशनर के आवेदन को दिल्ली-स्थित केन्द्रीय राजस्व बोर्ड को अग्रेषित कर दिया था। सितम्बर, 1978 में पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद विभाग (इलाहाबाद) के कलक्टर के यहां से एक सूचना प्राप्त हुई थी कि उसका आवेदन खारिज किया जा चुका है। पिटीशनर ने वित्त मंत्रालय (भारत सरकार) को सितम्बर, 1978 के अन्तिम सप्ताह में एक अभ्यावेदन दिया था। इस अभ्यावेदन से ऐसा प्रतीत होता है कि उसने सरकार को यह सूचना दी थी कि उसके दो भाई, जो परिवार में कमाने वाले व्यक्ति थे, परिवार की सहायता करने की स्थिति में नहीं थे क्योंकि सबसे बड़ा लड़का डा० है, जिसकी एक पत्नी और एक लड़का है और दूसरा लड़का वकील है, जो मृतक के परिवार की सहायता करने के लिए पर्याप्त आमदनी नहीं कर रहा था। सरकार से दुबारा यह प्रार्थना की गई थी कि वह पिटीशनर के विरुद्ध पक्षपातपूर्ण रवैया न अपनाए क्योंकि सेवाकाल के एक प्रक्रम में उसके पिता की पदच्युति के बारे में एक मुकदमा सरकार और पिटीशनर के पिता के

बीच चला था और पदच्युति सिविल वादजन्य आदेश द्वारा अपास्त कर दी गई थी। इस अभ्यावेदन के वित्त मंत्रालय के समक्ष लंबित रहने के दौरान पिटीशनर ने इस न्यायालय में एक रिट पिटीशन, जो 1978 का रिट पिटीशन सं० 10467 था, फाइल किया था जिसमें अभ्यावेदन के शीघ्र निपटारे के लिए प्रार्थना की थी। पिटीशन मंजूर किया गया था और इस न्यायालय ने तारीख 27 फरवरी, 1978 के आदेश द्वारा प्रत्यर्थियों को पिटीशनर के अभ्यावेदन को 6 सप्ताह के भीतर निपटारा करने के लिए निदेश दिए। तारीख 23 मार्च, 1979 के आदेश द्वारा भारत सरकार ने पिटीशनर के अभ्यावेदन को खारिज कर दिया था। खारिज किए जाने की संसूचना पिटीशनर को एक पत्र द्वारा उसी दिन दे दी गई थी, जिसकी एक प्रति इस पिटीशन के साथ उपाबंध 11 के रूप में फाइल की गई है। यह संसूचना, जहां तक तथ्यों का सम्बन्ध है, इस प्रकार है :—

"इलाहाबाद केन्द्रीय उत्पाद कलक्टरेट में अनुग्रहजन्य आधार पर आपकी नियुक्ति की प्रार्थना पर भारत सरकार द्वारा सावधानीपूर्वक विचार किया गया है। किन्तु उसे मंजूर करना सम्भव नहीं पाया गया। इसलिए अनुग्रहजन्य आधार पर आपकी नियुक्ति की प्रार्थना को खारिज कर दिया गया है।"

3. इससे व्यथित होकर पिटीशनर ने इस रिट पिटीशन को परमादेश के लिए फाइल किया, जिसके द्वारा प्रत्यर्थियों को निदेश दिया जाए कि वे पिटीशनर को केन्द्रीय उत्पाद शुल्क विभाग में निरीक्षक अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्त करें। पिटीशनर ने अपने मामले को भारत सरकार के वित्त मंत्रालय द्वारा जारी किए गए समेकित अनुदेशों पर आधारित किया है, जो सरकारी कर्मचारी की काम करते हुए मृत्यु हो जाने पर उसके नजदीकी रिश्तेदार/लड़का/लड़की की अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति के बारे में है। तारीख 23 मई, 1978 के कार्यालय ज्ञापन संख्या 14034/1-77 के पैराग्राफ 5, जिसकी प्रतिलिपि उपाबंध 1 के रूप में पिटीशन के साथ फाइल की गई है, जो इस प्रकार है :—

"अर्जक सदस्य के मामले में—उपयुक्त मामलों में, वहां पर भी, जहां पर मृतक सरकारी कर्मचारी के परिवार में कोई अर्जक सदस्य लड़का/लड़की/नजदीकी रिश्तेदार है उसी पद पर नियुक्ति के बारे में बिना रोजगार दफ्तर को निर्देशित किए हुए विचार किया जा सकता है, जहां पर उसकी अपने परिवार को निर्धनावस्था परिस्थितियों में

छोड़कर मृत्यु हो गई हो। लेकिन फिर भी इस प्रकार की सभी नियुक्तियां सम्बन्धित विभाग के मंत्रालय के सचिव के पूर्वानुमोदन पर की जाती हैं, जो नियुक्ति का अनुमोदन करने से पहले अपना यह समाधान कर लेता है कि दी जाने वाली रियायत न्यायोचित है, जो मृतक सरकारी कर्मचारी द्वारा छोड़े गए आश्रितों की संख्या, उसके द्वारा छोड़ी गई आस्तियों और दायित्वों, कमाने वाले सदस्यों की आमदनी और उसके दायित्व को ध्यान में रखते हुए अनुमोदन करता में है। फिर भी यह निर्धारित किया गया है कि पहले भी कुछ मामले इस विभाग को निर्देशित किए गए थे, जिनमें यह कहा गया था कि परिवार कमाने वाला लड़का या लड़की या तो परिवार का पालन-पोषण करने में अनिच्छा जाहिर कर रहा है या अपने मां, भाई और बहन सहित पूरे परिवार की उपेक्षा कर रहा है। और ऐसे मामलों में एक अन्य लड़का या लड़की की अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति के लिए प्रायोजित किया गया था। इस दृष्टि से यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि इस तथ्य के होते हुए भी कि सरकार का यह प्रयास है कि वह सरकारी कर्मचारी के लड़के/लड़की को नियुक्ति प्रदान कर सके, जिसकी कार्य करते समय मृत्यु हो गई है और उसने अपने परिवार को निर्धनावस्था में छोड़ा है और मृतक के परिवार के सदस्यों की सहायता का एकमात्र साधन कमाने वाला सदस्य होना चाहिए। यदि अगला रिश्तेदार यानी (अविवाहित) लड़का/लड़की परिवार की उपेक्षा करता/करती है, तो सरकार पर ऐसे परिवार की सहायता करने की बाध्यता नहीं है। यह याद रखा जाए कि यदि सरकार ऐसे मामले में भी अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति करने लगे तो परिवार में कमाने वालों की कई संख्या होने पर भी परिवार के अगले सदस्य को रोजगार दिलाने के उद्देश्य से वे परिवार की उपेक्षा करने का ढोंग कर सकते हैं।"

4. प्रत्यर्थियों का पक्षकथन यह है कि चूंकि पिटीशनर के परिवार के दो सदस्य यानी डा० अशोक मिश्र और अजय मिश्र कमाने वाले व्यक्ति हैं, तो यह उनका कर्तव्य है कि वे परिवार का भरण-पोषण करें किन्तु वे उसकी उपेक्षा करते हुए प्रतीत होते हैं। तथ्य और परिस्थितियां भी पिटीशनर की क्षतिपूर्ति के आधार पर नियुक्ति को न्यायोचित नहीं ठहरातीं। यह कहा गया है कि श्री विद्याधर मिश्र की मृत्यु पर पिटीशनर के परिवार को वर्धित पेंशन मंजूर की गई थी, जिससे उन्हें तुरन्त राहत मिल सके और यह तब से चली

आ रही है। पिटीशनर सरकारी नियोजन के लिए आयु सीमा पार कर चुका है। और यदि विभाग के द्वारा दी गई इस सहायता के दौरान पिटीशनर अपने जीवन में कोई उन्नति करने में सफल नहीं रहा तो यह गलती उसकी है। यह सुझाव दिया गया कि पिटीशनर जैसे तैसे सरकारी सेवा पाने के लिए प्रयास कर रहा है। यह कहा गया था कि अभ्यावेदन को मामले के सम्पूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के बाद खारिज किया गया था।

5. पिटीशनर का पक्षकथन यह है कि पिटीशन के उपाबंध I में अन्तर्विष्ट प्रशासनिक अनुदेश पिटीशनर के हक में अधिकार प्रदान करते हैं और वह इस आधार पर विभाग में नियुक्ति मांगने का हकदार है और इस दलील के लिए भारत संघ बनाम **के० पी० जोसफ और अन्य**[1] का अवलम्ब लिया गया है कि प्रशासनिक आदेश भी अधिकार प्रदान करता है और उस अधिकार को कार्यान्वित करने के लिए परमादेश-रिट जारी किया जा सकता है। अपरंच, यह निवेदन करने के लिए कि राज्य द्वारा विकसित नीति को सिद्धांत प्रभावी किया जाना चाहिए, **मैसूर राज्य और अन्य** बनाम **एस० श्रीनिवास मूर्ति**[2] का अवलम्ब लिया है। रिट पिटीशन के उपाबंध में अन्तर्विष्ट अनुदेशों के पैरा 5 में सरकार द्वारा घोषित नीति को दृष्टि में रखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि ये मामले पिटीशनर की सहायता नहीं करते।

6. पिटीशनर के दो भाई परिवार में कमाने वाले व्यक्ति हैं। सरकार ने रिट पिटीशन के साथ उपाबंध 1 के पैरा 9 में इस स्थिति का स्पष्टीकरण किया है कि यदि कोई कमाने वाला सदस्य परिवार का भरण-पोषण नहीं करता है या उसकी उपेक्षा करता है, तो सरकार परिवार के अन्य सदस्य को अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति देने के लिए बाध्य नहीं है, यह सिर्फ एक रियायत है। इसमें निम्नलिखित स्पष्टतः कहा गया है :—

> "...यदि अगला रिश्तेदार यानी अविवाहित लड़का/लड़की परिवार की उपेक्षा करती है तो सरकार पर इस प्रकार के परिवार को बचाने की बाध्यता नहीं है..."

7. पिटीशन में यह शपथपूर्वक कथन किया गया है कि सरकार ने सरकारी कर्मचारियों के परिवारों के सदस्यों को नियुक्तियां प्रदान की हैं जो कार्य करते समय मर गए थे और वहां पर उनमें से एक व्यक्ति कमाने

---

1 ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 30:0.

2 ए० आई० आर० 19:6 एस० सी० 1104.

भी था। पिटीशन में उदाहरण भी दिए गए हैं। प्रत्यर्थियों का जवाब यह है कि प्रत्येक मामले का निर्णय उसके गुणागुण के आधार पर किया जाता है और प्रत्यर्थियों ने पिटीशनर के साथ कोई भी भेदभावपूर्ण रवैया नहीं अपनाया है। प्रतिशपथ पत्र में आगे कहा गया है कि पिटीशनर के परिवार के बुरे दिन समाप्त हो चुके हैं। परिवार के दो सदस्य यानी डा० अशोक मिश्रा और श्री अजय मिश्रा, अधिवक्ता पहले से ही व्यवस्थापित हैं और परिवार का भरण-पोषण करने की स्थिति में हैं। पिटीशनर ने स्नातक परीक्षा 1977 में पास की थी और वह केन्द्रीय सरकार की और अन्य सेवाओं के लिए प्रतियोगी परीक्षाएं दे सकता था या इसी पद पर सीधी भर्ती के द्वारा आ सकता था। इस समय वह आयु सीमा पार कर चुका है और वह सरकारी सेवा में अनधिकृत रूप से प्रवेश करने का प्रयत्न कर रहा है। इस प्रकार की मंजूरी देना सरकार की नीति का हित साधक नहीं होगा। आगे यह सुझाव दिया गया है कि चूंकि परिवार के अन्य सदस्यों ने, जो कमाने वाले हैं, परिवार की उपेक्षा की है तो यह गारंटी नहीं है कि यदि पिटीशनर की नियुक्ति हो जाती है तो वह परिवार की देखभाल करेगा। उस मामले में उसके अन्य भाई अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति के लिए आएंगे। इस प्रकार प्रत्यर्थियों ने मामले के सम्पूर्ण तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के बाद नियुक्ति देने से इनकार किया है। उनका आगे पक्षकथन यह है कि कार्यालय का ऊपर निर्दिष्ट ज्ञापन सिर्फ रियायत देता है और कोई अन्य अधिकार प्रदान नहीं करता और रियायत के बारे में परमादेश के लिए दावा नहीं किया जा सकता। **के० वी० राजलक्ष्मीया सेटी और एक अन्य बनाम मैसूर राज्य और एक अन्य**[1], **कलकत्ता गैस कम्पनी लिमिटेड बनाम पश्चिम बंगाल राज्य और अन्य**[2] और **उड़ीसा राज्य बनाम मदन गोपाल रूंगटा**[3] का अवलम्ब लिया है। यह प्रश्न कि क्या सरकार का आदेश कोई अधिकार देता है या रियायत देता है, प्रस्तुत मामले में सिर्फ शैक्षणिक है जैसा कि पिटीशन के उपाबंध 1 के पैराग्राफ 5 में दिया गया है, जो इस स्थिति को बिल्कुल स्पष्ट करता है कि सरकार पर अनुग्रहजन्य आधार पर मृतक के लड़के/लड़की/नजदीकी रिश्तेदार को नियुक्ति देने की बाध्यता नहीं है जहां पर परिवार में कमाने वाले सदस्य हैं और वे परिवार का भरण-पोषण करने के लिए अपने प्राथमिक कर्त्तव्य का पालन नहीं कर रहे हों। जहां तक रिट जारी

---

[1] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 993.

[2] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1044.

[3] ए० आई० आर० 1952 एस० सी० 12.

करने का संबंध है, महावीर प्रसाद शर्मा और अन्य बनाम राज्य परिवहन और एक अन्य[1] में यह अभिनिर्धारित किया गया है कि हालांकि अनुच्छेद 226 उच्च न्यायालयों को अत्यन्त व्यापक शक्ति प्रदान करता है, किन्तु ये शक्तियां अपने में कुछ सीमा रखती हैं और उच्च न्यायालय उन कार्यों को नहीं कर सकता, जो प्रशासनिक निकायों के विवेकाधिकार में हैं। वर्तमान मामले में अनुग्रहजन्य आधार पर नियुक्ति देना प्रत्यर्थियों के विवेकाधिकार में था। यदि उन्होंने मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार करने के बाद ऐसा करने से इनकार कर दिया है तो इस न्यायालय के लिए यह न्यायोचित नहीं होगा कि वह उन पर दबाव डाले। आक्षेपित आदेश में किसी भी प्रकार की अधिकारिता की गलती या विधि की स्पष्ट गलती नहीं है। तदनुसार, पिटीशन असफल होता है और खारिज किया जाता है। किन्तु मामले की परिस्थितियों में हम खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं करते हैं।

पिटीशन खारिज किया गया।

श०/ब्रह्म

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—86

मैसर्स पालको लाइनिंग कम्पनी बनाम विक्रय कर अधिकारी

(M/s. Palco Lining Company *VS.* The Sales Tax Officer)

तारीख 8 सितम्बर, 1983

[न्या० आर० एम० सहाय और वी० के० मेहरोत्रा]

उत्तर प्रदेश बिक्री कर अधिनियम, 1948—धारा 21—उक्त धारा के अधीन कर के लिए पुर्ननिर्धारण की कार्यवाहियां तभी की जा सकती हैं जब निर्धारण प्राधिकारी के पास यह विश्वास करने का कारण हो कि सकल व्यापारावर्त या उसका कुछ भाग निर्धारण से छूट गया है या उसका वास्तविक कर से कम दर पर निर्धारण किया गया है—निर्धारण प्राधिकारी द्वारा बाद के प्रक्रम पर केवल 'मत परिवर्तन' के आधार पर पुर्ननिर्धारण की कार्यवाहियां अनुज्ञेय नहीं होंगी।

---

[1] ए० आई० आर० 1971 इलाहाबाद 317.

इन दो रिट पिटीशनों में पिटीशनर, भागीदार फर्म हैं जो कालर के अन्दर लगने वाले कपड़े को खरीदने और बेचने का कारबार करते हैं। उनका पक्षकथन यह था कि यह सूती कपड़े का कार्य है और बिक्री का व्यापारावर्त कर से छूट प्राप्त है। विक्रय कर अधिकारी ने इस दावे को स्वीकार कर लिया कि पिटीशनरों द्वारा जो कुछ बेचा गया था वह सूती कपड़े के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। यह व्यापारावर्त कर के दायित्व से छूट प्राप्त है। यह बात 30 जून, 1976 को किए गए एक आदेश में कही गई थी। बाद में अधिनियम की धारा 21 के अधीन पिटीशनरों को इस बात की सूचना जारी की गई कि व्यापारावर्त का कुछ भाग निर्धारण से छूट गया है इसलिए पिटीशनरों को चाहिए कि वे सम्पूर्ण अभिलेखों सहित विक्रय कर अधिकारी के सम्मुख उपस्थित हों। जब पिटीशनरों ने विक्रय कर अधिकारी से यह जानना चाहा कि किन आधारों पर सूचना जारी की गई थी तो विक्रय कर अधिकारी ने उन्हें यह बताया कि अभिलेख की परीक्षा से प्रकट हुआ है कि पिटीशनरों के भागीदार ने निर्धारण प्राधिकारी के सम्मुख एक कथन में यह स्वीकार किया था कि पिटीशनरों द्वारा बेचा गया कालर कपड़े का बना हुआ था परन्तु इन कालरों के विक्रय के व्यापारावर्त पर कर संदत्त नहीं किया गया था। विचारार्थ प्रश्न यह है कि पिटीशनरों द्वारा बेची जाने वाली वस्तु "सभी प्रकार का सूती कपड़ा" मद के अंतर्गत आती है या नहीं और क्या निर्धारण अधिकारी द्वारा बाद के प्रक्रम पर केवल मत परिवर्तन के आधार पर पुनर्निर्धारण की कार्यवाहियां चलाई जा सकती हैं अथवा नहीं ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किए गए।

उत्तर प्रदेश बिक्री कर अधिनियम, 1948 की धारा 21 निर्धारण प्राधिकारी को इस बारे में सक्षम बनाती है कि वह किसी व्यौहारी का कर के लिए पुनर्निर्धारण करे अगर उसके पास यह विश्वास करने का ऐसा कारण है कि किसी निर्धारण वर्ष के लिए उसका सकल व्यापारावर्त या उसका कुछ भाग कर से छूट गया है या उसका कम निर्धारण किया गया है, या उसका निर्धारण उस दर से निम्न दर पर किया गया है जिस पर वह किया जाना चाहिए था या जहां उसके संबंध में गलती से कटौती की या छूट दे दी गई है। यह उस व्यापारावर्त के पुनर्निर्धारण की इजाज़त नहीं देता है जहां पर उचित विचार करने के पश्चात् यह पाया गया हो कि कर तुरंत देय नहीं है। यह केवल इसलिए नहीं होना चाहिए क्योंकि निर्धारण प्राधिकारी ने बाद में मामले में विभिन्न मत अपना लिया है। (पैरा 5)

पिटीशनरों द्वारा बेचे जाने वाली वस्तु कालर के अन्दर लगने वाला कपड़ा है। अब इस प्रश्न पर विचार किया जाना है कि क्या यह एक अलग अवर्गीकृत वाणिज्यिक वस्तु की मद मानते हुए कर के दायित्वाधीन है। इस प्रश्न का उत्तर इस तथ्य के अवधारण पर निर्भर करता है कि क्या किसी कपड़े के टुकड़े को कालर के आकार में बदलने से वह सूती कपड़े से भिन्न, जिसे काट कर बनाया जाता है, वस्तु बन जाता है। जिस अधिसूचना के अधीन छूट का दावा किया गया है उसमें सूती कपड़े की परिभाषा नहीं दी गई है। कपड़े की परिभाषा "मैन-मेड टैक्सटाइल एनसाइक्लोपीडिया (1959)" में इस प्रकार दी गई है "यह पद कपड़े को, चाहे वह कैसे ही बनाया गया या विनिर्मित किया गया हो, और उसमें किसी भी प्रकार का रेशा प्रयोग किया गया हो, लागू होता है। रेशों या तन्तुओं या धागों के अंतर्ग्रथन द्वारा तल तैयार करके इसकी रचना की जाती है। बांधना, नमदा बनाना, बुनना, गूथना और बुना जाना टैक्सटाइल कपड़ों की किस्में हैं। इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि बेचे जाने वाली वस्तु सूती धागे से निर्मित कपड़ा है। कालर के आकार में इसे काटना या एक टुकड़े को दूसरे टुकड़े पर चिपकाना इसकी सूती कपड़े होने की प्रकृति को प्रभावित नहीं करता है। (पैरा 10)

इस बात पर ध्यान दिए बिना कि अधिनियम की धारा 21 का विस्तार क्या है, न्यायालय यह मत व्यक्त करता है कि केवल मत परिवर्तन के आधार पर कर लगाने वाले प्राधिकारियों द्वारा बाद के प्रक्रम पर पुर्नर्निर्धारण की कार्यवाहियां अनुज्ञेय नहीं हैं। पिटीशनरों का यह कथन सही था कि अधिनियम की धारा 21 के अधीन जारी की गई सूचना विधिक नहीं थी। (पैरा 15)

		पैरा
[1982]	[1982] 49 एस० टी० सी० 117 : गुजरात राज्य **बनाम** घनश्याम स्टोर्स (State of Gujarat *Vs.* Ghanshyam Stores);	11
[1981]	[1981] 2 उम० नि० प० 812=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1552 : दिल्ली क्लाथ एण्ड जनरल मिल्स कंपनी लिमिटेड **बनाम** राजस्थान राज्य और अन्य (Delhi Cloth & General Mills Company Limited *Vs.* State of Rajasthan & others);	14

[1979] [1979] 4 उम० नि० प० 526=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 180 : महाराजा बुक डिपो **बनाम** गुजरात राज्य (Maharaja Book Depot *Vs.* State of Gujarat) 10

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1981] 1981 यू० पी० टी० सी० 1249 : हिन्दुस्तान ऐल्यूमिनियम कारपोरेशन लिमिटेड (मैसर्स) **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य (Hindustan Aluminium Corporation Limited *Vs.* State of Uttar Pradesh and another); 13

[1980] 1980 यू० पी० टी० सी० 912 : मैसर्स ओमविक इलेक्ट्रोनिक्स प्राइवेट लिमिटेड **बनाम** उत्तर प्रदेश विक्रय कर आयुक्त (M/s. Omvik Electronics Private Limited *Vs.* Commissioner of Sales Tax, Uttar Pradesh) 8

से **प्रभेद** बतलाया गया।

[1977] (1977) 40 एस० टी० ए० सी० 217 : नरसिम्हा ऐजेन्सीज **बनाम** तमिलनाडु राज्य (Narasimha Agencies *Vs.* The State of Tamil Nadu); 12

[1970] (1970) 26 एस० टी० सी० 341 : जयपुर हौजरी मिल्स (प्राइवेट) लिमिटेड **बनाम** राजस्थान राज्य और अन्य [Jaipur Hosiery Mills (Private) Limited *Vs.* The State of Rajasthan and others] 14

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1978 का रिट पिटीशन सं० 117 (इसके साथ 1978 का रिट पिटीशन सं० 124 भी सुना गया।)

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री भरत जी अग्रवाल

प्रत्यर्थी की ओर से ... स्थायी काउंसेल

न्यायालय का निर्णय न्या० वी० के० मेहरोत्रा ने दिया।

न्या० मेहरोत्रा :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन किए गए इन दो पिटीशनों में उत्तर प्रदेश बिक्री कर अधिनियम के अधीन पिटीशनर फर्मों के वर्ष 1973-74 के लिए किए गए निर्धारण के संबंध में सामान्य प्रश्न उद्भूत होता है।

2. इन दो रिट पिटीशनों में पिटीशनर, मैसर्स पालको लाइनिंग कंपनी और मैसर्स के० पी० ट्रेडर्स भागीदार फर्म हैं जो कालर के अन्दर लगने वाले कपड़े को खरीदने और बेचने का कारबार करते हैं। उनका पक्षकथन यह था कि यह सूती कपड़े का कार्य है और बिक्री का व्यापारावर्त कर से छूट प्राप्त है।

3. अधिनियम की धारा 7(3) के अधीन कार्यवाही करते हुए विक्रय-कर अधिकारी ने लेखा बही को स्वीकार कर लिया और यह पाया कि पिटीशनरों द्वारा किए गए क्रय पूर्णतः साबित हो गए हैं और सम्यक् रूप से विक्रयों के वाउचर भी थे। इसके पश्चात् उसने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या पिटीशनरों द्वारा बेचा गया कालर के अन्दर लगने वाला कपड़ा सूती है जिससे इसे कर से छूट दी जाए या नहीं? कालर के अन्दर लगने वाले कपड़े का नमूना उसको दिखाया गया। विक्रय कर अधिकारी ने इस दावे को स्वीकार कर लिया कि पिटीशनरों द्वारा जो कुछ बेचा गया था वह सूती कपड़े के अतिरिक्त कुछ भी नहीं था। यह व्यापारावर्त कर के दायित्व से छूट प्राप्त है। यह बात 30 जून, 1976 को किए गए एक आदेश में कही गई थी।

4. बाद में अधिनियम की धारा 21 के अधीन पिटीशनरों को अचानक इस बात की सूचना जारी की गई कि व्यापारावर्त का कुछ भाग निर्धारण से बच गया है इसलिए पिटीशनरों को चाहिए कि वे सम्पूर्ण अभिलेखों सहित विक्रय कर अधिकारी के समक्ष उपस्थित हों। जब पिटीशनरों ने विक्रय कर अधिकारी से यह जानना चाहा कि किन आधारों पर सूचना जारी की गई थी तो विक्रय कर अधिकारी ने उन्हें यह बताया कि अभिलेख की परीक्षा से यह प्रकट हुआ कि मैसर्स पालको लाइनिंग कम्पनी के मामले में अशोक कुमार और मैसर्स के० पी० ट्रेडर्स के मामले में स्वदेश कुमार नामक पिटीशनरों के

भागीदारों ने निर्धारण प्राधिकारी के समक्ष एक कथन में यह स्वीकार किया था कि पिटीशनरों द्वारा बेचा गया कालर कपड़े का बना हुआ था परन्तु इन कालरों के विक्रय के व्यापारावर्त पर कर संदत्त नहीं किया गया था। अब पिटीशनरों ने अनुतोष के लिए इस न्यायालय में ये पिटीशन दिए हैं। उन्होंने अपने पक्षकथन में यह तथ्य बताया है कि उनके द्वारा वास्तव में जो कुछ बेचा जा रहा था वह "कालर" नहीं था बल्कि कपड़े के दो टुकड़े थे जो कालर के आकार के थे जिन्हें दबाकर एक दूसरे के साथ जोड़ दिया गया था, जो केवल कालर के अन्दर लगने वाला कपड़ा है। कमीज सीते समय बाहरी कालर बनाने के लिए दर्जियों को इसे कपड़े से ढकना पड़ेगा। उन्होंने यह भी कहा कि निर्धारण प्राधिकारी ने मामले की गुणागुण के आधार पर एक बार परीक्षा की थी और यह निष्कर्ष निकाला था कि पिटीशनरों द्वारा जो वस्तु बेची जाती थी वह कालर के अन्दर लगने वाला कपड़ा था और वह सूती कपड़े थे इसलिए कर से छूट प्राप्त है। बाद में वह मत बदल जाने से अधिनियम की धारा 21 के अधीन पुनर्निर्धारण की कार्यवाहियां आरम्भ नहीं कर सकता है।

5. उत्तर प्रदेश बिक्री कर अधिनियम की धारा 21 निर्धारण प्राधिकारी को इस बारे में समर्थ बनाती है कि वह किसी व्यौहारी का कर के लिए पुनर्निर्धारण करे अगर उसके पास विश्वास करने का ऐसा कारण है कि किसी निर्धारण वर्ष के लिए उसका सकल व्यापारावर्त या उसका कुछ भाग कर से छूट गया है या उसका कम निर्धारण किया गया है, या उसका निर्धारण उस दर से निम्न दर पर किया गया है जिस पर किया जाना चाहिए था या जहां उसके सम्बन्ध में गलती से कटौती की या छूट दे दी गई है। यह उस व्यापारावर्त के पुनर्निर्धारण की इजाज़त नहीं देता है जहां पर उचित विचार करने के पश्चात् यह पाया गया हो कि कर तुरन्त देय नहीं है। यह केवल इसलिए नहीं होना चाहिए क्योंकि निर्धारण प्राधिकारी ने बाद में मामले में विभिन्न मत अपना लिया है।

6. निर्धारण के आदेश के परिशीलन से यह दर्शित होगा कि निर्धारण प्राधिकारी ने अपने समक्ष के साक्ष्य पर विस्तार से विचार करने के पश्चात् ही यह दृष्टिकोण अपनाया है कि पिटीशनरों द्वारा जो कुछ बेचा जा रहा है वह कालर की आकृति में काटे गए कपड़े के अतिरिक्त कुछ नहीं है। इसके विक्रय के व्यापारावर्त कर से छूट प्राप्त हैं। 25 नवम्बर, 1958 की अधिसूचना सं० एस० टी०-4069/एक्स-960(4)-58 में यह उपबंध किया गया है कि कुछ अपवादों के अध्यधीन रहते हुए "सभी प्रकार का सूती कपड़ा" कर से छूट

प्राप्त है।

7. यदि पिटीशनरों ने कोई ऐसी वस्तु बेची है जो सूती कपड़े के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है तो यह स्पष्ट है कि उन्हें ठीक ही कर से छूट पाने का हकदार माना गया था। अब मूल प्रश्न पिटीशनरों द्वारा बेची जाने वाली वस्तु के बारे में रह जाता है। विभाग के अनुसार यह कालर है जो इससे भिन्न वाणिज्यिक वस्तु है और इस रूप में व्यापार के लोगों द्वारा जानी जाती है। जैसा कि पिटीशनरों ने कहा है यह साधारणतया सूती कपड़े से भिन्न वाणिज्यिक वस्तु है। इसके परिणामस्वरूप यह अवर्गीकृत मद के रूप में कर योग्य है और यह उपरोक्त अधिसूचना में छूट प्राप्त "सभी प्रकार का सूती कपड़ा" के अन्तर्गत नहीं आता है।

8. **मैसर्स ओमविक इलेक्ट्रोनिक्स प्राइवेट लिमिटेड बनाम उत्तर प्रदेश विक्रय कर आयुक्त**[1] वाले मामले में न्या० सी० एस० सी० सिंह ने इस प्रश्न पर विचार किया कि क्या उपरोक्त अधिसूचना के अधीन मिलाकर बनाए गए कालर कर से छूट के हकदार हैं? उन्होंने यह पाया कि कालर विनिर्माण करने का तरीका यह था कि साधारण कपड़े और बुकरम के विभिन्न आकार के टुकड़े काटे जाते थे, फिर उन्हें आपस में जोड़ दिया जाता था और फिर उसके बाद उसमें दोनों सिरों पर काज बनाए जाते थे ताकि उसमें बटन लगाए जा सकें। इस प्रक्रिया द्वारा बनाए गए कालरों को कमीजों और बुशर्टों में सिलाई के काम में लाया जाता था। विद्वान् न्यायाधीश ने इस प्रश्न का यह उत्तर दिया कि "क्या आपस में जोड़ने से, काटने और अन्तिम रूप देने की प्रक्रिया से सूती कपड़े से भिन्न कोई वाणिज्यिक वस्तु बन जाती है।" यह कहने के पश्चात् उसने यह भी निष्कर्ष निकाला कि इस प्रकार जोड़ कर बनाए गए कालरों का विनिर्माण विद्युत् चालित मशीनों पर नहीं किया जाता था और यह अभिनिर्धारित किया कि उनके समक्ष जो पिटीशनर हैं, उनके द्वारा विनिर्मित मिलाकर बनाए गए कालर हैं अतएव उन्हें अधिसूचना के अधीन छूट प्राप्त नहीं है। यह स्वाभाविक है कि विभाग के काउंसेल ने इस विनिश्चय पर अधिक बल दिया है।

9. इन मामलों में इस बारे में किसी प्रकार का विवाद नहीं है कि यद्यपि कालर के आकार में कटा होने पर भी पिटीशनरों द्वारा जो कुछ बेचा जा रहा था वह कालरों के अन्दर लगने वाला कपड़ा था। विभाग ने इसके विनिर्माण की प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रतिशपथपत्र में यह कहा है कि "कालर

---

[1] 1980 यू० पी० टी० सी० 912.

के अन्दर का कपड़ा कपड़े को विभिन्न आकार और आकृति में काट कर विनिर्मित किया जाता है। इन कटे हुए टुकड़ों पर एक विशेष प्रकार का आसंजक लगाया जाता है और उसे आयताकार बुकरम पर रख कर और कुछ ताप प्रक्रिया द्वारा एक दूसरे पर चिपका दिया जाता है। फैलाए गए कपड़े में लम्बाई के बीच में एक चीर होता है।" वस्तुतः यही वह प्रक्रिया है जिसे पिटीशनरों ने निर्धारण प्राधिकारी को निर्धारण कार्यवाहियों के समय बताया था। उन्होंने यह कहा था कि वे कपड़े को टुकड़ों में काटते थे, और ऐसे दो टुकड़ों को आपस में दबाते थे जिससे कि वे आपस में चिपक जाते थे। वे इन्हें दर्जियों को बेच देते थे जो उन्हें कालर के उचित आकार में काट देते थे और उन्हें कपड़े से ढकने और सिलाई करने के पश्चात् कालर तैयार करते थे। निर्धारण प्राधिकारी ने निर्धारण आदेश में यह कहा था कि व्यौहारी द्वारा पेश किए गए नमूने की जांच से प्रकट होता है कि कपड़े के दो टुकड़ों को काटकर आपस में दबाकर जोड़ा जाता है जिससे वे एक दूसरे से चिपक जाते थे और इनमें किसी प्रकार की सिलाई नहीं होती थी। इस रूप में इन्हें कालर की तरह प्रयोग नहीं किया जा सकता था।

10. यह पता लग जाने पर कि पिटीशनरों द्वारा बेचे जाने वाली वस्तु कालर के अन्दर लगने वाला कपड़ा है, अब इस प्रश्न पर विचार किया जाना है कि क्या यह एक अलग अवर्गीकृत वाणिज्यिक वस्तु की मद मानते हुए कर के दायित्वाधीन है? इस प्रश्न का उत्तर इस तथ्य के अवधारण पर निर्भर करता है कि क्या किसी कपड़े के टुकड़े को कालर के आकार में बदलने से वह सूती कपड़े से भिन्न, जिसे काट कर बनाया जाता है, वस्तु बन जाता है। जिस अधिसूचना के अधीन छूट का दावा किया गया है उसमें सूती कपड़े की परिभाषा नहीं दी गई है। कपड़े की परिभाषा "मैन-मेड टैक्सटाइल एनसाइक्लोपीडिया (1959)" में इस प्रकार दी गई है—"यह मद कपड़े को, चाहे वह कैसे ही बनाया गया या विनिर्मित किया गया हो, और उसमें किसी भी प्रकार का रेशा प्रयोग किया गया हो, लागू होता है। रेशों या तन्तुओं या धागों के अन्तर्ग्रंथन द्वारा तल तैयार करके इसकी रचना की जाती है। बांधना, नमदा बनाना, बुनना, गूथना और बुना जाना टैक्सटाइल कपड़ों की किस्में हैं।" इसमें किसी प्रकार का संदेह नहीं है कि बेचे जाने वाली वस्तु सूती धागे से निर्मित कपड़ा है। कालर के आकार में इसे काटना या एक टुकड़े को दूसरे टुकड़े पर चिपकाना इसकी सूती कपड़े होने की प्रकृति को किस प्रकार प्रभावित करता है? इस बात का उत्तर महाराजा बुक डिपो बनाम

गुजरात राज्य[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा स्वीकार किए गए सिद्धांतों से पता चलता है। उसमें यह प्रश्न था कि क्या कागज द्वारा निर्मित "अभ्यास-पुस्तिकाएं" आवश्यक वस्तु अधिनियम की धारा 2(क)(vii) और गुजरात ऐसेन्शियल आर्टिकल्स डीलर्स (रेगूलेशन) आर्डर, 1971 की अनुसूची 1 की मद 13 "कागज" अभिव्यक्ति के अंतर्गत आती हैं और रिपोर्ट के पैराग्राफ 6 में यह कहा गया था :—

> "इस बात में कोई विवाद नहीं हो सकता कि अभ्यास-पुस्तिका कागज की शीटों के (सादे या रेखांकित) एक समूह के अतिरिक्त कुछ और नहीं है जो धागे के एक टुकड़े से एक साथ सिली होती है या किसी स्टैपलर की पिनों के साथ एक साथ पिन की जाती और यह एक ऐसा पदार्थ है जिसका उपयोग लेख के लिए किया जाता है और इससे यह स्पष्ट रूप से कागज मद के भीतर आएगी। कसौटी यह होगी कि क्या शीटें एक साथ सिलाई करने या उन्हें पिन करने के कारण उनका संकलन कागज के रूप में अपनी पहचान खो देता है। इसका उत्तर नकारात्मक में होना चाहिए। इस दृष्टिकोण से देखने पर इस दलील को स्वीकार करना कठिन है कि शीटें का संकलन कागज के अतिरिक्त कोई भिन्न प्रकार की वस्तु है...।"

11. उपरोक्त कसौटी के दृष्टिकोण से अगर इसको देखा जाए तो कालर के अन्दर लगने वाला कपड़ा "हर प्रकार का सूती कपड़ा" पद के अन्तर्गत आने वाला सूती कपड़ा होना समाप्त नहीं हो जाता है और कर से छूट प्राप्त करने का हकदार है। हमारे दृष्टिकोण को गुजरात उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के **गुजरात राज्य बनाम घनश्याम स्टोर्स**[2] वाले मामले से समर्थन मिलता है। इस मामले में भी यह प्रश्न था कि कपड़े को कालर के आकार में काटना, और विभिन्न प्रकार के दो कपड़ों को इकट्ठा करने और उनको गर्म करने की प्रक्रिया और प्रेस करने की प्रक्रिया से आपस में जोड़ कर बनाई गई अंदर लगने वाला कपड़ा सूती कपड़े की संकलपना के अन्तर्गत आता है या नहीं। यह दृष्टिकोण अपनाया गया था कि यह इस संकल्पना के अन्तर्गत आएगा और कालर के आकार में कपड़े को काटना, और दो टुकड़ों को आपस में जोड़ने से जो वस्तु बनेगी उसे सूती कपड़े से भिन्न वाणिज्यिक वस्तु नहीं बताया जा सकता है।

---

1 [1979] 4 उम० नि० प० 526=ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 180.
2 (1982) 49 एस० टी० सी० 117.

12. **नरसिम्हा एजेन्सीज** बनाम **तमिलनाडु राज्य**[1] वाले मामले में, जिसका विभाग की ओर से हाजिर होने वाले स्थायी काउन्सेल ने वहुत अधिक अवलम्ब लिया है, यह प्रश्न था कि क्या कालर को कड़ा करने की सामग्री तमिलनाडु साधारण बिक्री कर अधिनियम के अधीन बहु-उद्देशीय कर के उद्ग्रहण से छूट प्राप्त है। यह अभिनिर्धारित करने के पश्चात् कि टैक्सटाइल को एक प्रकार के रूप में मानते हुए उस अधिनियम की तृतीय अनुसूची के साथ पठित अधिनियम की धारा 8 के अधीन कर से छूट प्राप्त नहीं है। खण्डपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि केन्द्रीय बिक्री कर अधिनियम के अधीन, जैसा कि अनुकल्पत: घोषित वस्तु के रूप में निर्धारिती ने दावा किया है, इसे सूती कपड़े के रूप में छूट प्राप्त थी। खण्ड पीठ ने यह पाया कि कड़ा करने की सामग्री कपड़े का काटा हुआ एक टुकड़ा था जिस पर कुछ और प्रक्रिया की गई थी। तब (रिपोर्ट के पृष्ठ 220 पर) यह मत व्यक्त किया :—

> "......इस प्रश्न पर विचार किया जाना है कि क्या वर्तमान कपड़े को सूती कपड़ा, जिसका तात्पर्य यह है कि सभी प्रकार की फैब्रिक का विनिर्माण पूर्णत: या भागत: कपास से किया गया है, कहा जा सकता है।
>
> ......"फैब्रिक" (कपड़ा) शब्द का तात्पर्य वस्तु को इकट्ठा रखना, बुनने की सामग्री है। वर्तमान मामले में इस तथ्य के बारे में कोई विवाद नहीं हो सकता है कि कड़ा करने की सामग्री कपास से तैयार की गई है और विनिर्माण की एक प्रक्रिया द्वारा इसे इकट्ठा रखा जाता है। इस बात को दर्शाने के लिए कुछ भी नहीं है कि विनिर्माण प्रक्रिया, जैसी कि इस मामले में की गई है, जो कड़ा करने की सामग्री को केन्द्रीय विक्रय कर अधिनियम की धारा 14 की मद (iiक) में प्रयुक्त "सूती कपड़ा" के प्रवर्ग से बाहर कर दिया गया है...।"

13. **हिन्दुस्तान ऐल्यूमिनियम कारपोरेशन लिमिटेड (मैसर्स)** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[2] वाले मामले में जिसका प्रत्यर्थी की ओर से अपर मुख्य स्थायी काउंसेल ने अवलम्ब लिया है, उच्चतम न्यायालय के सम्मुख समस्या कुछ भिन्न थी। उसमें प्रश्न यह था कि क्या अपीलार्थी कारपोरेशन द्वारा विनिर्मित ऐल्यूमिनियम वेल्लित उत्पाद और वहिर्वेधित 2%

---

[1] (1977) 40 एस० टी० सी० 217:
[2] 1981 यू० पी० टी० सी० 1249.

कम दर पर कर के उद्ग्रहण के प्रयोजन के लिए धातु माने जा सकते है। उच्च न्यायालय ने विभाग की इस दलील को, कि वे एल्युमिनियम सिल्ली और बिलेट, जिससे वे बनाए गए थे, वाणिज्यिक वस्तु से भिन्न स्वीकार कर लिया था, सिल्ली (ऐल्यूमिनियम की) और बिलेट की तरह उन्हें धातु मानते हुए कम दर पर कर लगाने के लिए वे हकदार नहीं है। सुसंगत अधिसूचना और विभिन्न अधिसूचनाओं के विभिन्न प्रविष्टियों में प्रदर्शित स्कीम का निर्वचन करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह दृष्टिकोण अपनाया कि "धातु" अभिव्यक्ति से साधारणतया यह विवक्षित होता है कि धातु अपने मूल रूप में है अर्थात् वह इस रूप में है कि मूल वस्तु के रूप में बेचने योग्य है । हमारे समक्ष की अधिसूचना की भाषा को ध्यान में रखते हुए हमारा यह समाधान नहीं हुआ कि वर्तमान मामले में यह सिद्धान्त विभाग की कोई सहायता कर सकता है।

14. हमें विभाग की ओर से दी गई इस दलील पर भी ध्यान देना चाहिए कि पिटीशनरों द्वारा बेची जाने वाली वस्तु सूती कपड़ा था भिन्न वाणिज्यिक पहचान रखने वाली वस्तु है जो कि तुरंत कर योग्य है, विभाग के विभागीय प्राधिकारियों द्वारा उनके समक्ष पेश किए गए साक्ष्य की जांच पर करने के लिए छोड़ देना चाहिए। इस संबंध में उच्चतम न्यायालय द्वारा **जयपुर हौजरी मिल्स (प्रा०) लिमिटेड** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में व्यक्त किए गए कुछ मतों का अवलम्ब लिया गया है। हम उनकी इस दलील से प्रभावित नहीं हुए हैं। उच्चतम न्यायालय के मत को उस मामले के तथ्यों के संदर्भ में पढ़ा जाना चाहिए । जहां राजस्थान उच्च न्यायालय के इस विनिश्चय को कि चड्ढी और बनियानों को छूट न दिया जाना मनमाना नहीं था और संविधान के अनुच्छेद 14 का अतिक्रमण में नहीं है, के विरुद्ध की गई अपील को खारिज करते हुए उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किये थे। हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि वर्तमान मामले में तथ्यों के संबंध में कोई विवाद नहीं है और इस प्रश्न का विनिश्चय आसानी से किया जा सकता है कि क्या पिटीशनर 25 मई, 1958 की अधिसूचना के अधीन छूट के हकदार या नहीं वास्तव में इस मामले में विद्वान् अपर मुख्य स्थायी काउंसेल द्वारा दी गई दलील का खण्डन उच्चतम न्यायालय के **दिल्ली क्लाथ एण्ड जनरल मिल्स कम्पनी लि०** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में हो गया था जहां पर (रिपोर्ट के पैरा 21 में) यह मत व्यक्त किया गया था :—

---

[1] (1970) 26 एस० टी० सी० 341.

[2] [1981] 2 उम० नि० प० 812=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1552.

"अंत में, श्री सिन्हा ने यह दलील दी है कि यह प्रश्न कि क्या रेयन टायर कार्ड फैब्रिक "रेयन फैब्रिक्स" अभिव्यक्ति के अंतर्गत आता है तथ्य संबंधी प्रश्न है और निर्धारण प्राधिकारी, अपील प्राधिकारी और राजस्व बोर्ड सभी इस आधार पर सहमत हैं कि इसे रेयन फैब्रिक के रूप में वर्गीकृत नहीं किया जा सकता और इसलिए इस न्यायालय को चाहिए कि वह इन अपीलों में हस्तक्षेप न करे। इस बात का भी उल्लेख किया गया है कि राजस्थान सेल्स टैक्स ऐक्ट की धारा 15 के अधीन अपीलार्थी को निर्देश के रूप में एक कार्रवाई उपलभ्य है और इस न्यायालय को, यद्यपि वह इन अपीलों पर गुणागुण के आधार पर विचार करे, यदि उसने कोई निर्देश ग्रहण कर लिया है तो उस अधिकारिता से अधिक व्यापक अधिकारिता का प्रयोग न करे जो कि उसे उपलभ्य है। हम तथ्य सम्बन्धी इस प्रश्न से सहमत नहीं हैं। यह एक ऐसा प्रश्न है जो एडीशनल ड्यूटीज आफ एक्साइज (गुड्स आफ स्पेशल इम्पारटेन्स) ऐक्ट, 1957 की अनुसूची की मद सं० 22 के अर्थान्वयन से सम्बन्धित है। यदि रेयन टायर कार्ड फैब्रिक जिसका निर्माण अपीलार्थी द्वारा किया गया है उस मद में आता है तो वह विक्रय कर से मुक्त होगा और विक्रय कर प्राधिकारियों के पास ऐसी कोई अधिकारिता नहीं है कि वे अपीलार्थी का मूल्यांकन उसके आवर्त के आधार पर करें। यह प्रश्न सारवान् महत्व का प्रश्न है और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए अपीलों को ग्रहण करने तथा गुणागुण के आधार पर उनका विनिश्चय करने के लिए कोई अच्छा कारण नहीं है।"

15. मामले के गुणागुण के आधार पर हमारे द्वारा अपनाए गए दृष्टिकोण से हमारे लिए वास्तव में इस प्रश्न पर विचार करना आवश्यक नहीं है कि क्या वर्तमान मामलें में पुनर्निर्धारण की कार्यवाहियों को न्यायोचित ठहराया जा सकता है। तथापि, इस बात पर ध्यान दिए बिना कि अधिनियम की धारा 21 का विस्तार क्या है, हम यह मत व्यक्त करते हैं कि केवल मत परिवर्तन के आधार पर कर लगाने वाले प्राधिकारियों द्वारा बाद के प्रक्रम पर पुनर्निर्धारण की कार्यवाहियां अनुज्ञेय नहीं हैं। पिटीशनरों का यह कथन सही था कि अधिनियम की धारा 21 के अधीन जारी की गई सूचना विधिक नहीं थी।

16. परिणामतः हम पिटीशन मंजूर करते हैं तथा अधिनियम की

धारा 21 के अधीन पिटीशनरों को जारी की गई सूचनाओं और आरम्भ की गई कार्यवाहियां अभिखण्डित करते हैं। पिटीशनर खर्चे के हकदार होंगे।

पिटीशन मंजूर किए गए।

खन्ना/चन्द

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—98

हरपाल सिंह यादव बनाम अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी

(Harpal Singh Yadava *Vs.* Superintendent, Central Jail, Varanasi)

तारीख 28 सितम्बर, 1983

[न्या० पी० एस० गुप्ता और आई० पी० सिंह]

विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974—धारा 3(1) और धारा 11—पिटीशनर के विरुद्ध निरोध आदेश का किया जाना—निरोध आदेश को चुनौती देने के लिए पिटीशनर द्वारा अभ्यावेदन दिया जाना—निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर अनुचित कारण से तथा अत्यधिक विलम्ब से विचार किया जाना—यदि किसी निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर अनुचित कारण और अत्यधिक विलम्ब से विचार किया गया हो और उसके लिए युक्तियुक्त स्पष्टीकरण भी न दिया गया हो तो ऐसा निरोध असंवैधानिक और अविधिमान्य होगा क्योंकि ऐसे अभ्यावेदन पर अविलम्ब कार्रवाई आवश्यक होती है।

राज्य सरकार ने 30 अगस्त, 1982 को पिटीशनर के विरुद्ध निरोध आदेश पारित किए। उसने निरोध के विरोध में 29 अप्रैल, 1983 को अपना अभ्यावेदन दिया। उसके मामले को सलाहकार बोर्ड के सम्मुख रखा गया जिसने यह मत व्यक्त किया कि पिटीशनर के निरोध के लिए पर्याप्त कारण था और उसने 20 मई, 1983 को अपना मत राज्य सरकार को भेज दिया। राज्य सरकार ने 2 जून, 1983 को निरोध आदेश की पुष्टि कर दी। इसके पश्चात् पिटीशनर ने 21 जून, 1983 को अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी के समक्ष काफेपोसा अधिनियम की धारा 11 के अधीन निरोध आदेश के प्रतिसंहरण के लिए अभ्यावेदन दिया। यह अभ्यावेदन राज्य सरकार ने

28 जून, 1983 को प्राप्त किया और उत्तर प्रदेश राज्य सरकार के मुख्य सचिव ने 14 जुलाई, 1983 को इसकी नामंजूरी के आदेश पारित करके इसको निपटा दिया। यद्यपि निरोध आदेश को कई आधारों पर चुनौती दी गई है तथापि पिटीशनर के विद्वान् अधिवक्ता ने इस आधार पर बल दिया है कि पिटीशनर द्वारा 21 जून, 1983 को दिए गए अभ्यावेदन का राज्य सरकार ने अत्यधिक विलम्ब से निपटारा किया था जिससे निरोध अवैध हो गया। इस पिटीशन में विचारार्थ मुद्दा यह है कि क्या बिना किसी उचित कारण के तथा अत्यधिक विलम्ब से किसी अभ्यावेदन पर विचार करने तथा उसका निपटारा करने से निरोध आदेश असंवैधानिक और अवैध हो जाता है ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

इस बारे में कोई ऐसा कठोर नियम नहीं कि कितने दिनों के अंदर अभ्यावेदन का निपटारा किया जाना चाहिए। किन्तु अभ्यावेदन का निपटारा करने में लगे समय के लिए हुई देरी के लिए युक्तियुक्त स्पष्टीकरण दिया जाना चाहिए। यदि अभ्यावेदन का निपटारा करने के लिए हुए विलम्ब के लिए युक्तियुक्त और विधिमान्य स्पष्टीकरण दिया जाता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि निरुद्ध व्यक्ति का निरोध असंवैधानिक और अविधिमान्य है। दूसरी ओर अगर विलम्ब ऐसा है जिसके लिए युक्तियुक्त और स्वीकार्य स्पष्टीकरण नहीं दिए गए हैं तो ऐसा विलम्ब निरोध घातक होगा। (पैरा 13)

निरुद्ध व्यक्ति ने 21 जून, 1983 को अधीक्षक, केन्द्रीय कारावास, वाराणसी को अपना अभ्यावेदन दिया और उसने उसी दिन ही उस पर प्राप्त होने का पृष्ठांकन किया। अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी ने "प्रेषित किया" टिप्पण उसी दिन किया। 28 जून, 1983 को यह अभ्यावेदन राज्य सरकार को प्राप्त हुआ। प्रति शपथ-पत्र में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी ने किस माध्यम से इसे राज्य सरकार को भेजा था। कागजात से भी इस बात का पता नहीं चलता है कि यह डाक द्वारा या विशेष संदेशवाहक द्वारा भेजा गया था। इस प्रकार अभिवहन में छह दिन तक रहने का विलम्ब अस्पष्टीकृत रह गया है। यह प्रत्यर्थियों का कर्तव्य था कि वे इस विलम्ब के लिए स्पष्टीकरण देते। अगर इसे डाक द्वारा भेजा गया था तो इस बात का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया जाना था कि अभ्यावेदन डाक से भेजा गया था और डाक-सेवा में किसी गड़बड़ी के कारण यह विलम्ब से पहुंचा था। (पैरा 27)

राज्य सरकार का कर्त्तव्य था कि वह सुस्पष्ट शब्दों में अभ्यावेदन को भेजने के माध्यम का उल्लेख करती और यह भी बताती कि वाराणसी से लखनऊ पहुंचने में कैसे 6 दिन लग गए। प्रतिशपथ-पत्र में यह बात कही गई है कि अभ्यावेदन पर एक विस्तृत टिप्पण 2 जुलाई, 1983 को प्रस्तुत किया गया था। इस प्रकार कार्यालय ने टिप्पण प्रस्तुत करने में पूरे चार दिन लिए। अगर इस विलम्ब पर ध्यान न दिया जाए तो भी सम्बद्ध प्राधिकारी ने इसके निपटारे में और 12 दिन लगा दिए। इसके लिए यह कारण बताया गया कि गृह विभाग के संयुक्त सचिव, 4 जुलाई को आरम्भ होने वाले सप्ताह में सरकारी काम से नई दिल्ली गए हुए थे। यह भी बताया गया कि 9 और 10 जुलाई को अवकाश था। इस बारे में कोई कारण नहीं बताया गया कि उसने 11 से 13 जुलाई तक अभ्यावेदन पर कोई कार्रवाई क्यों नहीं की। अगर नई दिल्ली में होने के कारण संयुक्त सचिव 4 से 10 जुलाई तक अभ्यावेदन पर कार्रवाई नहीं कर सका तो उसे वापस आने पर उस पर तुरन्त कार्रवाई करनी चाहिए थी। जैसा कि बताया गया युक्तियुक्त कारण बताना तो दूर 11 से 13 जुलाई तक अभ्यावेदन पर कार्रवाई न किए जाने का कोई कारण नहीं दिया गया है। अगर यह मान भी लिया जाए कि संयुक्त सचिव के अतिरिक्त कोई और अधिकारी अभ्यावेदन पर कार्रवाई नहीं कर सकता था तो भी प्रत्यर्थी संयुक्त सचिव के वापस आने के पश्चात् भी अभ्यावेदन के निपटारे में हुए विलम्ब के लिए युक्तियुक्त और स्वीकार्य कारण बताने में असफल रहे हैं। इसलिए प्रथमदृष्टया पिटीशनर के अभ्यावेदन के निपटारे में हुए अत्यधिक विलम्ब के सम्बन्ध में कोई कारण नहीं दिया गया है। निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन को सरकार की लालफीताशाही का शिकार नहीं होना चाहिए था। इससे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अत्यधिक विलम्ब का कोई कारण नहीं दिया गया है और कोई युक्तियुक्त विश्वसनीय औचित्य भी प्रतीत नहीं होता है। यह विलम्ब ही निरोध को अविधिमान्य और असंवैधानिक बना देता है। (पैरा 29)

मामले पर सावधानी से विचार करने के पश्चात् न्यायालय का यह मत है कि काफेपोसा अधिनियम की धारा 11 के अधीन दिया गया अभ्यावेदन भी उतनी ही शीघ्रता से निपटाया जाना चाहिए जितना कि पहला अभ्यावेदन। चूंकि, पिटीशनर के द्वितीय अभ्यावेदन का निपटारा बिना कारण के और अनुचित विलम्ब से किया गया है, इसलिए पिटीशनर का निरोध अवैध हो जाता है। (पैरा 32)

पैरा

[1983)	[1983] 1 उम० नि० प० 528=ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1023 : विजय कुमार **बनाम** जम्मू-कश्मीर राज्य और अन्य (Vijay Kumar *Vs.* State of Jammu & Kashmir and others) ;	8, 28
[1983]	1983 का रिट. पिटीशन सं० 5980 : जिसका विनिश्चय 17 अगस्त, 1983 को किया गया था : मुहम्मद आलम **बनाम** अधीक्षक, जिला जेल, मुरादाबाद और अन्य (Mohammad Alam *Vs.* Superintendent, District Jail, Moradabad & others) ;	30
[1983]	1983 का रिट पिटीशन सं० 2818 जिसका विनिश्चय 5 अप्रैल, 1983 को किया गया था : मुहम्मद शमी **बनाम** अधीक्षक, जिला जेल मुरादाबाद और अन्य (Mohammad Shami *Vs.* Superintendent, District Jail, Moradabad & others)	31
[1982]	[1982] 1 उम० नि० प० 673=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1077 : श्रीमती खातून बेगम **बनाम** भारत संघ और अन्य (Smt. Khatoon Begum *Vs.* Union of India and others) ;	6
[1982]	[1982] 1 उम० नि० प० 913=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1126 : हरीश पाहवा **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (Harish Pahwa *Vs.* State of U.P. & others) ;	7
[1981]	[1981] 3 उम० नि० प० 803=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1983 : श्रीमती इच्छूदेवी चौरड़िया **बनाम** भारत संघ और अन्य (Smt. Icchu Devi Choraria *Vs.* Union of India and others) ;	23
[1980]	ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1361 : ताराचंद **बनाम** राजस्थान राज्य और अन्य (Tara	9

Chand *Vs.* The State of Rajasthan & others);

का अवलंब लिया गया।

[1983] ए० आई० आर० 1983, एस० सी० 181 : सुरेश भोजराज चेलानी **बनाम** महाराष्ट्र राज्य और नारायण टी० मीरचंदानी **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (Suresh Bhojraj Chelani *Vs.* State of Maharashtra and Narain T. Mirchandani *Vs.* State of Maharashtra); 20

[1983] 1983 ए० एल० जे० 545 : अवध कुमार **बनाम** अधीक्षक, केन्द्रीय कारागार, नैनी (Awadh Kumar *Vs.* Adhikashak Kendriya Karagar, Naini); 21

[1982] ए० आई० आर० 1982, एस० सी० 146 : फितरत रजा खां बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (Fitrat Raza Khan *Vs.* State of U.P. & others); 19

[1982] [1982] 3 उम० नि० प० 621=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 2230 : सतपाल **बनाम** पंजाब राज्य और अन्य (Sat Pal *Vs.* State of Punjab & others); 15

[1981] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1191 : मुसम्मात एल० एम० एस० उम्मू सलीमा **बनाम** बी० बी० गुजराल और एक अन्य (Mst. L. M. S. Ummu Saleema *Vs.* B. B. Gujaral & another); 16

[1981] [1981] 1 उम० नि० प० 556=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 849 : फ्रांसिस कोरेली मुल्लिन **बनाम** डब्ल्यू० सी० खाम्ब्रा और अन्य (Frances Coralie Mullin *Vs.* W. C. Khambra and others) 17

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का बंदी प्रत्यक्षीकरण पिटीशन सं० 8419.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री दया शंकर मिश्रा

प्रत्यर्थी की ओर से ... सरकारी उप-अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० पी० एस० गुप्ता ने दिया।

न्या० गुप्ता :

पिटीशनर हरपाल सिंह यादव ने 1983 के इस बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन सं० 8419 द्वारा संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन उत्तर प्रदेश राज्य द्वारा 30 अगस्त, 1982 को विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 (जिसे इसमें इसके पश्चात् काफेपोसा कहा गया है) की धारा 3(1) के अधीन पारित किए गए निरोध आदेश को चुनौती दी है।

2. राज्य सरकार ने 30 अगस्त, 1982 को पिटीशनर के विरुद्ध निरोध आदेश पारित किया था। चूंकि यह अभिकथन किया गया था कि पिटीशनर फरार था, इसलिए जब वह 18 अप्रैल, 1983 को सीमाशुल्क विभाग, गाजियाबाद के अधिकारियों द्वारा पकड़ कर वाराणसी केन्द्रीय जेल में रखा गया तो 19 अप्रैल, 1983 को उस पर निरोध आदेश की तामील की गई। उपरोक्त जेल में निरोध के आधारों की उसी दिन उस पर तामील की गई थी। उसने निरोध के विरोध में 29 अप्रैल, 1983 को अपना अभ्यावेदन दिया। उसके मामले को सलाहकार बोर्ड के सम्मुख रखा गया जिसने यह मत व्यक्त किया कि पिटीशनर के निरोध के लिए पर्याप्त कारण था और उसने 20 मई, 1983 को अपना मत राज्य सरकार को भेज दिया। राज्य सरकार ने 2 जून, 1983 को निरोध आदेश की पुष्टि कर दी।

3. इसके पश्चात् पिटीशनर ने 21 जून, 1983 को अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी के समक्ष काफेपोसा अधिनियम की धारा 11 के अधीन निरोध आदेश के प्रतिसंहरण के लिए अभ्यावेदन दिया। यह अभ्यावेदन राज्य सरकार ने 28 जून, 1983 को प्राप्त किया और उत्तर प्रदेश राज्य सरकार के मुख्य सचिव ने 14 जुलाई, 1983 को इसकी नामंजूरी के आदेश पारित करके इसको निपटा दिया।

4. यद्यपि निरोध आदेश को कई आधारों पर चुनौती दी गई है तथापि पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल, श्री दया शंकर मिश्र काउन्सेल ने इस आधार

पर अधिक बल दिया है कि पिटीशनर द्वारा 21 जून, 1983 को दिए गए अभ्यावेदन का राज्य सरकार ने अत्यधिक विलम्ब से निपटारा किया था जिससे निरोध अवैध हो गया है।

5. अपनी दलील को सिद्ध करने के लिए उसने उच्चतम न्यायालय और साथ ही इस न्यायालय के विभिन्न निर्णयों का अवलम्ब लिया है।

6. **श्रीमती खातून बेगम बनाम भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया है :—

> "निरुद्ध व्यक्ति का यह अधिकार कि वह 'शीघ्रातिशीघ्र अवसर पर' अपने अभ्यावेदन पर विचार करवाए और निरोध करने वाले प्राधिकारी को यह बाध्यता है कि वह 'शीघ्रातिशीघ्र अवसर पर' उसके अभ्यावेदन पर विचार करे, ऐसे अधिकार नहीं हैं और ऐसी बाध्यता नहीं है जो कि विदेशी मुद्रा संरक्षण और तस्करी निवारण अधिनियम, 1974 से या राष्ट्रीय सुरक्षा अधिनियम से है या उस कारण, किसी अन्य ऐसी संसदीय या राज्य विधि से जिनमें निवारक निरोध के लिए उपबंध किया गया हो, उत्पन्न हुए हैं। वे ऐसे अधिकार हैं और ऐसी बाध्यता है जो कि स्वयं संविधान में सृष्ट हैं, जिसने कि संसदीय या राज्य विधि को शक्ति प्रदान की है। अनुच्छेद 22(5) निरोध आदेश करने वाले प्राधिकारी पर यह कर्त्तव्य व्यादिष्ट करता है कि वह निरुद्ध व्यक्ति को 'उस आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र अवसर' दे। शीघ्रातिशीघ्र अवसर पर अभ्यावेदन पर विचार करने का अधिकार और बाध्यता ऐसी सांविधानिक अनिवार्यता है जिसमें कांट-छांट नहीं की जा सकती या जिसे न्यून नहीं किया जा सकता। यदि संसदीय या राज्य विधानमंडल, जो कि निवारक निरोध के लिए उपबंध करने वाली विधि बनाता है, अभ्यावेदन पर विचार करने की पेचीदा प्रक्रिया निर्धारित करता है या यदि अन्तर्विभागीय परामर्श सम्बन्धी प्रक्रियाएं ऐसी हैं जिनसे कि विलम्ब होना अवश्यम्भावी हो जाता है, तो ऐसी विधि और प्रक्रियाएं सांविधानिक आदेश का उल्लंघन करेंगी। यह आवश्यक है कि निवारक निरोध के लिए उपबंध करने वाली कोई विधि या निवारक निरोध के लिए आदेश करने के लिए बाध्य कोई प्राधिकारी ऐसी प्रक्रियाओं का अनुसरण करे जो कि

---

[1] [1982] 1 उम० नि० प० 673=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1077.

निरुद्ध व्यक्ति द्वारा किए गए अभ्यावेदनों पर शीघ्रता से विचार करने के लिए अभिप्रेत है। स्वाधीनता की मांग करने का यह कहना उत्तर नहीं होगा कि प्रशासनिक लालफीताशाही के कारण विलम्ब अवश्यम्भावी हो जाता है।"

7. माननीय न्यायाधीशों ने **हरीश पाहवा** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

"निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर अविलम्ब विचार किया जाना होता है। उच्चतम न्यायालय ऐसी दशा में जिसमें कि किसी व्यक्ति की दैहिक स्वाधीनता का सम्बन्ध हो, ऐसे विलम्बों के विषय में शान्त मन से दृष्टिपात नहीं करता। अन्य विभागों से टिप्पण मंगवाना, भिन्न-भिन्न सचिवों से राय लेना और अभ्यावेदन को उस पर विचार किए बिना रखे रखना, इस प्रकार की कार्यवाही नहीं है जिसके विषय में राज्य से यह प्रत्याशा की जाती है कि वह ऐसे महत्वपूर्ण आशय वाले विषय ले। इस बात पर जोर दिया जाता है कि राज्य का यह कर्त्तव्य है कि वह अत्यंत त्वरता सहित इस प्रकृति के अभ्यावेदनों का अवधारण करने के लिए तत्पर रहे जिससे यह अभिप्रेत है कि मामले को शीघ्रातिशीघ्र विचारार्थ ग्रहण कर लिया जाए। जैसे ही अभ्यावेदन प्राप्त होता है मामले और उस पर निरन्तर विचार किया जाता रहे (जब तक कि उसके सम्बन्ध में किसी सहायता की प्रतीक्षा सर्वथा आवश्यक न हो) जब तक कि अन्तिम विनिश्चय नहीं ले लिया जाता और यह विनिश्चय निरुद्ध व्यक्ति को संसूचित नहीं कर दिया जाता। चूंकि प्रस्तुत मामले में, ऐसा नहीं किया गया है, इसलिए यही अनुकल्प रह जाता है कि निरोध को असांविधानिक घोषित कर दिया जाए।"

8. **विजय कुमार** बनाम **जम्मू-कश्मीर राज्य और अन्य**[2] वाले मामले में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया गया था :—

"जिस समय बिना विचारण किए अवरोध की शक्ति का प्रयोग किया जाता है, उस समय उस शक्ति का प्रयोग करने वाले प्राधिकारी को निरुद्ध व्यक्ति को यह अवसर उपलभ्य कराना चाहिए जिससे वह सरकार, निरोध प्राधिकारी को यह समझा सके कि उस शक्ति का

---

[1] [1982] 1 उम० नि० प० 913=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1126

[2] [1983] 1 उम० नि० प० 528=ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 1023.

प्रयोग न्यायोचित तरीके से नहीं किया गया था या ऐसी शक्ति का प्रयोग करने के लिए कोई अवसर ही नहीं था। किसी दण्डात्मक निरोध के मामले में जो किसी ऐसे विचारण के परिणामस्वरूप दिया जाता है जिसमें दोषसिद्ध व्यक्ति भाग लेता है और जिसे अपना पक्ष प्रस्तुत करने का पूरा अवसर रहता है, जबकि निवारक निरोध के अंतर्गत सामान्यतः सन्देह पर आधारित अधिकारिता का क्षेत्र आता है और उसे अपनी स्वतंत्रता से वंचित किए जाने से पूर्व अपने मामले का स्पष्टीकरण करने का अवसर नहीं उपलभ्य कराया जाता। इसीलिए जैसे ही निरुद्ध व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित किया जाता है, कानून द्वारा सम्बद्ध प्राधिकारियों पर यह बाध्यता अधिरोपित कर दी गई है कि वह उसे अपने मामले का पक्ष प्रस्तुत करने का शीघ्रातिशीघ्र अवसर उपलभ्य कराए और इसके साथ ही सम्बद्ध प्राधिकारी पर भी यह बाध्यता हो जाती है कि वह उस पर विचार करे। 'शीघ्रातिशीघ्र' शब्द जो अवसर को विशेषित करता है, उसे अभ्यावेदन पर विचार करने के राज्य के भी समरूप बाध्यता पर उसी प्रकार लागू होना चाहिए अर्थात् जैसे ही अभ्यावेदन किया जाए उस पर यथासम्भव तत्परतापूर्वक कार्यवाही की जाए। इस धारा द्वारा जिस अवसर के उपलब्ध कराए जाने की बात अनुध्यात है वह निरोध आदेश के विरुद्ध सरकार को अभ्यावेदन करने का अवसर है और इसलिए जैसे ही किसी व्यक्ति को उसकी व्यक्तिगत स्वतंत्रता से वंचित किया जाता है, उसे उसी समय अभ्यावेदन करने का अवसर उपलब्ध किया जाना चाहिए। यदि इस निमित्त कोई लापरवाही दिखाई जाती है और उसके लिए समुचित स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता तो इसका तात्पर्य होगा कि कानून द्वारा दी गई सुरक्षा से इनकार किया जा रहा है और इसका परिणाम यह होगा कि आदेश अवैध हो जाएगा।"

9. **ताराचंद** बनाम **राजस्थान राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि काफेपोसा अधिनियम की धारा 11(1) में स्पष्टतः यह उपबन्धित है कि राज्य सरकार द्वारा पारित किसी आदेश को केन्द्रीय सरकार प्रतिसंहृत या उपान्तरित कर सकती है। श्री अब्दुल कादिर ने यह बात मान ली है कि केन्द्रीय सरकार को काफेपोसा अधिनियम की धारा 11 के अधीन निरोध-आदेश के प्रतिसंहरण का विवेकाधिकार है। इस प्रकार

[1] ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 1361.

जब एक बार केन्द्रीय सरकार को अभ्यावेदन दिया जाता है तो उसका यह कर्त्तव्य हो जाता है कि वह उसे नामंजूर करने या स्वीकार करने में अपने अधिकार का प्रयोग करे। यदि अभ्यावेदन पर विचार करने में अत्यधिक विलम्ब हो जाता है तो इसका स्पष्ट तात्पर्य अनुच्छेद 22(5) के उपबन्धों का अतिक्रमण है और इससे निरोध असंवैधानिक और शून्य हो जाएगा।

10. पिटीशनर के विद्वान काउंसेल का यह कहना है कि इस मामले में पिटीशनर ने अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी को 21 जून, 1983 को अपना अभ्यावेदन दिया था और प्रत्यर्थियों के अनुसार यह राज्य सरकार द्वारा 28 जून, 1983 को प्राप्त किया गया था। इस पर एक विस्तृत टिप्पण 2 जुलाई, 1983 को लिखा गया था और इसके पश्चात् यह उत्तर प्रदेश राज्य के मुख्य सचिव द्वारा 14 जुलाई, 1983 को नामजूर कर दिया गया था। पिटीशनर के विद्वान काउंसेल की यह दलील है कि न केवल 21 जून, 1983 और 28 जून, 1983 के बीच में बल्कि 28 जून, 1983 से 2 जुलाई, 1983 और 2 जुलाई, 1983 से 14 जुलाई, 1983 तक के विलम्ब के बारे में कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है। उसकी यह भी दलील है कि इस अभ्यावेदन के निपटारे में हुए इस अत्यधिक विलम्ब के लिए प्रत्यर्थियों द्वारा कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया गया है।

11. उत्तर प्रदेश सचिवालय, लखनऊ के गोपनीय अनुभाग 5, के उच्च श्रेणी सहायक, श्री राम सूरत सिंह द्वारा फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र के पैरा 25 में विलम्ब के संबंध में निम्नलिखित स्पष्टीकरण दिया गया है :—

> "....यह कहा गया है कि 21 जून, 1983 वाला अभ्यावेदन 28 जून, 1983 को सरकार को प्राप्त हुआ था। उक्त अभ्यावेदन पर कार्यालय में एक विस्तृत टिप्पण 2 जुलाई, 1983 को लिखा गया। यहां यह उल्लेख करना सुसंगत होगा कि अभिकथित अभ्यावेदन में, यद्यपि विधितः इस अभ्यावेदन को स्वीकार करना सम्भव नहीं है, पिटीशनर ने कुछ दस्तावेजों की मांग की थी। अनुभाग ने इन दस्तावेजों के संबंध में एक टिप्पण प्रस्तुत किया। संयुक्त सचिव, (गृह), सरकारी काम के सिलसिले में 4 जुलाई, 1983 को आरम्भ होने वाले सप्ताह में दिल्ली गए हुए थे और 9 और 10 जुलाई को छुट्टी थी। उसने दिल्ली से वापस आकर केवल 14 जुलाई, 1983 को इस अभ्यावेदन पर कार्रवाई की। संयुक्त सचिव द्वारा उक्त अभ्यावेदन की जांच करने के पश्चात उसी दिन गृह सचिव ने भी

उसकी जांच की। जो कि नियमाधीन अन्ततः उत्तर प्रदेश सरकार के मुख्य सचिव द्वारा नामंजूर कर दिया गया क्योंकि मुख्य मंत्री लखनऊ में उपलब्ध नहीं थे और नियमों के अनुसार अगर मुख्य मंत्री शहर में उपस्थित न हों तो मुख्य सचिव अभ्यावेदन को नामंजूर करने के लिए सक्षम है। अभ्यावेदन के नामंजूर किए जाने की सूचना निरुद्ध व्यक्ति को अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी की मार्फत 16 जुलाई, 1983 को सूचित की गई और पिटीशनर ने उक्त संसूचना पर 25 जुलाई, 1983 को हस्ताक्षर किए हैं।"

12. इस प्रकार प्रत्यर्थियों द्वारा दिया गया स्पष्टीकरण यह है कि अभ्यावेदन को वाराणसी से लखनऊ पहुंचने में 7 दिन लग गए। कार्यालय द्वारा टिप्पण प्रस्तुत करने में और चार दिन लग गए और इसके पश्चात् 12 दिनों के पश्चात् अभ्यावेदन का निपटारा किया गया क्योंकि संयुक्त सचिव, गृह विभाग के पास अभ्यावेदन पर विचार करने और जांच करने के लिए समय नहीं था।

13. इस बारे में कोई ऐसा कठोर नियम नहीं कि कितने दिनों के अन्दर अभ्यावेदन का निपटारा किया जाना चाहिए। किन्तु अभ्यावेदन का निपटारा करने में लगे समय के लिए युक्तियुक्त स्पष्टीकरण दिया जाना चाहिए। यदि अभ्यावेदन का निपटारा करने के लिए हुए विलम्ब के लिए युक्तियुक्त और विधिमान्य स्पष्टीकरण दिया जाता है तो यह नहीं कहा जा सकता कि निरुद्ध व्यक्ति का निरोध असंवैधानिक और अविधिमान्य है। दूसरी ओर अगर विलम्ब ऐसा है जिसके लिए युक्तियुक्त और स्वीकार्य स्पष्टीकरण नहीं दिए गए हैं तो ऐसा विलम्ब निरोध के लिए घातक होगा।

14. विद्वान सरकारी अपर अधिवक्ता, श्री गिरधर मालवीय ने कुछ ऐसे मामलों को उद्धृत किया है जिनमें उसके कथनानुसार अभ्यावेदन के निपटारे में विलम्ब होने के बावजूद भी निरोध को असंवैधानिक या अविधिमान्य अभिनिर्धारित नहीं किया गया था। इस संबंध में उसने कुछ मामलों का अवलम्ब लिया है, जिनके तथ्यों तथा परिस्थितियों की संवीक्षा की आवश्यकता है।

15. **सतपाल बनाम पंजाब राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में पिटीशनर ने राज्य सरकार को अपना अभ्यावेदन दिया जिसे उसने 2 मास और

---

[1] [1982] 3 उम० नि० प० 621=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 2230.

15 दिन के विलम्ब के पश्चात् केन्द्रीय सरकार को भेज दिया परन्तु केन्द्रीय सरकार ने चार दिन के अन्दर इसका निपटारा कर दिया। राज्य के विद्वान काउंसेल ने यह दलील दी कि राज्य सरकार की ओर से ढाई माह के विलम्ब के बावजूद भी उच्चतम न्यायालय ने निरोध को बनाए रखा। यह सत्य है कि राज्य सरकार द्वारा अभ्यावेदन के भेजे जाने में हुए विलम्ब को अनदेखा कर दिया गया था परन्तु यह इस तथ्य के कारण किया गया था क्योंकि केन्द्रीय सरकार ने अभ्यावेदन पर अत्यधिक तत्परता के साथ कार्यवाही की थी और इसलिए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि राज्य सरकार द्वारा अस्पष्टीकृत विलम्ब निरोध आदेश को अभिखंडित करने के लिए पर्याप्त नहीं है। राज्य सरकार ने अभ्यावेदन पर अविलम्ब विचार किया और उसका निपटारा किया केन्द्रीय सरकार ने भी अभ्यावेदन पर तत्परता से विचार किया और इसका निपटारा किया। इसलिए राज्य सरकार द्वारा अस्पष्टीकृत विलम्ब से केन्द्रीय सरकार को अभ्यावेदन का भेजा जाना निरोध के आदेश के अविधिमान्यकरण के लिए पर्याप्त अभिनिर्धारित नहीं किया गया। इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया :—

> "न्यायालय को विषय के सार पर विचार करना आवश्यक है और मात्र तकनीकी बातों पर कार्यवाही नहीं करनी चाहिए। इसलिए निरोध को केवल तकनीकी आधार पर अविधिमान्य नहीं किया जाना चाहिए बल्कि मामले के सार का विश्लेषण करके यह पता लगाया जाए कि क्या विलम्ब का कारण न बताने से निरोध अविधिमान्य हो गया है।"

16. **मुसम्मात एल० एम० एस० उम्मू सलीमा बनाम बी० बी० गुजराल और एक अन्य**[1] वाले मामले में धारा 3(1) के अधीन किए गए निरोध में निरुद्ध किए गए व्यक्ति का अभ्यावेदन 5 फरवरी, 1981 को भेजा गया था और निरोध प्राधिकारी के कार्यालय में 13 फरवरी, 1981 को प्राप्त हुआ था। यह निरोध प्राधिकारी के सम्मुख 19 फरवरी, 1981 को प्रस्तुत किया गया और उसी दिन उसका निपटारा कर दिया गया। स्वयं निरोध प्राधिकारी 13 से 16 तारीख तक उपलब्ध नहीं था क्योंकि वह विदेश गया हुआ था। वह 16 तारीख को वापस आया और उसने 19 तारीख को मामले पर विचार किया और इसका विनिश्चय किया। निरोध प्राधिकारी उपलब्ध नहीं था क्योंकि वह भारतवर्ष से बाहर गया हुआ था और उसने अपनी वापिसी

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1191.

से 3 दिन के अन्दर मामले का निपटारा कर दिया था। इसीलिए यह अभिनिर्धारित किया गया था कि निरोध प्राधिकारी द्वारा अभ्यावेदन के निपटारे में हुआ विलम्ब गैर जिम्मेदाराना या बिना किसी कारण के नहीं था।

17. **फ्रांसिस कोरेली मुल्लिन** बनाम **डब्ल्यू० सी० खाम्ब्रा और अन्य**[1] वाले मामले में निम्नानुसार अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "निवारक निरोध के मामलों में न्यायालय की भूमिका यह है कि उसे निरन्तर सतर्क रहना होता है। दैहिक स्वाधीनता से बढ़कर कोई स्वाधीनता नहीं है और उसे अक्षुण्ण बनाए रखने से बढ़कर कोई कर्त्तव्य नहीं है। न्यायालय का रिट अवैध निरोध के खिलाफ अन्तिम आश्वासन है। संविधान अनुच्छेद 22 के उपबन्धों का पालन करना व्यादिष्ट करता है और न्यायालय उसका अनुपालन सुनिश्चित करता है। अनुच्छेद 22(5) बन्दी को यह अधिकार देता है कि उसे अभ्यावेदन करने का अवसर दिया जाए। वास्तविकता यह है कि बन्दी का और अभ्यावेदन करने के उसके अधिकार की सबसे बड़ी शत्रु न तो ज्यादती है और न ही नीचता, अपितु आकस्मिक उदासीनता, मूढ़ असंवेदनशीलता, रोजमर्रा का ढर्रा और नौकरशाही की लालफीताशाही है। न्यायालय द्वारा प्रतिपादित सिद्धांतों एवं अन्य मामलों में प्रतिपादित अन्य सिद्धांतों का उद्देश्य उदासीनता, असंवेदनशीलता, ढर्रे और लालफीताशाही से दैहिक स्वाधीनता को बचाना, और इस प्रकार बन्दी को कारगर अभ्यावेदन करने का अधिकार दिलवाना है।
>
> तत्परता हर प्रक्रम पर अनिवार्य है। किन्तु हम साथ ही यह भी कहना चाहेंगे कि समय सम्बन्धी आज्ञापक आदेश कभी पूर्ण या आवेशपूर्ण नहीं हो सकता। मामले की आवश्यकताओं को देखते हुए उसी के अनुसार विचलन करना पड़ता है किन्तु प्रमादपूर्ण उदासीनता क्षम्य नहीं है। अनावश्यक विलम्ब क्षमा नहीं किया जा सकता। किन्तु जहां विधि सम्बन्धी बारीकियां और तथ्य सम्बन्धी बातें अन्तर्ग्रस्त हैं, वहां निश्चय ही आवश्यक परामर्श अनुज्ञात किया जाना चाहिए। समय सम्बन्धी आज्ञापक आदेश से किंचित विचलन की आवश्यकता स्पष्टीकरण देने का भार निरोध प्राधिकारी पर है।"

18. वर्तमान मामले में दिल्ली संघ राज्य क्षेत्र के प्रशासक को

---

[1] [1981] 1 उम० नि० प० 556=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 849

अभ्यावेदन भेजा गया था। दिल्ली प्रशासन के गृह विभाग ने उसे सीमा-शुल्क प्राधिकारियों को इसकी जांच के लिए तथा कानूनी मुद्दों पर उनकी सलाह प्राप्त करने के लिए भेजा। यह अभिनिर्धारित किया गया कि इन परिस्थितियों में यदि कोई विलम्ब हुआ है तो वह लापरवाही के कारण नहीं बल्कि इसलिए हुआ था क्योंकि अभ्यावेदन की पूरी तरह से जांच तथ्यों का अन्वेषण करने वालों द्वारा किए जाने की और कानूनी सलाह की आवश्यकता थी।

19. **फितरत रजा खां** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय का यह समाधान हो गया था कि 8 अगस्त, 1981 को किए गए अभ्यावेदन, जिसका विनिश्चय 24 अगस्त, 1981 को किया गया था, पर विचार करने में राज्य सरकार की ओर से ऐसा कोई विलम्ब नहीं था, जिसका कारण न बताया गया हो। इस मामले में अधीक्षक, केन्द्रीय जेल को अभ्यावेदन वास्तव में 10 अगस्त, 1981 को दे दिया गया था। उसने इसे उसी दिन जिला मजिस्ट्रेट को भेज दिया और जिला मजिस्ट्रेट ने अपनी टिप्पणी के साथ उसे गृह सचिव को 13 अगस्त, 1981 को भेज दिया। गृह विभाग को यह अगले दिन प्राप्त हुआ। 15 अगस्त, 1981 को स्वतन्त्रता दिवस होने के कारण और 16 अगस्त, 1981 को रविवार होने के कारण इस पर कार्रवाई नहीं की गई। 17 और 19 अगस्त के बीच तीन दिन तक सचिवालय में अभ्यावेदन की संवीक्षा की गई और मिसिल पर टिप्पणी लिखी गई। 19 अगस्त, 1981 को गृह विभाग के संयुक्त सचिव ने मिसिल का परिशीलन किया और 20 अगस्त, 1981 को विधि विभाग से परामर्श किया गया। गृह सचिव के सम्मुख 21 अगस्त, 1981 को मिसिल प्रस्तुत की गई और उसने इसे मुख्य मंत्री के सम्मुख प्रस्तुत किया। उसने मिसिल के अध्ययन में दो दिन लगाए तथा अन्ततः 24 अगस्त, 1981 को उसने अभ्यावेदन की नामंजूरी के आदेश पारित किए। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि लगभग सभी दिनों के लिए युक्तियुक्त स्पष्टीकरण दिया गया है। इसलिए उच्चतम न्यायालय ने स्पष्टीकरण को स्वीकार करते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि मामले में कोई अस्पष्टीकृत विलम्ब नहीं था।

20. **सुरेश भोजराच चेलानी** बनाम **महाराष्ट्र राज्य** और **नारायण टी० मीरचंदानी** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] वाले मामले में पिटीशनरों द्वारा दिए गए अभ्यावेदनों पर विचार करने में 15 दिन का विलम्ब हो गया था परन्तु

---

[1] ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 146.
[2] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 181.

न्यायालय में दिए गए शपथपत्र में विम्लब के कारण दिए गए थे। 4 मई, 1982 का अभ्यावेदन वित्त मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली में 14 मई, 1982 को प्राप्त हुआ था। उसे केन्द्रीय सरकार के सम्मुख प्रस्तुत किया गया जिसने उस पर विचार किया और 20 मई, 1982 को उसे नामंजूर कर दिया और उसी दिन निरुद्ध व्यक्ति को भी विनिश्चय के बारे में संसूचित कर दिया गया था। उच्चतम न्यायालय ने विलम्ब के लिए शपथपत्र में बताए गए कारणों को स्वीकार कर लिया और निरोध को बनाए रखा।

21. अवध कुमार बनाम **अधीक्षक, केन्द्रीय कारागार, नैनी**[1] वाले मामले में निम्नानुसार मत व्यक्त किया गया है :—

"जहां पर निरुद्ध व्यक्ति यह दावा करता है कि उसके द्वारा दिए गए अभ्यावेदन पर कार्रवाई करते समय सम्बद्ध सरकार ने लापरवाही से कार्य किया है या उसका विनिश्चय करने में अत्यधिक विलम्ब किया है तो सम्बद्ध सरकार का यह कर्त्तव्य है कि वह न्यायालय के समाधान के लिए उसके सम्मुख सामग्री पेश करे कि मामले के तमाम तथ्यों को ध्यान में रखते हुए निरुद्ध व्यक्ति द्वारा दिए गए अभ्यावेदन पर अविलम्ब कार्रवाई की गई थी और उसने लापरवाही से कार्य नहीं किया था। न्यायालय सरकार द्वारा दिए गए स्पष्टीकरण पर विचार करते समय इस बात को मस्तिष्क में अवश्य रखेगा कि उसके सम्मुख किसी नागरिक की स्वतन्त्रता का प्रश्न अंतर्वलित है। जब स्पष्ट रूप से यह पता चले कि सम्बद्ध सरकार ने अभ्यावेदन को निपटाने में बहुत दिन ले लिए हैं और उसने किसी प्रकार का कारण देना आवश्यक नहीं समझा। तो यह कहा जा सकता है कि विलम्ब उसकी अकर्मण्यता और उदासीनता के कारण हुआ है। यदि केन्द्रीय सरकार निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर और सूचना प्राप्त करने के लिए जो वह निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर विचार करने के लिए सुसंगत समझे, राज्य सरकार को लिखती है तो इसमें किसी प्रकार का कोई आक्षेप नहीं है। मामले की परिस्थितियों में न तो यह कहा जा सकता है कि पिटीशनर के अभ्यावेदन पर लापरवाही से कार्यवाही की गई है जिसके परिणामस्वरूप अत्यधिक विलम्ब हो गया है और न ही यह कहा जा सकता है कि युक्तियुक्त रूप से इसका निपटारा शीघ्रता से नहीं

---

[1] 1983 ए० एल० जे० 545.

किया गया है। तदनुसार यह अवश्य ही अभिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि पिटीशनर के अभ्यावेदन का निपटारा करने में केन्द्रीय सरकार द्वारा हुए विलम्ब के कारण निरुद्ध व्यक्ति का निरोध अविधिमान्य नहीं हो जाता।"

22. वर्तमान मामले में केन्द्रीय सरकार ने अभ्यावेदन प्राप्त होने पर इस पर कार्रवाई करने के लिए राज्य सरकार से कुछ जानकारी प्राप्त करना आवश्यक समझा और अंततोगत्वा वह जानकारी राज्य सरकार द्वारा बेतार संदेश से प्राप्त हुई। इसके प्राप्त होने के पश्चात् केन्द्रीय सरकार ने 6 दिन के भीतर अभ्यावेदन का निपटारा कर दिया। मामले की इन परिस्थितियों में यह अभिनिर्धारित किया गया कि अभ्यावेदन के निपटारे में अत्यधिक विलम्ब नहीं हुआ था।

23. इस संबंध में पिटीशनर के विद्वान काउंसेल श्री डी० एस० मिश्रा ने **श्रीमती इच्छूदेवी चौरड़िया** बनाम **भारत संघ और अन्य**[1] वाले मामले का भी अवलम्ब लिया है। उसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "अनुच्छेद 22 के खण्ड (5) के उचित अर्थान्वयन के आधार पर निरोध प्राधिकारी की यह सांविधानिक बाध्यता होती है कि वह निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन पर यथासम्भव शीघ्र विचार करे और यदि ऐसे अभ्यावेदन पर विचार करने में कोई अनुचित विलम्ब हुआ हो तो उसका प्रभाव निरुद्ध व्यक्ति के निरोध को अविधिमान्य करने का होगा। निरुद्ध व्यक्ति को तारीख 9 जून, 1980 वाला अभ्यावेदन उप सचिव ने 14 जून, 1980 को प्राप्त किया था जबकि तारीख 26 जून, 1980 वाला अभ्यावेदन 30 जून, 1980 को प्राप्त कर लिया गया था। फिर भी इन अभ्यावेदनों पर 14 जुलाई, 1980 तक कोई विनिश्चय नहीं किया गया था।

24. यह अभिनिर्धारित किया गया था कि निरोध का आदेश करने वाला प्राधिकारी निरुद्ध व्यक्ति के दोनों अभ्यावेदनों पर विचार करने में अनुचित विलम्ब का दोषी था। यह निरुद्ध व्यक्ति के निरोध को अविधिमान्य घोषित करने के लिए पर्याप्त था।

25. इसलिए वर्तमान मामले में हमें यह देखना है कि क्या अभ्यावेदन

---

[1] [1981] 3 उम० नि० प० 803=ए० ग्राई० ग्रार० 1980 एस० सी० 1983.

के निपटारे में राज्य सरकार द्वारा अस्पष्टीकृत अत्यधिक विलम्ब हुआ है जिससे निरोध आदेश दूषित हो गया है।

26. इस मुद्दे पर हमने न केवल दोनों पक्षकारों के विद्वान काउंसेलों को सुना है और प्रतिशपथपत्र में दिए गए स्पष्टीकरण का परिशीलन किया है बल्कि हमारे कहने पर राज्य सरकार के विद्वान सरकारी अपर अधिवक्ता द्वारा हमारे समक्ष पेश की गई राज्य सरकार की मूल मिसिल भी देखी है।

27. निरुद्ध व्यक्ति ने 21 जून, 1983 को अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी को अपना अभ्यावेदन दिया और उसने उसी दिन ही उस पर प्राप्त होने का पृष्ठांकन किया। अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी ने "प्रेषित किया" टिप्पण उसी दिन किया। 28 जून, 1983 को यह अभ्यावेदन राज्य सरकार को प्राप्त हुआ। प्रतिशपथ-पत्र में इस बात का उल्लेख नहीं किया गया है कि अधीक्षक, केन्द्रीय जेल, वाराणसी ने किस माध्यम से इसे राज्य सरकार को भेजा था। कागजात से भी इस बात का पता नहीं चलता है कि यह डाक द्वारा या विशेष संदेशवाहक द्वारा भेजा गया था। इस प्रकार अभिवहन में छह दिन तक रहने का विलम्ब अस्पष्टीकृत रह गया है। यह प्रत्यर्थियों का कर्त्तव्य था कि वे इस विलम्ब के लिए स्पष्टीकरण देते। अगर इसे डाक द्वारा भेजा गया था तो इस बात का उल्लेख स्पष्ट रूप से किया जाना था कि अभ्यावेदन डाक से भेजा गया था और डाक-सेवा में किसी गड़बड़ी के कारण यह विलम्ब से पहुंचा था।

28. **विजय कुमार** बनाम **जम्मू-कश्मीर राज्य और अन्य**[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया था :—

> "अभ्यावेदन पर विचार करने की राज्य की समरूप बाध्यता को केवल इस आधार पर ही कम नहीं किया जा सकता कि सम्प्रेषण में बहुत समय बर्बाद हो गया है। यदि सरकार इस आधार पर ऐसी कोई विधि अधिनियमित करती है जिसमें कतिपय प्राधिकारियों को निरोध आदेश देने की शक्ति दी जाती है और साथ ही साथ निरुद्ध व्यक्ति को निरोध के विरुद्ध सरकार को न कि निरोध प्राधिकारी को अभ्यावेदन करने के लिए शीघ्रातिशीघ्र अवसर उपलब्ध कराने के लिए कानूनी उपबंध भी करती है, वहां यह आवश्यक है कि सरकार इस बात की व्यवस्था करे जिससे कि ऐसे मामलों में अभ्यावेदन यथासंभव

[1] [1983] 1 उम० नि० प० 528=ए० आई० आर० 1982 एस० सी 1023.

शीघ्र सरकार के पास पहुंच सके और प्राधिकारीगण उस पर उसी तत्परता से विचार करें। यदि इस निमित्त कोई लापरवाही दिखाई जाती है और उसके लिए समुचित स्पष्टीकरण नहीं दिया जाता तो इसका तात्पर्य होगा कि कानून द्वारा दी गई सुरक्षा से इनकार किया जा रहा है और उसका परिणाम यह होगा कि आदेश अवैध हो जाएगा।"

29. इस प्रकार राज्य सरकार का कर्त्तव्य था कि वह सुस्पष्ट शब्दों में अभ्यावेदन को भेजने के माध्यम का उल्लेख करती और यह भी बताती कि वाराणसी से लखनऊ पहुंचने में कैसे 6 दिन लग गए। प्रतिशपथ-पत्र में यह बात कही गई है कि अभ्यावेदन पर एक विस्तृत टिप्पण 2 जुलाई, 1983 को प्रस्तुत किया गया था। इस प्रकार कार्यालय ने टिप्पण प्रस्तुत करने में पूरे चार दिन लिए। अगर इस विलम्ब पर ध्यान न दिया जाए तो भी सम्बद्ध प्राधिकारी ने इसके निपटारे में और 12 दिन लगा दिए। इसके लिए यह कारण बताया गया कि गृह विभाग के संयुक्त सचिव, 4 जुलाई को आरम्भ होने वाले सप्ताह में सरकारी काम से नई दिल्ली गए हुए थे। यह भी बताया गया कि 9 और 10 जुलाई को अवकाश था। इस बारे में कोई कारण नहीं बताया गया कि उसने 11 से 13 जुलाई तक अभ्यावेदन पर कोई कार्रवाई क्यों नहीं की। अगर नई दिल्ली में होने के कारण संयुक्त सचिव 4 से 10 जुलाई तक अभ्यावेदन पर कार्रवाई नहीं कर सका तो उसे वापस आने पर उस पर तुरंत कार्रवाई करनी चाहिए थी। जैसा कि बताया गया युक्तियुक्त कारण बताना तो दूर 11 से 13 जुलाई तक अभ्यावेदन पर कार्रवाई न किए जाने का कोई कारण नहीं दिया गया है। अगर यह मान भी लिया जाए कि संयुक्त सचिव के अतिरिक्त कोई और अधिकारी अभ्यावेदन पर कार्रवाई नहीं कर सकता था तो भी प्रत्यर्थी संयुक्त सचिव के वापस आने के पश्चात् भी अभ्यावेदन के निपटारे में हुए विलम्ब के लिए युक्तियुक्त और स्वीकार्य कारण बताने में असफल रहे हैं। इसलिए प्रथमदृष्टया पिटीशनर के अभ्यावेदन के निपटारे में हुए अत्यधिक विलम्ब के संबंध में कोई कारण नहीं दिया गया है। निरुद्ध व्यक्ति के अभ्यावेदन को सरकार की लालफीताशाही का शिकार नहीं होना चाहिए था। इनसे यह स्पष्ट हो जाता है कि इस अत्यधिक विलम्ब का कोई कारण नहीं दिया गया है और कोई युक्तियुक्त विश्वसनीय औचित्य भी प्रतीत नहीं होता है। यह विलम्ब ही निरोध को अविधिमान्य और असंवैधानिक बना देता है।

30. विद्वान अपर सरकारी अधिवक्ता ने यह बात भी कही है कि निरुद्ध व्यक्ति का दूसरा अभ्यावेदन इतना महत्वपूर्ण नहीं है जितना कि पहला। राज्य के विद्वान काउंसेल की यह दलील है क्योंकि प्रथम अभ्यावेदन का अविलम्ब निपटारा संविधान के अनुच्छेद 22(5) में अनुध्यात आवश्यकता है। और काफेपोसा अधिनियम की धारा 11 के अधीन दूसरा अभ्यावेदन केवल कानूनी बाध्यता है। इसलिए उन्हें एक जैसा महत्व नहीं दिया जा सकता और दूसरे अभ्यावेदन के निपटारे में हुए विलम्ब के कारण निरोध असंवैधानिक नहीं हो जाएगा। यही मुद्दा 1983 की बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन सं० 5980 (**मुहम्मद आलम** बनाम **अधीक्षक, जिला जेल मुरादाबाद और अन्य**[1]) में भी, जिसका विनिश्चय 17 अगस्त, 1983 को किया गया था, उठाया गया था। मामले के विभिन्न पहलुओं पर विचार करने के पश्चात् इस न्यायालय की खण्डपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि पहले अभ्यावेदन के समान ही दूसरे अभ्यावेदन को भी शीघ्रता से विनिश्चित किया जाना चाहिए।

31. 1983 की बन्दी प्रत्यक्षीकरण रिट पिटीशन संख्या 2818 में, (**मोहम्मद शमी** बनाम **अधीक्षक, जिला जेल, मुरादाबाद और अन्य**[2]) जिसका विनिश्चय 5 अप्रैल, 1983 को किया गया था, इस न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने निरुद्ध व्यक्ति के चौथे अभ्यावेदन का शीघ्रता से विनिश्चय न किए जाने के कारण निरोध आदेश को अभिखण्डित कर दिया था।

32. मामले पर सावधानी से विचार करने के पश्चात् हमारा यह मत है कि काफेपोसा अधिनियम की धारा 11 के अधीन दिया गया अभ्यावेदन भी उतनी ही शीघ्रता से निपटाया जाना चाहिए जितना कि पहला अभ्यावेदन। चूंकि पिटीशनर के द्वितीय अभ्यावेदन का निपटारा बिना कारण के और अयुक्तियुक्त विलम्ब से किया गया है इसलिए पिटीशनर का निरोध अवैध हो जाता है।

33. चूंकि हम केवल इसी आधार पर पिटीशन मंजूर कर रहे हैं इसलिए उन दूसरे आधारों पर, जिन पर पिटीशनर ने निरोध को चुनौती दी है, विचार करना अनावश्यक है।

---

1 1983 का रिट पिटीशन सं० 5980 जिसका विनिश्चय 17 अगस्त, 1983 को किया गया था।

2 1983 का रिट पिटीशन सं० 2818 जिसका विनिश्चय 5 अप्रैल, 1983 को किया गया था।

34. ऊपर बताए गए कारणों से पिटीशन सफल होता है और मंजूर किया जाता है। पिटीशनर का प्रश्नगत निरोध असंवैधानिक और अविधिमान्य अभिनिर्धारित किया जाता है और इसलिए अभिखण्डित किया जाता है। अगर पिटीशनर की किसी अन्य मामले में आवश्यकता नहीं है तो प्रत्यर्थियों को यह निदेश दिया जाता है कि वे पिटीशनर को तुरंत रिहा कर दें।

पिटीशन मंजूर किया गया।

खन्ना/चन्द

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—117

श्रीमती राम प्यारी बनाम धर्म दास

(Smt. Ram Pyari *Vs.* Dharam Das)

तारीख 28 सितम्बर, 1983

[न्या० के० सी० अग्रवाल और ओ० पी० सक्सेना]

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—धारा 5 के खण्ड (1) सपठित धारा 11—उक्त धारा 11 के साथ पठित धारा 5(1) के उपबन्धों के उल्लंघन में किए गए शून्य विवाह की विधिमान्यता के बारे में विवाह के वर और वधु में से किसी की मृत्यु के पश्चात् भी किसी तृतीय व्यथित पक्षकार के अनुरोध पर विचार किया जा सकेगा।

इस अपील में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या धारा 11 के साथ पठित धारा 5(1) के उपबन्धों के उल्लंघन में किए गए शून्य विवाह की विधिमान्यता के बारे में विवाह के वर और वधु में से किसी एक की मृत्यु के पश्चात् किसी तृतीय व्यथित पक्षकार के अनुरोध पर विचार किया जा सकता है ?

अभिनिर्धारित—निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

इसके बारे में कोई संदेह नहीं है कि "उससे सम्बद्ध पक्षकारों में से कोई पक्षकार" वाक्यांश से केवल वह व्यक्ति अभिप्रेत हो सकता है। अर्थात् विवाह के वास्तविक पक्षकार और कोई, अन्य व्यक्ति नहीं। इस धारा की भाषा के अनुसार प्रथम पत्नी द्वारा भी धारा 11 के अधीन द्वितीय विवाह को शून्य घोषित कराने के लिए आवेदन नहीं दिया जा सकता किन्तु धारा 11 में या

हिन्दू विवाह अधिनियम के किन्हीं उपबन्धों में ऐसा कुछ नहीं है जो धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उल्लंघन में निष्पादित विवाह से प्रभावित किसी व्यक्ति को किसी सिविल न्यायालय में वाद फाइल करने के लिए और उसको शून्य घोषित करने के लिए वाद हेतु अपवर्जित करता हो। अधिकारिता के अपवर्जन की एक उपधारणा है और इससे आसानी से ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता। सिविल प्रकृति के वाद को लाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अंतर्निहित अधिकार है और जब तक वाद कानून द्वारा वर्जित न हो कोई भी व्यक्ति अपनी जोखिम पर अपनी इच्छानुसार वाद चला सकता है। इसको चलाए जाने के लिए वाद विधि में किसी प्राधिकार की अपेक्षा नहीं है। यह पर्याप्त है कि वाद को कोई कानून अपवर्जित नहीं करता है। तद्नुसार न केवल प्रथम पत्नी बल्कि कोई भी हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उल्लंघन में किए गए विवाह से प्रभावित व्यक्ति सिविल वाद लाने का हकदार होगा। शून्य और शून्यकरणीय विवाह के बीच अंतर को निर्देशित करना सुसंगत प्रतीत होता है। न्यायालय ने ऊपर यह उल्लेख किया है कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 12 उन मामलों से सम्बद्ध है जहां पर विवाह के पक्षकारों में से किसी पक्षकार के विकल्प पर विवाह शून्य होता है। इसका उद्देश्य यह अधिकथित करना है कि जब तक उसको रोका न जाए शून्यकरणीय विवाह को सभी प्रयोजनों के लिए माना जाता है। इसमें उन परिस्थितियों को भी अधिकथित किया गया है जिनके अधीन विवाह अक्षतता की डिक्री के द्वारा शून्यकरणीय और बातिल अभिनिर्धारित किया जाएगा। धारा 11 और 17 शून्य विवाहों से संबद्ध हैं। धारा 17 के अधीन कोई व्यक्ति हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् उसकी धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के भंग करने पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 और 495 के अधीन दंडित किया जाएगा। यह सच है कि दो धाराएं जिनमें यह अधिकथित किया गया है कि ऊपर निर्देशित खण्डों के उल्लंघन में किए गए विवाह शून्य होंगे किन्तु यह सोचना गलत होगा कि विधान मण्डल ने इन दो उपबन्धों को एक ही प्रयोजन के लिए अधिनियमित किया है। धारा 11 में विवाह को शून्य करने की घोषणा मात्र की गई है जबकि धारा 17 में धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) का उल्लंघन करने वाले पक्षकार को दण्ड के लिए पक्षकार बनाया गया है। किन्तु इन दो धाराओं को केवल शून्य विवाह के पक्षकारों के अधिकार तक ही सीमित रखते हुए नहीं पढ़ा जा सकता। शून्य और शून्यकरणीय विवाह के बीच अंतर है। शून्य विवाह वह है जो अविद्यमान रूप में या जिसको कभी न होने के रूप में

समझा जाता है। इसको दोनों पक्षकारों द्वारा इस रूप में समझा जाता है कि उक्त विवाह को बातिल करने वाले किसी डिक्री के विद्यमान होने के बिना भी ऐसा है। विवाह शून्य है जहां पर द्विविवाह, सगोत्रता (रक्त समानता) या प्रतिषिद्ध नातेदारी डिक्रियों के भीतर हो। इन मामलों में न्यायालय विवाह को कभी न होने की स्थिति में समझता है और वैवाहिक सम्बन्ध कभी भी प्रदत्त नहीं किया गया मानता है। इसके परिणामस्वरूप पक्षकार कभी भी पति और पत्नी नहीं हुए हैं या उनमें से प्रत्येक को एक दूसरे के विरुद्ध सक्षम कहा जाता है। धारा 5 के खण्ड (i) के भंग करने पर किया गया विवाह पक्षकारों की सम्मति से उस विवाह को विधिमान्य नहीं कर सकता। शून्यकरणीय विवाह के मामले में ऐसी स्थिति नहीं है। शून्यकरणीय विवाह विधिमान्य और कायम रहने योग्य उस समय तक समझा जाता है जब तक कोई सक्षम न्यायालय इसे बातिल नहीं कर देता। जब तक हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार अकृतता की डिक्री प्राप्त नहीं की जाती है वह बंधन कायम करता है। जब तक कोई डिक्री नहीं होती है वे विवाहित व्यक्तियों के रूप में जीवित रहते हैं और मरते हैं। और सभी घटनाओं के साथ उनका उस सम्पदा से सम्बन्ध रहता है। "शून्य" अभिव्यक्ति से अकृत, अप्रभावित रूप से कोई बल न होने या बन्धनकारी प्रभावी न होना अभिप्रेत है। चूंकि विवाह धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उल्लंघन में किया गया है इसलिए वह शून्य है। इसका निराकरण या अनुसमर्थन नहीं हो सकता। संक्षेप में उपर्युक्त इस कारण से कि इस बात को न्यायालयों द्वारा मान्यता दी गई है कि कोई तृतीय पक्षकार इसको बातिल कराने के लिए उनकी मृत्यु के पश्चात् भी सिविल न्यायालय में वाद ला सकता है। यदि तृतीय पक्षकार का यह अधिकार अभिनिर्धारित नहीं किया जाता है तो तृतीय पक्षकार के अधिकारों पर गम्भीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और वे न्यायालय में अपने किसी अधिकार के उपचार की मांग नहीं कर सकते। शून्यकरणीय विवाह का मामला, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भिन्न आधार पर है। विवाह के बातिल कराने के लिए दिया गया अधिकार पक्षकारों को ही सीमित है। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 11 के साथ पठित धारा 5(i) के उपबन्धों के उल्लंघन में किए गए शून्य विवाह की विधिमान्यता के बारे में विवाह के वर और वधु में से किसी की मृत्यु के पश्चात् भी किसी तृतीय व्यथित पक्षकार की प्रेरणा पर विचार किया जा सकता है। (पैरा 7, 11, 12 और 20)

पैरा

[1974] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1126 : गंगा बाई **बनाम** विजय कुमार (Ganga Bai *Vs.* Vijai Kumar); 7

[1946] 1946 (1) आल इंग्लैंड रिपोर्ट 564 : टुवंटी **बनाम** टुवंटी (Twenty *Vs.* Twenty) 13

का **अवलम्ब** लिया गया।

[1981] ए० आई० आर० 1981 इलाहाबाद 42 : श्रीमती शीलवती **बनाम** श्रीमती राम नन्दनी और एक अन्य (Smt. Sheelwati *Vs.* Smt. Ram Nandani & another) 2, 20

से **असहमति** प्रकट की गई।

[1979] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1320 : एस० सी० मदादा चाना **बनाम** करनाम नारायण और एक अन्य (S.C. Muddada Chayanna *Vs.* Karnam Narayana and another); 19

[1977] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 955 : बाटा शू कम्पनी लिमिटेड **बनाम** जलालपुर कारपोरेशन (Bata Shoe Company Ltd. *Vs.* Jalalpur Corporation); 19

[1975] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 2238 : प्रीमियर ऑटोमोबाइल्स लिमिटेड **बनाम** के० एस० वड़के (Premier Automobiles Ltd. *Vs.* K. S. Wadke) 19

से **प्रभेद** बताया गया।

[1982] 1982 क्रिमिनल ला जर्नल 42 : राघव ताम्ब्रे **बनाम** मिस्तोलाम्बी और एक अन्य (Roghova Tambray *Vs.* Miss Tolambi and another); 17

[1980] ए० आई० आर० 1980 ए० डब्ल्यू० सी० 369 : राम कृपाल **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Ram Kripal *Vs.* State of U.P.); 18

[1978] 1978 ए० एल० आर० 198 : फूल चंद्र **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Phool Chandra *Vs.* State of U.P.); 18

[1979] ए० आई० आर० 1979 उड़ीसा 51 : हरमोहन **बनाम** कमला कुमारी (Har Mohan *Vs.* Kamla Kumari); 8

[1974] 1974 ए० एल० जे० 139 : डाक्टर जोखन प्रसाद शुक्ला **बनाम** लक्ष्मी देवी (Dr. Jokhan Prasad Shukla *Vs.* Laxmi Devi); 8

[1968] ए० आई० आर० 1968 इलाहाबाद 412 : नवरंग सिंह **बनाम** सलमा देवी (Navrang Singh *Vs.* Salma Devi); 16

[1967] ए० आई० आर० 1967 पटना 277 : बंशीधर झा **बनाम** छबी चटर्जी (Banshidhar Jha *Vs.* Chhabi Chaterji); 17

[1965] ए० आई० आर० 1965 इलाहाबाद 464 : ईश्वर सिंह **बनाम** हुकम कौर (Ishwar Singh *Vs.* Hukum Kaur); 17

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1625 : मोहम्मद इकराम हुसैन **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Mohd. Iqram Hussain *Vs.* State of U. P.); 16

[1964] ए० आई० आर० 1964 मैसूर 247 : शंकरप्पा **बनाम** वासप्पा (Shankarappa *Vs.* Basappa); 9

[1963] ए० आई० आर० 1963 पटना 311 : केदारनाथ गुप्ता **बनाम** श्रीमती सुपर्वा (Kedar Nath Gupta *Vs.* Smt. Suprava); 9

[1957] ए० आई० आर० 1957 मद्रास 243 : टी० रंगस्वामी **बनाम** टी० अरविन्दा मल (T. Rangaswami *Vs.* T. Aravindammal); 8

[1953] 1953 (2) आल इंग्लैंड रिपोर्ट 1365 : आर० बनाम अलगर (R. *Vs.* Algar) निर्दिष्ट किए गए । 14

सिविल अपीली अधिकारिता : 1973 की प्रथम अपील सं० 135.

कुमायूं के जिला न्यायाधीश श्री एम० एल० अग्रवाल द्वारा तारीख 10 अप्रैल, 1973 को पारित निर्णय और आदेश के विरुद्ध प्रथम अपील ।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री जे० एम० पंथ

प्रत्यर्थी की ओर से ... —

न्यायालय का निर्णय न्या० के० सी० अग्रवाल ने दिया ।

न्या० अग्रवाल :

श्रीमती शीलवती बनाम **श्रीमती रामनन्दनी और एक अन्य**[1] वाले मामले में प्रतिवेदित विनिश्चय से विसम्मति प्रकट करते हुए माननीय न्यायाधीश बी० एन० सप्रू ने निम्नलिखित प्रश्न निर्देशित किया है :—

"क्या श्रीमती शीलवती **बनाम** श्रीमती रामनन्दनी और एक अन्य (ए० आई० आर० 1981 इलाहाबाद 42) वाले मामले में उस सीमा तक लिया गया मत ठीक है कि जहां तक यह अधिकथित करता है कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 11 के साथ पठित धारा 5(i) के उपबन्धों के उल्लंघन में किए गए शून्य विवाह की विधिमान्यता के बारे में विवाह के वर और वधु में से किसी एक की मृत्यु के पश्चात् किसी अन्य व्यथित पक्षकार की प्रेरणा पर विचार किया जा सकता है ?"

2. सुसंगत तथ्य जिनसे उपर्युक्त निर्देश किया गया है, विद्वान् न्यायाधीश द्वारा अपने निर्णय में उल्लिखित किए गए हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि अपीलार्थी, श्रीमती राम प्यारी ने अपने पति तुला राम की आस्तियों के लिए कुमायूं के जिला न्यायाधीश के समक्ष उत्तराधिकार प्रमाणपत्र देने के लिए आवेदन किया था । यह अभिकथित किया गया था कि आवेदक श्रीमती राम प्यारी का विवाह तुला राम के साथ हुआ था और यह कि उसकी निःसंतान मृत्यु हो गई थी, इसलिए वह उत्तराधिकार प्रमाणपत्र की हकदार थी ।

---

[1] ए० आई० आर० 1981 इलाहाबाद 42.

3. आक्षेपकर्ताओं, जो तुला राम के निकट सम्बन्धी थे, ने यह अभिवाक् किया कि श्रीमती राम प्यारी तुला राम की विधिक रूप से विवाहित पत्नी नहीं थी और वह उत्तराधिकार प्रमाणपत्र दिए जाने के लिए हकदार नहीं थी। विद्वान् जिला न्यायाधीश ने 10 अप्रैल, 1973 को आवेदन नामंजूर कर दिया। उस निर्णय के विरुद्ध प्रस्तुत अपील फाइल की गई है।

4. विद्वान् जिला न्यायाधीश के निर्णय को चुनौती देते हुए अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने यह तर्क दिया कि तुला राम की मृत्यु के परिणामस्वरूप उत्तराधिकार प्रमाणपत्र के दिए जाने के लिए कार्यवाही में श्रीमती राम प्यारी के साथ तुला राम के विवाह की विधिमान्यता को प्रश्नगत नहीं किया जा सकता। उनकी दलील यह थी कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5(i) के भंग के आधार पर विवाह केवल वर और वधु में से किसी एक की प्रेरणा पर ही अपास्त किया जा सकता है और यदि वर और वधु में से किसी एक के द्वारा विवाह की घोषणा के लिए आवेदन नहीं किया जाता है तो विवाह चुनौती से उन्मुक्त हो जाता है। इस दलील के लिए श्रीमती शीलवती **बनाम** श्रीमती रामनन्दनी वाले उपरोक्त मामले के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया था जिसमें विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि कोई अन्य व्यक्ति विवाह को शून्य नहीं मान सकता और इसलिए इसका किसी वाद या कार्यवाही में अधिनिर्णय नहीं किया जा सकता। इस मामले में अपनाए गए मत की शुद्धता के बारे से माननीय न्यायाधीश बी० एन० सप्रू ने संदेह प्रकट किया है।

5. हिन्दू विवाह अधिनियम के सुसंगत उपबन्धों के संक्षिप्त सार से यह दर्शित होता है कि धारा 5(i) में यह अधिकथित किया गया है कि दो हिन्दुओं के बीच विवाह अनुष्ठापित किया जा सकेगा यदि विवाह के समय दोनों पक्षकार में से न तो वर की कोई पत्नी हो और न वधु का कोई जीवित पति हो। यह धारा संसद द्वारा द्विविवाह के प्रतिषेध की दृष्टि से पुरःस्थापित की गई थी। हिन्दू विवाह अधिनियम के अधिनियमित होने से पूर्व तत्समय प्रचलित हिन्दू विधि में ऐसा कोई प्रतिषेध नहीं था। अधिनियम की धारा 11 में यह उपबन्ध किया गया है कि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् किन्हीं दो हिन्दुओं के बीच अनुष्ठापित कोई भी विवाह, यदि वह धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) में शर्तों में से किसी एक का भी उल्लंघन करता हो, अकृत और शून्य होगा। हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 12 शून्यकरणीय विवाह से सम्बद्ध है चाहे वह इस अधिनियम के प्रारम्भ से पूर्व या पश्चात् अनुष्ठापित किया गया हो।

इसमें यह उपबन्ध किया गया है कि शून्यकरणीय विवाह इस उपबन्ध में उल्लिखित आधारों में से किसी पर भी अकृतता की डिक्री द्वारा शून्यकरणीय होगा। यहां पर यह उल्लेख करना महत्वपूर्ण है कि कोई भी शून्यकरणीय विवाह अकृतता की डिक्री द्वारा केवल उसी समय बातिल किया जा सकेगा जब इस सम्बन्ध में विवाह के पक्षकारों में से किसी एक के द्वारा अधिनियम के अधीन ऐसा आवेदन किया जा सकता है। इसके अतिरिक्त धारा 17 में यह उपबन्ध किया गया है कि यदि इस अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् दो हिन्दुओं के बीच अनुष्ठापित विवाह की किसी तारीख पर ऐसे विवाह के किसी पक्षकार का पति या पत्नी जीवित था या थी तो ऐसा विवाह शून्य होगा और भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 और 495 के उपबन्ध उसे तद्नुसार लागू होंगे। दूसरे शब्दों में यह धारा द्विविवाह के अपराध के लिए दण्ड अधिरोपित करती है। धारा 19 उस न्यायालय के सम्बन्ध में है जिसमें हिन्दू विवाह अधिनियम द्वारा अनुध्यात अर्जी उपस्थापित की जा सकती है।

6. हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 11 में विधि आयोग की सिफारिश पर 1976 में संशोधन किया गया था। इस संशोधन द्वारा संसद् ने ऐसे पिटीशन के संविवाद को समाप्त कर दिया था जिसमें विवाह की अकृतता के लिए डिक्री की मांग की जाती है और वह वर-वधु के जीवनकाल में ही फाईल की जा सकती थी या उनकी मृत्यु के पश्चात् भी। धारा 11 में "अन्य पक्षकारों के विरुद्ध" शब्दों को जोड़कर यह स्पष्ट किया गया है कि विवाद की अकृतता की डिक्री के लिए अर्जी केवल वर-वधु के जीवनकाल में ही उपस्थापित की जा सकेगी।

7. अधिनियम की धारा 11 के अधीन हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रारम्भ के पश्चात् अनुष्ठापित कोई भी विवाह उससे सम्बद्ध पक्षकारों में से किसी पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार के विरुद्ध अर्जी उपस्थापित करके अकृत और शून्य घोषित कराया जा सकता है। अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल का तर्क यह था कि चूंकि धारा 11 व्यापक है इसलिए धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के विरुद्ध निष्पादित विवाह के पक्षकारों के लिए ही सीमित है और यह कि अन्य व्यक्ति अकृतता के लिए घोषणा हेतु कोई वाद नहीं ला सकता। इसके बारे में कोई संदेह नहीं है कि "उससे सम्बद्ध पक्षकारों में से कोई पक्षकार" वाक्यांश से केवल वह व्यक्ति अभिप्रेत हो सकता है अर्थात् विवाह के वास्तविक पक्षकार और कोई अन्य व्यक्ति नहीं। इस धारा की भाषा के अनुसार प्रथम पत्नी द्वारा भी धारा 11 के अधीन द्वितीय-विवाह को शून्य

घोषित कराने के लिए आवेदन नहीं दिया जा सकता किन्तु धारा 11 में या हिन्दू विवाह अधिनियम के किन्हीं उपबन्धों में ऐसा कुछ नहीं है जो धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उल्लंघन में निष्पादित विवाह के प्रभावित किसी व्यक्ति को किसी सिविल न्यायालय में वाद फाइल करने के लिए और उसको शून्य घोषित करने के लिए वाद हेतु अपवर्जित करता हो । अधिकारिता के अपवर्जन की एक उपधारणा है और इससे आसानी से ऐसा अनुमान नहीं लगाया जा सकता । सिविल प्रकृति के वाद को लाने के लिए प्रत्येक व्यक्ति में अन्तर्निहित अधिकार है और जब तक वाद कानून द्वारा वर्जित न हो कोई भी व्यक्ति अपनी जोखिम पर अपनी इच्छानुसार वाद चला सकता है । इसको चलाए जाने के लिए वाद विधि में किसी प्राधिकार की अपेक्षा नहीं है । यह पर्याप्त है कि वाद को कोई कानून अपवर्जित नहीं करता है । (देखिए **गंगा बाई** बनाम **विजय कुमार**[1] वाला मामला) । तद्नुसार न केवल प्रथम पत्नी बल्कि कोई भी हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उल्लंघन में किए गए विवाह से प्रभावित व्यक्ति सिविल वाद लाने का हकदार होगा ।

8. सिविल न्यायालय में किसी अन्य व्यक्ति की अनुरोध पर सिविल वाद को चलाए जाने के बारे में संविवाद पर इस न्यायालय और अन्य न्यायालयों द्वारा विचार किया गया है । **डाक्टर जोखन प्रसाद शुक्ला** बनाम **लक्ष्मी देवी**[2] वाले मामले में प्रतिवेदित इस न्यायालय का विनिश्चय है । इस मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि अपने पति के साथ किसी अन्य महिला के साथ विवाह को अकृत और शून्य घोषित कराने के लिए प्रथम पत्नी द्वारा फाइल किया गया वाद अधिनियम की धारा 11 के उपबन्धों के अन्तर्गत नहीं है और इसलिए उसे द्वितीय विवाह को शून्य घोषित कराने के लिए वाद को सिविल विधि के अधीन फाइल करके साधारण उपचार है । **हर मोहन** बनाम **कमला कुमारी**[3] वाले मामले में अपने पति के साथ किसी अन्य स्त्री के विवाह को घोषित कराने के लिए प्रथम पत्नी द्वारा फाइल किया गया वाद चलाए जाने योग्य अभिनिर्धारित किया गया था । **टी० रंगास्वामी** बनाम **टी० अरविन्दा मल**[4]

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 1126.

[2] 1974 ए० एल० जे० 139.

[3] ए० आई० आर० 1979 उड़ीसा 51.

[4] ए० आई० आर० 1957 मद्रास 243.

वाले मामले में न्यायाधीश रामास्वामी (जैसा कि वे उस समय थे) ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "जबकि······शून्यकरणीय विवाह के मामले में उससे सम्बद्ध किसी पक्षकार द्वारा अर्जी उपस्थापित करके ही बातिल किया जा सकता है। उस सम्बन्ध में विवाह, जो कि अकृत और शून्य है, उसे इस रूप में ऐसे अन्य व्यक्ति की प्रेरणा पर भी किया जा सकता है जिसका ऐसे विवाह से हित प्रभावित होता है।"

9. **केदार नाथ गुप्ता** बनाम **श्रीमती सुपर्ना**[1] वाले मामले में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि हिन्दू विवाह अधिनियम की स्कीम से यह स्पष्ट था कि उस विवाह, जिसके सम्बन्ध में हिन्दू विवाह अधिनियम के अधीन अकृतता की डिक्री नहीं दी जा सकती, का कोई पक्षकार सामान्य विधि के अधीन अपना उपचार प्राप्त कर सकता है। ऐसा ही मत **शंकरप्पा** बनाम **बासप्पा**[2] वाले मामले में व्यक्त किया गया था।

10. इसी संविवाद पर अन्य कुछ और भी मामले हैं किन्तु उनकी संख्या से कोई लाभदायक प्रयोजन पूरा नहीं होता इसलिए हम उन्हें निर्देशित करना आवश्यक नहीं समझते हैं।

11. यहां पर शून्य और शून्यकरणीय विवाह के बीच अन्तर को निर्देशित करना सुसंगत प्रतीत होता है। हमने ऊपर यह उल्लेख किया है कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 12 उन मामलों से सम्बद्ध है जहां पर विवाह के पक्षकारों में से किसी पक्षकार के विकल्प पर विवाह शून्य होता है। इसका उद्देश्य यह अधिकथित करना है कि जब तक उसको रोका न जाए शून्यकरणीय विवाह को सभी प्रयोजनों के लिए माना जाता है। इसमें उन परिस्थितियों को भी अधिकथित किया गया है जिनके अधीन विवाह अकृतता की डिक्री के द्वारा शून्यीकरणीय और बातिल अभिनिर्धारित किया जाएगा। धारा 11 और 17 शून्य विवाहों से संबद्ध हैं। धारा 17 के अधीन कोई व्यक्ति हिन्दू विवाह अधिनियम के प्रारंभ के पश्चात् उसकी धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के भंग करने पर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 494 और 495 के अधीन दंडित किया जाएगा। यह सच है कि दो धाराएं जिनमें यह अधिकथित किया गया है कि ऊपर निर्देशित खण्डों के उल्लंघन में किए गए विवाह शून्य होंगे किन्तु

---

[1] ए० आई० आर० 1963 पटना 311.

[2] ए० आई० आर० 1964 मैसूर 247.

यह सोचना गलत होगा कि विधानमंडल ने इन दो उपबंधों को एक ही प्रयोजन के लिए अधिनियमित किया है। धारा 11 में विवाह को शून्य करने की घोषणा मात्र की गई है जबकि धारा 17 में धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) का उल्लंघन करने वाले पक्षकार को दण्ड के लिए पक्षकार बनाया गया है। किन्तु इन दो धाराओं को केवल शून्य विवाह के पक्षकारों के अधिकार तक ही सीमित रखते हुए नहीं पढ़ा जा सकता। शून्य और शून्यकरणीय विवाह के बीच अंतर है। शून्य विवाह वह है जो कि अविद्यमान रूप में या जिसको कभी न होने के रूप में समझा जाता है। इसको दोनों पक्षकारों द्वारा इस रूप में समझा जाता है कि उक्त विवाह को बातिल करने वाले किसी डिक्री के विद्यमान होने के बिना भी ऐसा है। विवाह शून्य है जहां पर द्विविवाह, संगोत्रता (रक्त समानता) या प्रतिषिद्ध नातेदारी डिक्रियों के भीतर हो। इन मामलों में न्यायालय विवाह को कभी न होने की स्थिति में समझता है और वैवाहिक सम्बन्ध कभी भी प्रदत्त नहीं किया गया मानता है। इसके परिणामस्वरूप पक्षकार कभी भी पति और पत्नी नहीं हुए हैं या उनमें से प्रत्येक को एक-दूसरे के विरुद्ध सक्षम कहा जाता है। धारा 5 के खण्ड (i) के भंग करने पर किया गया विवाह पक्षकारों की सम्मति से उस विवाह को विधिमान्य नहीं कर सकता। शून्यकरणीय विवाह के मामले में ऐसी स्थिति नहीं है। शून्यकरणीय विवाह विधिमान्य और कायम रहने योग्य उस समय तक समझा जाता है जब तक कोई सक्षम न्यायालय इसे बातिल नहीं कर देता। जब तक हिन्दू विवाह अधिनियम के अनुसार अकृतता की डिक्री अभिप्राप्त नहीं की जाती है वह बंधन कायम रहता है। जब तक कोई डिक्री नहीं होती है वे विवाहित व्यक्तियों के रूप में जीवित रहते हैं और मरते हैं। और सभी घटनाओं के साथ उनका उस सम्पदा से सम्बन्ध रहता है। "शून्य" अभिव्यक्ति से अकृत, अप्रभावित रूप से कोई बल न होने या बन्धनकारी प्रभावी न होना अभिप्रेत है। चूंकि विवाह धारा 5 के खण्ड (i), (iv) और (v) के उल्लंघन में किया गया है इसलिए वह शून्य है। इसका निराकरण या अनुसमर्थन नहीं हो सकता।

12. संक्षेप में उपर्युक्त इस कारण से कि इस बात को न्यायालयों द्वारा मान्यता दी गई है कि कोई तृतीय पक्षकार इसको बातिल कराने के लिए उनकी मृत्यु के पश्चात् भी सिविल न्यायालय में वाद ला सकता है। यदि तृतीय पक्षकार का यह अधिकार अभिनिर्धारित नहीं किया जाता है तो तृतीय पक्षकार के अधिकारों पर गम्भीर रूप से प्रतिकूल प्रभाव पड़ता है और वे न्यायालय में अपने किसी अधिकार के उपचार की मांग नहीं कर सकते।

शून्यकरणीय विवाह का मामला, जैसा कि ऊपर उल्लेख किया गया है, भिन्न आधार पर है। विवाह के बातिल कराने के लिए दिया गया अधिकार पक्षकारों को ही सीमित है।

13. ट्वंटी बनाम ट्वंटी[1] वाले मामले में इस प्रकार अभिनिर्धारित किया गया है :—

"जहां पर विवाह शुरू से ही शून्य है, कोई ऐसा व्यक्ति, जिसका मामले में कोई हित होता है, इस घोषणा के लिए नियमित सिविल वाद फाइल करके विवाह को चुनौती दे सकता है कि विवाह अकृत है। ऐसा विवाह बिल्कुल भी विवाह नहीं है और कोई भी वर और वधु ऐसे विवाह की उपेक्षा कर सकते हैं।"

14. **आर० बनाम अलगर**[2] वाले मामले में शून्य और शून्यकरणीय विवाह के बीच अन्तर स्पष्ट किया गया है और उसमें यह अधिकथित किया गया है कि शून्य विवाह का विधि की दृष्टि में कोई अस्तित्व नहीं होता है। अतः हमारा मत यह है कि जहां पर विवाह द्विविवाह है उस विवाह को प्रारम्भ से ही अकृत और शून्य समझा जाता है। धारा 11 में संशोधन के प्रश्न पर विचार करते हुए विधि आयोग ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

"हिन्दू विवाह अधिनियम वैवाहिक विधि है और उसके द्वारा अनुध्यात अकृतता की डिक्रियां विवाह विषयक न्यायालयों द्वारा पारित डिक्रियां हैं। यह मूलभूत सिद्धांत है कि विवाह विषयक न्यायालयों का सम्बन्ध केवल विवाह के पक्षकारों (और आनुषंगिक रूप से बच्चों के अधिकारों) के वैवाहिक अधिकारों के बारे में होता है और इसके अतिरिक्त कुछ नहीं। शून्य या शून्यकरणीय विवाह के सम्बन्ध में अकृतता की डिक्री के लिए पिटीशन या तो केवल पति या पत्नी द्वारा ही फाइल किया जा सकता है। यह उपवंध करना उपयुक्त नहीं होगा कि प्रयोजन के लिए पिटीशन विवाह के लिए अन्य व्यक्ति द्वारा किया जा सकता है। कोई तृतीय पक्षकार (उदाहरणार्थ पति या पत्नी की सम्पदा में हित रखने वाला कोई व्यक्ति) अवश्य ही किसी सिविल वाद में उनके विवाह की विधिमान्यता को प्रश्नगत बना सकता है और वह इस बारे

[1] 1946 (1) आल इंग्लैंड रिपोर्ट 564.
[2] 1953 (2) आल इंग्लैंड रिपोर्ट 1365.

में निष्कर्ष अभिप्राप्त कर सकता है या वह इस घोषणा के लिए वाद भी ला सकता है कि विवाह शून्य था। किन्तु सिविल न्यायालय द्वारा की गई ऐसी डिक्री अकृतता की डिक्री नहीं होगी जैसा कि विवाह विषयक विधि द्वारा अनुध्यात किया गया है।"

15. उपर्युक्त रिपोर्ट से यह दर्शित होता है कि अन्य व्यक्ति को वाद लाने का अधिकार है।

16. सिविल वाद के अलावा द्वितीय विवाह की विधिमान्यता के प्रश्न की अन्य कार्यवाही में उठाए जाने पर परीक्षा की गई थी और उसके बारे में अधिनिर्णय किया गया था। **नवरंग सिंह बनाम सलमा देवी**[1] वाले मामले में द्वितीय पत्नी द्वारा भरण-पोषण के लिए किया गया दावा इस आधार पर नामंजूर किया गया था कि उसका विवाह हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 5(i) और 11 के कारण शून्य था। **मोहम्मद इकराम हुसैन बनान उत्तर प्रदेश राज्य वाले मामले**[2] में उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किया था :—

"हिन्दू विवाह अधिनियमं (1955 का अधिनियम सं० 25) की धारा 5 और 11 के अधीन पहली जीवित विवाहित पत्नी के साथ द्वितीय विवाह अकृत और शून्य है।"

17. द्वितीय पत्नी द्वारा भरण-पोषण के लिए किया गया दावा भी उसके विवाह को **बन्शीधर झा बनाम छबी चटर्जी**[3] वाले मामले में अकृत होने के कारण नामंजूर किया गया था। **राघव ताम्ब्रे बनाम मिरुस्तोलाम्बी और एक अन्य**[4] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय ने भी ऐसा ही मत अपनाया था। **ईश्वर सिंह बनाम हुक्म कौर**[5] वाले मामले में इलाहाबाद उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि पहली पत्नी के जीवनकाल के दौरान दूसरा विवाह चूंकि अविधिमान्य था इसलिए द्वितीय पत्नी भरण-पोषण के लिए हकदार नहीं थी।

18. **राम कृपाल बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[6] और **फूल चन्द्र बनाम**

---

[1] ए० आई० आर० 1968 इलाहाबाद 412.
[2] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1625.
[3] ए० आई० आर० 1967 पटना 277.
[4] 1982 क्रिमिनल ला जर्नल 42.
[5] ए० आई० आर० 1965 इलाहाबाद 464.
[6] ए० आई० आर० 1980 ए० डब्ल्यू० सी० 369.

उत्तर प्रदेश राज्य[1] वाले मामले में लिया गया मत यह था कि द्वितीय विवाह, जब पहली पत्नियां जीवित हों, अविधिमान्य थे और उनको उत्तर प्रदेश भूमि जोत सीमा अधिरोपण अधिनियम के अधीन आबंटित भूमि में कोई अधिकार नहीं था।

19. अपीलार्थी के विद्वान् काउन्सेल ने इस दलील के लिए कुछ विनिश्चयों को निर्देशित किया है कि वाद को ग्रहण करने के लिए सिविल न्यायालयों की अधिकारिता वर्जित थी। ये विनिश्चय **प्रीमियर आटोमोबाइल्स लिमिटेड बनाम के० एस० बड़के**[2], **बाटा शू कम्पनी लिमिटेड बनाम जलालपुर कारपोरेशन**[3] और **एस० सी० सदादा थाना बनाम करनाम नारायण और एक अन्य**[4] वाले मामलों में प्रतिवेदित हैं। ये विनिश्चय लागू नहीं होते हैं। ऐसा प्रत्येक अधिनियम जिसके बारे में उच्चतम न्यायालय ने इन मामलों में विचार किया था, सिविल न्यायालयों की अधिकारिता को वर्जित किया था। अंतर्वलित संविवाद का विनिश्चय करने के लिए इन मामलों से कोई सहायता नहीं मिलती है।

20. जो कुछ हमने ऊपर कहा है उसके कारण हम **शीलवती बनाम श्रीमती रामनन्दनी और एक अन्य**[5] वाले मामले में अधिकथित विधि से सहमत नहीं हैं। हम यह कहते हुए प्रश्न का उत्तर देते हैं कि हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 11 के साथ पठित धारा 5(i) के उपबन्धों के उल्लंघन में किए गए शून्य विवाह की विधिमान्यता के बारे में विवाह के वर और वधु में से किसी की मृत्यु के पश्चात् भी किसी तृतीय व्यथित पक्षकार की प्रेरणा पर विचार किया जा सकता है।

21. इस अपील के कागज-पत्र उपर्युक्त उत्तर के साथ विद्वान् एकल न्यायाधीश को वापस किए जाते हैं।

निर्दिष्ट प्रश्न का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

चन्द

---

[1] 1978 ए० एल० आर० 198.

[2] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 2238.

[3] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 955.

[4] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 1320.

[5] ए० आई० आर० 1981 इलाहाबाद 42.

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—131

अनसारुल हसन सिद्दीकी ब० कुलाधिपति, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय और अन्य

(Ansarul Hasan Siddiqui *Vs.* Chancellor, Rohel Khand University and Others)

तारीख 30 सितम्बर, 1983

[न्या० के० एन० सिंह और बी० एन० खरे]

यू० पी० स्टेट यूनिवर्सिटीज ऐक्ट, 1973—धारा 31(3)(ख) सपठित उक्त ऐक्ट के अधीन विरचित फर्स्ट स्टेट्यूट (प्रथम कानून)—यदि किसी ऐसे उम्मीदवार, जो (लैक्चरर) प्राध्यापक के रूप में अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं था, की चयन समिति द्वारा परिवीक्षा पर नियुक्त किए जाने के लिए सिफारिश की जाती है तो वह विधि के प्रतिकूल होगी और उसके लिए अपना अनुमोदन देने से कुलपति की इनकारी विधिमान्य है।

पिटीशनर को चयन समिति को निर्देश करने के पश्चात् अस्थायी लैक्चरर के रूप में नियुक्त किया गया था इसलिए उसे उस पद पर अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त किया जाना चाहिए। इस पिटीशन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि चयन समिति द्वारा परिवीक्षा पर नियुक्त किए जाने के लिए किसी अनर्हित उम्मीदवार की सिफारिश विधि के प्रतिकूल होगी।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

पिटीशनर के विद्वान् काउंसेल की प्रथम दलील यह है कि चूंकि पिटीशनर को अंग्रेजी के अस्थायी लैक्चरर के रूप में नियुक्त किया गया था इसलिए उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 31(3)(ख) के अधीन पिटीशनर की अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्ति की जानी चाहिए, में कोई बल नहीं है और इसलिए उसे नामंजूर किया ही जाना चाहिए। उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 31(3)(ख) के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि यदि किसी व्यक्ति को चयन समिति को निर्देश करने के पश्चात् अस्थायी पद पर नियुक्त किया जाता है और उसके पश्चात् उक्त अस्थायी पद स्थायी पद में सम्परिवर्तित हो जाता है तो प्रबंध समिति ऐसे अध्यापक को चयन समिति को निर्देश के बिना उस पद पर अधिष्ठाई हैसियत से नियुक्त कर सकती है। प्रस्तुत मामले में पिटीशनर को चयन समिति को

निर्देश किए बिना स्थायी पद पर अस्थायी लैक्चरर के रूप में नियुक्त किया गया था। इस प्रकार न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचता है कि अधिनियम की धारा 31(3)(ख) पिटीशनर की कोई सहायता नहीं करती है और पिटीशनर को अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त नहीं किया जा सकता। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया चूंकि, पिटीशनर के नाम की परिवीक्षा पर अंग्रेजी के (लैक्चरर) प्राध्यापक के पद के रूप में नियुक्ति हेतु चयन समिति द्वारा सिफारिश की गई थी इसलिए कुलपति को उसके अनुमोदन की स्वतंत्रता नहीं थी। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की इस दलील में कोई बल नहीं है और इसे नामंजूर ही किया जाना चाहिए। चयन समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि पिटीशनर के पास एम० ए० अंग्रेजी में अपेक्षित अर्हता अर्थात् 54% अंक नहीं थे जो कि प्रथम कानून की अपेक्षा है। चयन समिति ने यह भी पाया कि पिटीशनर अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए चयन समिति द्वारा की गई यह सिफारिश कि पिटीशनर को परिवीक्षा पर नियुक्त किया जाए, विधि के प्रतिकूल थी। चयन समिति की सिफारिश के लिए अपना अनुमोदन देने से इनकार करने में कुलपति न्यायोचित था। (पैरा 4 और 5)

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1976 का सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन सं० 906.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से	...	श्री बशीर अहमद
विरोधी पक्षकारों की ओर से	...	श्री एल० पी० नैथानी और स्थायी काउन्सेल श्री के० एन० त्रिपाठी

न्यायालय का निर्णय न्या० वी० एन० खरे ने दिया।

न्या० खरे :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन द्वारा पिटीशनर ने कुलपति के तारीख 19 मई, 1976 के पत्र (रिट पिटीशन का उपा० 5) में यथाअंतर्विष्ट कुलाधिपति, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय द्वारा पारित आदेश को चुनौती दी है। इसके अतिरिक्त पिटीशनर ने प्रतिषेध रिट जारी करने की भी प्रार्थना की है जिसमें प्रत्यर्थियों को गांधी फैज-ए-आम डिग्री महाविद्यालय

शाहजहांपुर (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'महाविद्यालय' कहा गया है) में प्राध्यापक के पद से उसकी सेवाएं समाप्त करने से रोका जाए।

2. पिटीशनर का मामला, जैसा कि रिट पिटीशन में उल्लेख किया गया है, यह है कि उसे चयन समिति को निर्देश करने के पश्चात् अस्थायी प्राध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया था और उसने चूंकि 6 मास से अधिक कार्य किया था, प्रत्यर्थियों को यू० पी० स्टेट यूनिवर्सिटीज ऐक्ट (उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय, अधिनियम) की धारा 31(3)(ख) के अधीन उस पद पर अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त करना चाहिए था। इसके अतिरिक्त पिटीशनर का मामला यह है कि चूंकि स्थायी नियुक्ति के लिए उसका चयन चयन समिति द्वारा किया गया था इसलिए रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय के कुलपति और कुलाधिपति ने उसकी नियुक्ति के लिए अनुमोदन न करने में त्रुटि की है।

3. दो प्रतिशपथ-पत्र फाइल किए गए—एक प्रत्यर्थी सं० 2 की ओर से और दूसरा प्रत्यर्थी सं० 3 और 4 की ओर से। दोनों प्रतिशपथ-पत्रों में पिटीशनर के प्राख्यान से इनकार किया गया है। प्रत्यर्थी सं० 3 और 4 की ओर से फाइल किए गए प्रतिशपथ-पत्र में बनाया गया मामला यह है कि पिटीशनर को प्रारम्भ में अंग्रेजी के लैक्चरर के स्थायी पद पर अस्थायी लैक्चरर के रूप में नियुक्त किया गया था। उसके पश्चात् अंग्रेजी के स्थायी लैक्चरर का पद प्रत्यर्थी सं० 4 द्वारा विज्ञापित किया गया था। उक्त विज्ञापन के प्रत्युत्तर में पिटीशनर और अन्य लोगों ने आवेदन दिए थे। चयन समिति ने उम्मीदवारों, जिनमें पिटीशनर सम्मिलित हैं, का साक्षात्कार करने के पश्चात् एक मत से यह विनिश्चित किया था कि उम्मीदवारों, पिटीशनर सहित, में से कोई भी उम्मीदवार अंग्रेजी के लैक्चरर के पद के लिए अधिष्ठाई नियुक्ति के लिए उपयुक्त नहीं था। किन्तु छात्रों के अध्ययन की हानि से बचने के लिए चयन समिति ने यह सिफारिश की थी कि पिटीशनर को 30 जून, 1975 तक अस्थायी रूप से नियुक्त किया जाए। चयन समिति की सिफारिश को ध्यान में रखते हुए कुलपति, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय ने 30 जून, 1975 तक पिटीशनर की अस्थायी नियुक्ति के लिए अनुमोदन कर दिया था। जुलाई, 1975 में उक्त पद पुनः विज्ञापित किया गया था और पिटीशनर ने अन्य उम्मीदवारों के साथ उक्त पद के लिए नियुक्ति हेतु विचार किए जाने हेतु पुनः आवेदन किया था। इसी दौरान उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम, 1973 के अधीन राज्य सरकार द्वारा विरचित प्रथम कानून प्रवृत्त हो गया था। प्रथम कानून में यह उपबन्ध किया गया कि लैक्चरर के पद पर नियुक्ति के लिए उम्मीदवारों के एम० ए० परीक्षा में 54% अंक

होने चाहिएं। द्वितीय चयन समिति पुनः इस निष्कर्ष पर पहुंची कि पिटीशनर सहित उम्मीदवारों में से कोई भी उम्मीदवार, जिनका साक्षात्कार किया गया था, प्रथम कानून में यथा अधिकथित न्यूनतम अपेक्षित अर्हता नहीं रखता था। किन्तु चयन समिति ने यह सिफारिश की कि चूंकि कोई भी अर्हित उम्मीदवार नहीं है इसलिए पिटीशनर और इशरत जहीर नामक एक अन्य व्यक्ति को, यदि विधि के अधीन सम्भव हो, परिवीक्षा पर नियुक्त किया जाए। इसके अतिरिक्त चयन समिति ने यह सिफारिश की कि यदि अपेक्षित अर्हता के अभाव में अस्थायी नियुक्ति को परिवीक्षा पर नियुक्ति के लिए अनुमोदन करना सम्भव नहीं था तो पिटीशनर की 6 मास के लिए नियुक्ति का अनुमोदन किया जाए। कुलपति, रुहेलखण्ड विश्वविद्यालय ने चयन समिति की सिफारिशों का अनुमोदन करने से इनकार कर दिया। महाविद्यालय की प्रबंध समिति ने उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 31(3)(ख) के अधीन कुलपति के अनुमोदन के लिए पिटीशनर के मामले की सिफारिश की किन्तु उक्त सिफारिश भी कुलपति द्वारा इस आधार पर नामंजूर कर दी गई कि यह अधिनियम के उक्त उपबन्ध के अंतर्गत नहीं है। कुलपति द्वारा अनुमोदन देने से इनकार करने के पश्चात् मामला कुलाधिपति को निर्देशित किया गया था। कुलाधिपति ने मामले में सहानुभूतिपूर्ण दृष्टिकोण अपनाया और शैक्षणिक सत्र अर्थात् 31 मई, 1976 की समाप्ति तक अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में पिटीशनर की अस्थायी नियुक्ति का अनुमोदन कर दिया। कुलाधिपति ने अपने आदेश में इस बात का संकेत किया कि यह प्रबंध पूर्णतः तदर्थ है और पिटीशनर का इस प्रबंध के लिए स्थायी आधार पर करने का कोई दावा नहीं होगा।

4. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल की प्रथम दलील यह है चूंकि पिटीशनर को अंग्रेजी के अस्थायी प्राध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया था इसलिए उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 31(3)(ख) के अधीन पिटीशनर की अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्ति की जानी चाहिए में कोई बल नहीं है और इसलिए उसे नामंजूर किया ही जाना चाहिए। उत्तर प्रदेश राज्य विश्वविद्यालय अधिनियम की धारा 31(3)(ख) के परिशीलन से यह दर्शित होता है कि यदि किसी व्यक्ति को चयन समिति के निर्देश करने के पश्चात् अस्थायी पद पर नियुक्त किया जाता है और उसके पश्चात् उक्त अस्थायी पद स्थायी पद में सम्परिवर्तित हो जाता है तो प्रबंध समिति ऐसे अध्यापक को चयन समिति को निर्देश के बिना उस पद पर अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त कर सकती है। प्रस्तुत मामले में पिटीशनर को चयन समिति

को निर्देश किए बिना स्थायी पद पर अस्थायी प्राध्यापक के रूप में नियुक्त किया गया था। इस प्रकार हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि अधिनियम की धारा 31(3)(ख) पिटीशनर की कोई सहायता नहीं करती है और पिटीशनर को अधिष्ठाई हैसियत में नियुक्त नहीं किया जा सकता।

5. पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि चूंकि, पिटीशनर के नाम की परिवीक्षा पर अंग्रेजी के प्राध्यापक के पद के रूप में नियुक्ति हेतु चयन समिति द्वारा सिफारिश की गई थी, इसलिए कुलपति को उसके अननुमोदन की स्वतंत्रता नहीं थी। पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल की इस दलील में कोई बल नहीं है और इसे नामंजूर ही किया जाना चाहिए। चयन समिति इस निष्कर्ष पर पहुंची कि पिटीशनर के पास एम० ए० अंग्रेजी में अपेक्षित अर्हता अर्थात् 54% अंक नहीं थे जो कि फर्स्ट स्टेट्यूट प्रथम कानून की अपेक्षा है। चयन समिति ने यह भी पाया कि पिटीशनर अंग्रेजी के प्राध्यापक के रूप में अधिष्ठाईं हैसियत में नियुक्त किए जाने के लिए अर्हित नहीं था। इन तथ्यों को ध्यान में रखते हुए चयन समिति द्वारा की गई यह सिफारिश कि पिटीशनर को परिवीक्षा पर नियुक्त किया जाए, विधि के प्रतिकूल थी। चयन समिति की सिफारिश के लिए अपना अनुमोदन देने से इनकार करने में कुलपति न्यायोचित थे।

6. उपर्युक्त बहस को ध्यान में रखते हुए हम इस रिट पिटीशन में कोई गुणागुण नहीं पाते हैं। रिट पिटीशन खारिज किया जाता है किन्तु खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता हैं।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—136

मैसर्स बद्री प्रसाद हरिदास बनाम बर्तन निर्माता मजदूर सभा वाले सियालगंज, मिर्जापुर और अन्य

(M/s. Badri Prasad Hari Das *Vs.* Bartan Nirmata Mazdoor Sabha Walle Syalganj, Mirzapur & Others)

तारीख 2 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० एन० सिंह, के० सी० अग्रवाल और न्या० वी० एन० खरे]

संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट, 1947 सपठित तद्धीन विरचित नियमों का नियम 16(1) और (2)—राज्य सरकार द्वारा पिटीशनर और प्रत्यर्थी के बीच विद्यमान विवाद के बारे में औद्योगिक अधिकरण को निर्देश किया जाना—औद्योगिक अधिकरण के समक्ष मामले की सुनवाई के लिए नियत तारीख को पिटीशनर का अनुपस्थित रहना—औद्योगिक अधिकरण द्वारा मामले में एकपक्षीय कार्यवाही करके पिटीशनर के विरुद्ध आदेश और अधिनिर्णय पारित किया जाना—पिटीशनर की ओर से अधिनिर्णय के पारित होने की तारीख से 10 दिन के भीतर आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए आवेदन किया जाना—औद्योगिक अधिकरण द्वारा आवेदन को इस आधार पर नामंजूर किया जाना कि उसे आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं थी—यदि औद्योगिक अधिकरण के एकपक्षीय अधिनिर्णय के 10 दिन की समाप्ति से पूर्व आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन किया जाता है तो अधिकरण को आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता होगी।

पिटीशनर एक रजिस्ट्रीकृत फर्म थी जो कि बर्तनों के निर्माण करने का कारबार करती थी। फर्म की कर्मशाला में 9 व्यक्ति नियोजित थे। प्रत्यर्थी ने वर्ष 1970-71 के लिए कर्मकारों को बोनस का संदाय करने की मांग उठाई। पिटीशनर फर्म इसके लिए इस आधार पर सहमत नहीं थी कि चूंकि यह कारखाना नहीं है जिसमें 20 व्यक्तियों से कम व्यक्ति नियोजित थे इसलिए बोनस के संदाय का उसका दायित्व नहीं था। राज्य सरकार ने इस विवाद के बारे में औद्योगिक अधिकरण को निर्देश किया। औद्योगिक अधिकरण के समक्ष नियत तारीख को पिटीशनर अनुपस्थित रहा। औद्योगिक अधिकरण ने मामले में एकपक्षीय कार्यवाही करते हुए पिटीशनर के विरुद्ध आदेश और

अधिनिर्णय पारित कर दिया । पिटीशनर ने अधिनिर्णय की तारीख से 10 दिन के भीतर आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए एक आवेदन दिया । औद्योगिक अधिकरण ने यह कहते हुए आवेदन को नामंजूर कर दिया कि उसे उस आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता नहीं है । पिटीशनर ने यह पिटीशन फाइल किया । इसमें मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि क्या औद्योगिक अधिकरण को अधिकारिता थी अथवा नहीं ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया ।

अधिनियम की स्कीम पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् अधिनिर्णय के लिए श्रम न्यायालय या अधिकरण को निर्देशित विवाद को विनिश्चित करने की है । किन्तु यदि नियत तारीख को श्रम न्यायालय या अधिकरण के समक्ष कार्यवाहियों में कोई पक्षकार अनुपस्थित रहता है तो अधिकरण को उसकी अनुपस्थिति में मामले में आगे कार्यवाही करने की शक्ति है और ऐसे आदेश पारित करने की शक्ति है जो वह नियम 16 के उपनियम (1) के अधीन उचित समझे । नियम 16 का उपनियम (2) किसी पक्षकार के विरुद्ध उसकी अनुपस्थिति में पारित आदेश को अपास्त करने के लिए अधिकरण को शक्ति प्रदत्त करता है यदि ऐसे आदेश के 10 दिन के भीतर वह पक्षकार ऐसे आदेश को अपास्त कराने के लिए आवेदन करता है और अपनी अनुपस्थिति के लिए पर्याप्त हेतुक दर्शित करता है । नियम 16 के उपनियम (2) के अधीन यह ठीक हो सकता है कि "आदेश" शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु जब आदेश अपास्त हो जाता है तो उसका आवश्यक परिणाम यह है कि श्रम न्याथालय या अधिकरण के विनिश्चय के अनुसरण में दिए गए अधिनिर्णय के सम्बन्ध में एकपक्षीय कार्यवाही करने के लिए स्वतः ही समाप्त हो जाता है । नियम 16 का उपनियम (2) एक समर्थकारी उपबन्ध है और इसलिए यदि उस पक्षकार द्वारा, जिसके विरुद्ध मामले में एकपक्षीय कार्यवाही की गई है पर्याप्त हेतुक दर्शाया गया है तो वह पक्षकार सुनवाई के लिए हकदार हो जाता है । यदि वह सुनवाई का हकदार हो जाता है तो इससे आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि उसके विरुद्ध कोई अधिनिर्णय दिया गया है तो उसे अपास्त किया जा सकता है । अक्सर ऐसा होता है कि अधिकरण या श्रम न्यायालय मामले के सम्बन्ध में एकपक्षीय कार्यवाही का आदेश कर सकता है और उसके पश्चात् उसी दिन वह अधिनिर्णय दे सकता है । यह ठीक हो सकता है कि अधिनियम अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए श्रम न्यायालय या अधिकरण को कोई शक्ति प्रदत्त नहीं करता है जबकि यह अंतिम हो जाता है ।

किन्तु नियमों को अधिनियम के साथ पढ़ा जाना चाहिए। यदि उन्हें साथ पढ़ा जाता है तो एकपक्षीय रूप से दिए गए अधिनिर्णय को नामंजूर करने की कोई शक्ति नहीं होगी। प्रस्तुत मामले में अधिकरण ने 13 अक्तूबर, 1973 को एकपक्षीय अधिनिर्णय दिया था। 10 दिन की समाप्ति से पूर्व आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए पिटीशनर द्वारा 18 अक्तूबर, 1973 को एक आवेदन किया गया था। अधिनिर्णय प्रकाशित नहीं किया गया था और न ही किया जा सकता था। अधिकरण को आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन को ग्रहण करने को अधिकारिता थी। उस तारीख को अधिकरण पदकार्य निवृत नहीं हुआ था। इसने यह अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की कि चूंकि अधिनिर्णय सरकार को भेजा गया था इसलिए वह उसे नामंजूर करने की अधिकारिता से विरत हो गया था। (पैरा 10, 11, 12 और 15)

पैरा

14

[1981] [1981] 4 उम० नि० प० 857ए० आई० = आर० 1981 एस० सी० 606 : ग्रिन्डलेज बैंक लिमिटेड **बनाम** केन्द्रीय सरकार औद्योगिक अधिकरण और अन्य (Grindlays Bank Limited *Vs.* Central Govemrnent Industrial Tribunal and others) **का अवलम्ब** लिया गया।

[1973] 1973 (26) इन्डियन फैक्टरीज एण्ड लेबर रिपोर्ट्स 418 : कृष्ण मोहन सिंह **बनाम** मैसर्स रतन स्टील लिमिटेड, लोहता, वाराणासी और अन्य (Krishna Mohan Singh *Vs.* M/s. Ratan Steel Limited, Lohta, Varanasi and others) से **असहमति** प्रकट की।

[1971] 1971 (1) एल० एल० जे० 327 : पोस्टल सील्स इन्डस्ट्रियल को-आप्रेटिव सोसाइटी लिमिटेड, अलीगढ़ **बनाम** श्रम न्यायालय II, लखनऊ और अन्य (Postal Seals Industrial Co-operative Society Limited, Aligarh, *Vs.* Labour Gourt II, Lucknow and others) **निर्दिष्ट** किया गया।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1974 का सिविल प्रकीर्ण रिट सं० 2524.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री बी० सी० डे

प्रत्यर्थियों की ओर से ... —

न्यायालय का निर्णय न्या० के० सी० अग्रवाल ने दिया।

न्या० अग्रवाल :

पोस्टल सील्स इन्डस्ट्रियल को-आपरेटिव सोसाइटी लिमिटेड, अलीगढ़ बनाम श्रम न्यायालय II, लखनऊ और अन्य[1] और **कृष्ण मोहन सिंह बनाम मैसर्स रतन स्टील लिमिटेड, लोहता, वाराणसी और अन्य**[2] वाले मामलों में प्रतिवेदित दो खण्ड न्यायपीठों के बीच विरोध होने की स्थिति में प्रस्तुत निर्देश पूर्ण न्यायपीठ को किया गया है।

2. मामले के तथ्य, जिनका संविवाद को विनिश्चित करने के लिए उल्लेख करना आवश्यक है, बहुत ही सीमित हैं। पिटीशनर एक रजिस्ट्रीकृत फर्म थी जो कि मिर्जापुर में धातु के बर्तनों का विनिर्माण करने का कारबार करती थी। पिटीशनर के अनुसार उसकी एक छोटी सी कर्मशाला (वर्कशाप) थी जिसमें 9 व्यक्ति नियोजित थे। प्रत्यर्थी सं० 1, जो कि बर्तन निर्माता मजदूर सभा है, ने वर्ष 1970-71 के लिए कर्मकारों को बोनस का संदाय करने की मांग उठाई। चूंकि पिटीशनर फर्म बोनस के संदाय के लिए इस आधार पर सहमत नहीं थी कि चूंकि यह कारखाना नहीं था जिसमें 20 व्यक्तियों से कम व्यक्ति नियोजित थे इसलिए बोनस संदाय अधिनियम के अधीन बोनस के संदाय का दायित्व नहीं था।

3. राज्य सरकार ने इस बात से संतुष्ट होकर कि पिटीशनर और प्रत्यर्थी सं० 1 के बीच विवाद विद्यमान है उपर्युक्त निर्देशित विवाद के बारे में औद्योगिक अधिकरण (1) इलाहाबाद को निर्देश किया। मामला 1973 के अधिनिर्णयन मामला सं० 65 के रूप में दर्ज किया गया था।

4. औद्योगिक अधिकरण से सूचना प्राप्त होने पर दोनों पक्षकारों ने अपने लिखित कथन और प्रत्युत्तर फाइल किए। पिटीशनर फर्म, जैसा कि

---

[1] 1971 (1) एल० एल० जे० 327.

[2] 1973 (26) इन्डियन फैक्टरीज एण्ड लेबर रिपोर्ट्स 418.

ऊपर उल्लेख किया गया है, ने यह प्राख्यान किया कि यह एक कारखाना नहीं था और चूंकि इसमें नियोजित कर्मकार 20 से कम थे, इसलिए इसको बोनस संदाय अधिनियम लागू नहीं होता था। प्रत्यर्थी सं० 1 ने पिटीशनर फर्म के लिखित कथन में उल्लिखित तथ्यों का विरोध किया।

5. औद्योगिक अधिकरण ने मामले की सुनवाई के लिए 13 अक्तूबर, 1973 नियत किया। उक्त तारीख को पिटीशनर का प्राधिकृत प्रतिनिधि अपनी बीमारी के कारण हाजिर नहीं हो सका। पिटीशनर फर्म की ओर से आस्थगन के लिए किया गया अनुरोध नामंजूर किया गया था और अधिकरण ने मामले की एकपक्षीय रूप से सुनवाई की और उसी तारीख को उसने अधिनिर्णय पारित किया। उस पर पिटीशनर फर्म ने एकपक्षीय आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए 18 अक्तूबर, 1973 को एक शपथपत्र द्वारा सम्यक रूप से समर्थित नियम 16(2) के अधीन एक आवेदन फाइल किया। तारीख 20 अक्तूबर, 1973 के पत्र द्वारा पिटीशनर को इस बारे में सूचित किया गया था कि 19 अक्तूबर, 1973 को अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन अधिकरण द्वारा इस आधार पर नामंजूर किया गया था कि उसे उसको उलटने की अधिकारिता नहीं थी। उसके पश्चात् पिटीशनर ने इस न्यायालय में प्रस्तुत रिट फाइल किया।

6. वह आधार जिस पर एकपक्षीय आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन किया जा सकता था वह केवल यह प्रश्न था कि इस रिट पिटीशन में विनिश्चय के लिए जो प्रश्न उद्भूत होता है वह यह है कि क्या अधिकरण ने इस आधार पर आवेदन को नामंजूर करने में त्रुटि की है कि उसे उसको उलटने की कोई शक्ति नहीं थी। अपनाए गए मत के लिए अधिकरण ने कृष्ण मोहन सिंह बनाम मैसर्स रतन स्टील लिमिटेड लोहता, वाराणसी वाले उपरोक्त मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया था।

7. चूंकि संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट (जिसे इसमें इसके पश्चात् ऐक्ट कहा गया है) और तद्धीन विरचित नियमों के कुछ उपबन्धों को इस पूर्ण न्यायपीठ को निर्देशित मुद्दे का विनिश्चय करने के लिए निर्देशित करना लाभदायक होगा। हम उसके लिए संक्षेप में निर्देश कर सकते हैं। अधिनियम की धारा 4(ट) राज्य सरकार को कर्मकार और नियोजक के बीच किसी विवाद का विनिश्चय कराने के लिए श्रम न्यायालय या अधिकरण को

निर्देश करने के लिए सशक्त बनाती है जहां पर राज्य सरकार की यह राय है कि उनके बीच में कोई औद्योगिक विवाद विद्यमान है। धारा 5-ग श्रम न्यायालयों और अधिकरणों की प्रक्रिया और शक्ति स सम्बद्ध है। धारा 5-ग की उपधारा (3) में यह उपबन्ध किया गया है कि प्रत्येक न्यायाधिकरण को खण्ड (क) से (ङ) में वर्णित विषयों के संबंध में किसी मुकदमे का परीक्षण करते समय वही अधिकार प्राप्त होंगे जो कोड आफ सिविल प्रोसीजर, 1908 के अधीन किसी सिविल न्यायालय (दीवानी न्यायालय) में निहित रहते हैं। धारा 5-ग की उपधारा (3) के खण्ड (ङ) में यह उपबन्ध किया गया है कि अधिकरण खण्ड (क) से (घ) तक के अंतर्गत मामलों से इतर विषयों के सम्बन्ध में विरचित नियमों को अपनाएगा। धारा 6 अधिकरण या श्रम न्यायालयों को जिनको राज्य सरकार द्वारा अधिनिर्णय के माध्यम से उसका विनिश्चय करने के लिए अधिनिर्णयन हेतु मामला निर्देशित किया जाता है, अधिनिर्णय के लिए सशक्त बनाती है जिसे बाद में राज्य सरकार को प्रस्तुत करना अपेक्षित होता है। उपधारा (3) के अधीन अधिकरण द्वारा दिया गया प्रत्येक अधिनिर्णय, ऐसी रीति में जिसे राज्य सरकार उचित समझे, इसकी प्राप्ति की तारीख से 30 दिन की अवधि के भीतर प्रकाशित किया जाता है। धारा 6 की उपधारा (4) राज्य सरकार को अधिनिर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए उसे वापस भेजने के लिए सशक्त बनाती है। उपधारा (5) के अधीन उपधारा (3) के अधीन प्रकाशित अधिनिर्णय अंतिम होगा और उसे किसी न्यायालय में चुनौती नहीं दी जा सकती। किन्तु उपधारा (6) श्रम न्यायालय या अधिकरण को अधिनिर्णय में लिपिकीय या अकगणितीय त्रुटि या उसमें किसी आकस्मिक भूलचूक से उद्‌भूत त्रुटि को ठीक करने की शक्ति प्रदत्त करती है। धारा 6-क में यह उपबन्ध किया गया है कि धारा 6 के अधीन अधिनिर्णय प्रकाशन की तारीख से 30 दिन की समाप्ति पर प्रवृतनीय हो जाएगा। धारा 6-घ कार्यवाहियों के प्रारम्भ होने और उनके समापन होन से सम्बद्ध है। उनकी समाप्ति के सम्बन्ध में उसमें यह उपबन्ध किया गया है कि उसके प्रारम्भ होने से पूर्व की कार्यवाहियां अधिनिर्णय के विवाद के लिए निर्देश को उस तारीख को समाप्त समझा जाएगा जिसको अधिनिर्णय धारा 6-क के अधीन प्रवृतनीय हो जाता है। नियमों में, वे उपबन्ध, जिनका निर्देशित करना अपेक्षित है, नियम 16 और 21 हैं। चूंकि पूर्ण न्यायपीठ को किए गए निर्देश का विनिश्चय करने के लिए नियम 16 का निर्वचन करना ह इसलिए हम उसे इस रूप में उद्धृत करते हैं :—

*"16. श्रम न्यायालय या अधिकरण या मध्यस्थ एकपक्षीय रूप से कार्यवाही कर सकेगा :—

(1) यदि नियत तारीख को या किसी अन्य ऐसी तारीख, जिसको सुनवाई स्थगित की जा सकती है, को श्रम न्यायालय या अधिकरण या मध्यस्थ के समक्ष कार्यवाहियों में कोई पक्षकार अनुपस्थित होता है, यद्यपि उस पर समन की सम्यक रूप से तामील की गई थी, या उसे सुनवाई की तारीख की सूचना थी, तो श्रम न्यायालय या अधिकरण या मध्यस्थ, जैसी भी स्थिति हो, उसकी अनुपस्थिति में मामले में कार्यवाही कर सकेगा और ऐसे आदेश पारित कर सकेगा जो वह ठीक और उचित समझे।

(2) श्रम न्यायालय, अधिकरण या मध्यस्थ किसी पक्षकार की अनुपस्थिति में उसके विरुद्ध पारित आदेश को अपास्त कर सकेगा, यदि पक्षकार ऐसे आदेश के 10 दिन के भीतर ऐसे आदेश को अपास्त कराने के लिए लिखित में आवेदन करता है और अपनी अनुपस्थिति के लिए पर्याप्त हेतुक दर्शित करता है। श्रम न्यायालय, अधिकरण या मध्यस्थ किसी पक्षकार से अपनी अनुपस्थिति के हेतुक का उल्लेख करते

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"16. Labour Court or Tribunal or Arbitrator may proceed ex-parte :—

(1) If on the date fixed or on any other date to which the hearing may be adjourned, any party to the proceedings before the Labour Court or Tribunal or an Arbitrator, is absent, though duly served with summons or having the notice of the date of hearing, the Labour Court or Tribunal or the Arbitrator, as the case may be, may proceed with the case in his absence and pass such order as it may deem fit and proper.

(2) The Labour Court, Tribunal or an Arbitrator may set aside the order, passed against the party in his absence, if within ten days of such order the party applies in writing for setting aside such order and shows sufficient cause for his absence. The Labour Court, Tribunal or an Arbitrator may require the party to file an affidavit, stating the cause of absence. As many

हुए शपथपत्र फाइल करने की अपेक्षा कर सकता है। आवेदन और शपथपत्र यदि कोई हो, की सम्बद्ध पक्षकार द्वारा उतनी प्रतियां फाइल की जाएंगी जितने विरोधी पक्षकार की ओर से व्यक्ति हैं। आदेश को अपास्त करने से पूर्व विरोधी पक्षकारों को आवेदन की सूचना दी जाएगी।"

8. नियम 21 में यह अधिकथित किया गया है कि अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों के अलावा श्रम न्यायालय और अधिकरणों को वही शक्तियां होंगी जैसी कि सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन सिविल न्यायालयों में निहित होती हैं जब वे खण्ड (क) से (ग) में दिए मामलों के सम्बन्ध में वाद का विचारण करते हैं।

9. दूसरे पक्षकार का मामला ऐसा प्रतीत होता है कि चूंकि न तो अधिनियम में और न ही नियमों में कोई ऐसा विशिष्ट उपबन्ध नहीं है जो कि श्रम न्यायालय या अधिकरण को एकपक्षीय अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए सशक्त बनाता हो, इसलिए पिटीशनर फर्म द्वारा किया गया आवेदन चलाए जाने योग्य नहीं था। वास्तव में दूसरे पक्षकार का मामला यह था कि अधिनिर्णय को उलटने या अपास्त करने के लिए किया गया आवेदन पुनर्विलोकन के लिए था और चूंकि पुनर्विलोकन के लिए विशिष्ट उपबन्ध अपेक्षित है, इसलिए आवेदन को ठीक ही नामंजूर किया गया था।

10. अधिनियम की स्कीम पक्षकारों की सुनवाई करने के पश्चात् अधिनिर्णय के लिए श्रम न्यायालय या अधिकरण को निर्देशित विवाद को विनिश्चित करने की है। किन्तु यदि नियत तारीख को श्रम न्यायालय या अधिकरण के समक्ष कार्यवाहियों में कोई पक्षकार अनुपस्थित रहता है तो अधिकरण को उसकी अनुपस्थिति में मामले में आगे कार्यवाही करने की शक्ति है और ऐसे आदेश पारित करने की शक्ति है जो वह नियम 16 के उपनियम (1) के अधीन उचित समझे। नियम 16 का उपनियम (2) किसी पक्षकार के विरुद्ध उसकी अनुपस्थिति में पारित आदेश को अपास्त करने के लिए अधिकरण को शक्ति प्रदत्त करता है यदि ऐसे आदेश के 10 दिन के भीतर वह पक्षकार ऐसे आदेश को अपास्त कराने के लिए आवेदन करता है और अपनी अनुपस्थिति के

copies of the application and affidavit, if any, shall be filed by the party concerned as there are persons on the opposite side. Notice of the application shall be given to the opposite parties before setting aside the order."

लिए पर्याप्त हेतुक दर्शित करता है। **कृष्ण मोहन सिंह** बनाम **मैसर्स रतन स्टील लिमिटेड लोहता, वाराणसी और अन्य**[1] वाले उपरोक्त मामले में इस न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत यह है कि नियम 16 का उपनियम (2) एकपक्षीय अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए श्रम न्यायालय या अधिकरण को सशक्त नहीं करता है। इसके अतिरिक्त यह पाया गया था कि नियम 16 के उपनियम (2) के अधीन जो कुछ अपास्त किया जा सकता है वह "आदेश" है न कि "अधिनिर्णय"। इस मामले में अपनाए गए इस मत के अनुसार आदेश और निर्णय के बीच अंतर है।

11. यह ठीक मत प्रतीत नहीं होता है। नियम 16 के उपनियम (2) के अधीन यह ठीक हो सकता है कि "आदेश" शब्द का प्रयोग किया गया है किन्तु जब आदेश अपास्त हो जाता है तो उसका आवश्यक परिणाम यह है कि श्रम न्यायालय या अधिकरण के विनिश्चय के अनुसरण में दिए गए अधिनिर्णय के सम्बन्ध में एकपक्षीय कार्यवाही करने के लिए स्वतः ही समाप्त हो जाता है। नियम 16 का उपनियम (2) एक समर्थकारी उपबन्ध है और इसलिए यदि उस पक्षकार द्वारा, जिसके विरुद्ध मामले में एकपक्षीय कार्यवाही की गई है, पर्याप्त हेतुक दर्शाया गया है तो वह पक्षकार सुनवाई के लिए हकदार हो जाता है। यदि वह सुनवाई का हकदार हो जाता हैं तो इससे आवश्यक रूप से यह निष्कर्ष निकलता है कि यदि उसके विरुद्ध कोई अधिनिर्णय दिया गया है तो उसे अपास्त किया जा सकता है। अक्सर ऐसा होता है कि अधिकरण या श्रम न्यायालय मामले के सम्बन्ध में एकपक्षीय कार्यवाही का आदेश कर सकता है और उसके पश्चात् उसी दिन वह अधिनिर्णय दे सकता है। उपर्युक्त मामले में अपनाया गया मत नियम 16(2) नकारात्मक हो जाएगा।

12. यह ठीक हो सकता है कि अधिनियम अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए श्रम न्यायालय या अधिकरण को कोई शक्ति प्रदत्त नहीं करता है जबकि यह अन्तिम हो जाता है। किन्तु नियमों को अधिनियम के साथ पढ़ा जाना चाहिए। यदि उन्हें साथ पढ़ा जाता है तो एकपक्षीय रूप से दिए गए अधिनिर्णय को नामंजूर करने की कोई शक्ति नहीं होगी।

13. **पोस्टल सील्स इन्डस्ट्रियल कोआपरेटिव सोसाइटी, अलीगढ़** बनाम **श्रम न्यायालय-II, लखनऊ और अन्य**[2] वाले उपरोक्त मामले में अनेक आस्थगनों के पश्चात् मामले की सुनवाई के लिए 19 जनवरी, 1968 नियत किया गया था और उस तारीख को नियोजक के प्रतिनिधि ने साक्ष्य पेश करने से इनकार

---

[1] 1973 (26) इण्डियन फैक्टरीज एण्ड लेबर रिपोर्ट्स 418.

[2] 1971 (1) एल० एल० जे० 327.

कर दिया था। श्रम न्यायालय ने कर्मकार के साक्ष्य को अभिलिखित किया और तर्कों की सुनवाई करने के पश्चात् 20 जनवरी, 1968 को अधिनिर्णय दिया। इस मामले में प्रश्न यह था कि क्या श्रम न्यायालय ने मामले के आस्थगित न करने में कोई त्रुटि की है और उसके अलावा क्या उसने एकपक्षीय अधिनिर्णय देने में भी कोई त्रुटि की है। उस मामले के पिटीशनर ने पहले ही उच्च न्यायालय में एक रिट फाइल किया था। उस रिट पिटीशन में पिटीशनर ने अधिनिर्णय को अभिखण्डित करने के लिए एक अनुतोष की मांग की थी। इस न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यद्यपि श्रम न्यायालय ने राज्य सरकार को अधिनिर्णय भेज दिया है किन्तु फिर भी उसे एकपक्षीय आदेश को अपास्त करने और अधिनिर्णय को उलटने की शक्ति थी, यदि श्रम न्यायालय इस बारे में संतुष्ट है कि पक्षकार पर्याप्त हेतुक के कारण अनुपस्थित था।

14. **ग्रीन्डलैज बैंक लिमिटेड बनाम केन्द्रीय सरकार औद्योगिक अधिकरण और अन्य**[1] वाले मामले में हाल ही में औद्योगिक विवाद अधिनियम, 1947 (केन्द्रीय), जो कि संयुक्त प्रान्तीय औद्योगिक झगड़ों का ऐक्ट सन् 1947 के समविषयक है, के अधीन निर्देशित किए गए विवाद से उद्भूत ऐसे ही सविवाद पर विचार करने का अवसर था। अधिनियम के उपबन्धों का विश्लेषण करने के पश्चात् उच्चतम न्यायालय ने निम्नलिखित मत अभिव्यक्त किया :—

> "इसलिए अधिनियम की धारा 10 के अधीन निर्देश के बारे में कार्यवाहियों की बाबत यह समझा जाना चाहिए कि वे अधिनिर्णय के प्रकाशित किए जाने से 30 दिन के अवसान पर्यन्त समाप्त नहीं हुई है। तब तक अधिकरण न्यायनिर्णयन के लिए उसे निर्दिष्ट किए गए विवाद पर अधिकारिता रखता है और उस तारीख तक उसे ऐसे विवाद के सम्बन्ध में आवेदन ग्रहण करने की शक्ति रहती है। जब तक कि अधिनिर्णय धारा 17 के अधीन प्रववृत्तनीय नहीं हो जाता है तब तक वह प्रक्रम नहीं आता है।"

15. प्रस्तुत मामले में अधिकरण ने 13 अक्तूबर, 1973 को एकपक्षीय अधिनिर्णय दिया था। 10 दिन की समाप्ति से पूर्व आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त कराने के लिए पिटीशनर द्वारा 18 अक्तूबर, 1973 को एक आवेदन किया गया था। अधिनिर्णय प्रकाशित नहीं किया गया था और न ही किया जा सकता था। अधिकरण को आदेश और अधिनिर्णय को अपास्त करने के लिए आवेदन को ग्रहण करने की अधिकारिता थी। उस तारीख

[1] [1981] 4 उम० नि० प० 857=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 606.

को अधिकरण पदकार्य निवृत नहीं हुआ था। इसने यह अभिनिर्धारित करने में त्रुटि की कि चूंकि अधिनिर्णय सरकार को भेजा गया था इसलिए वह उसे नामंजूर करने की अधिकारिता से विरत हो गया था।

16. नियम 16(1), जिसके अधीन अधिकरण को एकपक्षीय रूप से कार्यवाही करने की शक्ति है, को उसके अन्दर आदेश को भी अपास्त करने की शक्ति अंतर्विष्ट रूप में पढ़ा जाए। इस सम्बन्ध में उच्चतम न्ययालय ने उपर्युक्त मामले में निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

> "नियम 22 के अधीन एकपक्षीय रूप से अग्रसर होने की शक्ति के साथ वह शक्ति भी विद्यमान है जिसके अनुसार यह अन्वेषण किया जाता है कि क्या सुनवाई के समय किसी पक्षकार की अनुपस्थिति के लिए पर्याप्त हेतुक विद्यमान था अथवा नहीं।"

17. प्रस्तुत मामले के समान मामले में जैसा उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया था, प्रत्येक अधिकरण को विधितः ऐसी आनुषंगिक या आकस्मिक शक्ति से युक्त समझा जाना चाहिए जो कि उसे अपने सृजन के उद्देश्यों को प्राप्त करने के प्रयोजन के लिए प्रभावी रूप से कार्यों का निर्वहन करने के लिए योग्य बना सके।

18. अतः हमारी राय यह है कि कृष्ण मोहन सिंह **बनाम** मैसर्स रतन स्टील लिमिटेड लोहता, वाराणसी और अन्य वाला उपरोक्त मामला सही विधि अधिकथित नहीं करता है। तद्नुसार हम उसे उलटते हैं।

19. 13 अक्तूबर, 1973 वाला एकपक्षीय अधिनिर्णय राज्य सरकार द्वारा तारीख 17 दिसम्बर, 1973 की अधिसूचना सं० 764-(एस.टी.)/XXXVII-1018 (एस. टी.)-72 के अधीन तारीख 19 जनवरी, 1974 के उत्तर प्रदेश के राजपत्र में प्रकाशित किया गया था। हमारे इस निष्कर्ष को ध्यान में रखते हुए कि औद्योगिक अधिकरण को तारीख 13 अक्तूबर, 1973 वाले एकपक्षीय आदेश को अपास्त करने की अधिकारिता थी और इसने उस आदेश को उलटने के लिए पिटीशनर के आवेदन को नामंजूर करने में त्रुटि की है। इसलिए अधिनिर्णय अभिखंडित किए जाने योग्य है।

20. इन परिस्थितियों में हम पिटीशन को मंजूर करते हैं और तारीख 19 अक्तूबर, 1973 के आदेश को और तारीख 17 दिसम्बर, 1973 के उत्तर प्रदेश के राजपत्र में प्रकाशित अधिनिर्णय को अभिखंडित करते हैं। औद्योगिक अधिकरण को पिटीशनर के तारीख 18 अक्तूबर, 1973 के

आवेदन की विधि के अनुसार सुनवाई करने और उसको विनिश्चित करने के लिए निदेश दिया जाता है। पक्षकार अपना-अपना खर्चा स्वयं वहन करेंगे।

पिटीशन मंजूर किया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—147

त्रिवेणी इंजीनियरी वर्क्स लिमिटेड बनाम आय-कर आयुक्त, दिल्ली

(The Triveni Engineering Works Ltd. *Vs.* The Commissioner of Income Tax, Delhi)

तारीख 6 अक्तूबर, 1983

[मु० न्या० सतीश चन्द्र; न्या० एच० एन० सेठ, ए० बनर्जी, के० सी० अग्रवाल और आर० एम० सहाय]

यू० पी० शुगर पर्चेज टैक्स ऐक्ट, 1961—धारा 3(3) सपठित आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 28(1) और 37(1)—शुगर केन पर्चेज टैक्स की बकाया पर संदेय ब्याज वस्तुतः शास्ति न होकर पर्चेज टैक्स के दायित्व का अंग होगा और उसकी कटौती उस रूप में की जाएगी जैसे कि पर्चेज टैक्स की और ब्याज का संदाय ऐसी परिस्थितियों में कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से व्यय को प्रदर्शित करेगा।

राजस्व की प्रेरणा पर निर्धारण वर्ष 1971-72 के लिए आय-कर अपील अधिकरण द्वारा निर्देशित प्रश्नों में से एक प्रश्न यह था कि क्या यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट, 1961 के अधीन शुगर केन पर्चेज टैक्स (गन्ना क्रय कर) के संदाय में विलम्ब पर संदत्त ब्याज की आय-कर अधिनियम, 1961 के अधीन कटौती अनुज्ञेय थी?

अभिनिर्धारित—निर्देश का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

न्यायालय की राय यह है कि यू० पी० शुगर केन सैस ऐक्ट, 1956 के उपबन्ध सारतः यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट, 1961 के समविषयक हैं जहां तक उनका दायित्व और ब्याज के संदाय के प्रोद्भूत होने का सम्बन्ध है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुगर केन पर्चेज टैक्स की बकाया पर संदेय ब्याज वस्तुतः पर्चेज टैक्स के दायित्व का अंग है। यह किसी विधि के व्यतिक्रम

के लिए संदत्त शास्ति नहीं है । इसको ध्यान में रखते हुए यह सुस्पष्ट है कि इसकी उस रूप में कटौती की जाएगी जैसे कि पर्चेज टैक्स की । यह कहा जा सकता है कि यह राजस्व व्यय होगा और ब्याज का संदाय ऐसी परिस्थितियों में कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से व्यय को प्रदर्शित करेगा । जब यह अभिनिर्धारित हो जाता है कि ब्याज पर्चेज टैक्स के संदाय के दायित्व का अंग है इसलिए उनके बीच या तो इस बात के लिए कि यह राजस्व व्यय है अथवा यह कि कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से किया गया व्यय है कोई अन्तर नहीं किया जा सकता । राजस्व के विद्वान काउन्सेल की ओर से यह भी सुझाव नहीं दिया गया था कि पर्चेज टैक्स का संदाय राजस्व व्यय नहीं था या यह कि कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से किया गया व्यय नहीं था इसलिए ब्याज का संदाय भी ऐसा ही होगा । (पैरा 9 और 12)

पैरा

[1981] [1981] 1 उम० नि० प० 1307=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 754=(1980) 123 आई० टी० आर० 429: महालक्ष्मी शुगर मिल्स कंपनी **बनाम** आय-कर आयुक्त (Mahalakshmi Sugar Mills Co. *Vs.* C.I.T.); 3

[1976] (1976) 104 आई० टी० आर० 783 : कमला पत मोती लाल **बनाम** आय-कर आयुक्त (Kamlapat Motilal *Vs.* C.I.T.)
का अवलम्ब लिया गया । 5

[1979] (1979) 116 आई० टी० आर० 387 : सराय शुगर प्राइवेट लिमिटेड **बनाम** आय-कर आयुक्त [Saraya मिल्स Sugar Mills (P) Ltd. *Vs.* C.I.T.]
से असहमति प्रकट की गई । 2

[1982] (1982) 135 आई० टी० आर० 227 : बलरामपुर शुगर कम्पनी लिमिटेड **बनाम** आय-कर आयुक्त (Balrampur Sugar Co. Ltd. *Vs.* C.I.T.)
निर्दिष्ट किया गया । 3

पुनरीक्षण अधिकारिता : 1977 का आय-कर निर्देश सं० 526.

अपीलार्थी की ओर से ... सर्वश्री राजेश कुमार अग्रवाल, बी० सी० डे, राजा राम अग्रवाल

विरोधी पक्षकारों की ओर से ... स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० सतीश चंद्र ने दिया।

मु० न्या० सतीश चंद्र :

राजस्व की प्रेरणा पर निर्धारण वर्ष 1971-72 के लिए आय-कर अपील अधिकरण द्वारा निर्देशित प्रश्नों में से एक प्रश्न यह था कि क्या यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट, 1961 के अधीन शुगर केन पर्चेज टैक्स (गन्ना क्रय कर) के संदाय में विलम्ब पर संदत्त ब्याज की आय-कर अधिनियम, 1961 के अधीन कटौती अनुज्ञेय थी।

2. इस निर्देश की सुनवाई के समय राजस्व ने **सराय शुगर मिल्स प्राइवेट लिमिटेड** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के विनिश्चय का अवलम्ब लिया।

3. निर्धारिती की ओर से यह निवेदन किया गया था कि सराय शुगर मिल्स वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय ठीक विधि नहीं है क्योंकि **महालक्ष्मी शुगर मिल्स कम्पनी** बनाम **आय-कर आयुक्त**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय ने उसे उलट दिया था। इसके समर्थन में **बलरामपुर शुगर कम्पनी लिमिटेड** बनाम **आय-कर आयुक्त**[3] वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया था।

4. खण्ड न्यायपीठ ने निर्देश की सुनवाई करते समय 5 न्यायाधीशों की एक पूर्ण न्यायपीठ द्वारा निम्नलिखित प्रश्न को विनिश्चय के लिए निर्देशित किया है।

> क्या सराय शुगर मिल्स वाले मामले में पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय ठीक विधि अधिकथित करता है ?

5. सराय शुगर मिल्स वाले मामले में इस न्यायालय की तीन न्यायाधीशों वाली पूर्ण न्यायपीठ ने **कमला पत मोतीलाल** बनाम **आय-कर**

---

[1] (1979) 116 आई टी० आर० 387.

[2] [1981] 1 उम० नि० प० 1307=ए० आई० आर० 1980 एस० सी० 754=(1980) 123 आई० टी० आर० 429.

[3] (1982) 135 आई० टी० आर० 227.

आयुक्त[1] वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय पर विचार किया था और इसे उलट दिया था। कमला पत मोती लाल वाले मामले में दो प्रतिपादनाएं अधिकथित की गई थीं—

1. यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट में ब्याज को शास्ति नहीं कहा गया था। इसमें ब्याज और शास्ति के लिए अलग-अलग उपबन्ध किया गया था और इसमें उनकी वसूली के लिए भी स्वतंत्र उपबन्ध किए गए थे। ब्याज शास्ति नहीं था। कारबार चलाने में निर्धारिती अपनी वित्तीय प्रतिबद्धता का निर्वहन समय पर करने में समर्थ नहीं था और उसके परिणामस्वरूप उसे नुकसानी या ब्याज का संदाय करना होता था। ऐसी स्थिति कारबार की सामान्य आकस्मिकता है और ऐसी परिस्थितियों के अधीन निर्धारिती को हुई कोई हानि धारा 37(1) के अधीन कटौती करने योग्य है।

2. पर्चेज टैक्स का संदाय एक कानूनी यथार्थता है और उस पर ब्याज संदेय था। यदि मूल-धन (अर्थात् पर्चेज टैक्स) अनुज्ञेय कटौती है तो उस पर संदेय ब्याज भी समान रूप से अनुज्ञेय होगा क्योंकि मूल धन और ब्याज दोनों एक साथ निर्धारिती के दायित्व को गठित करते हैं और इस प्रकार ब्याज मूलधन के समान कारबार को चलाने के लिए आकस्मिक हानि को दर्शित करते हैं और धारा 28(1) के अधीन निर्धारण योग्य लाभ की संगणना करते समय कटौती किए जाने योग्य है।

उल्लिखित कारणों से पूर्ण न्यायपीठ ने इन दो प्रतिपादनाओं का अनुमोदन नहीं किया था।

6. महालक्ष्मी शुगर मिल्स कम्पनी **बनाम** आय-कर आयुक्त वाले उपरोक्त मामले में उच्चतम न्यायालय ने यू० पी० शुगर केन सैस ऐक्ट (उत्तर प्रदेश गन्ना उपकर अधिनियम) के उपबन्धों पर विचार किया था। इसके विभिन्न उपबन्धों का विश्लेषण करने के पश्चात् न्यायालय ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

"यह स्पष्ट है कि धारा 3(2) में उपकर के उसी तारीख को संदाय करने की अपेक्षा की गई है जो नियमों के अधीन विहित की जाए। यू० पी० शुगर केन सैस रूल्स, 1956 के नियम 4 में ...

---

1 (1976) 104 आई० टी० आर० 783.

उपबन्ध किया गया है कि प्रत्येक कैलेण्डर वर्ष के प्रथम पक्ष के दौरान परिसरों में प्रवेश करने वाली ईख पर शोध्य उपकर को उस मास के बाइसवे दिन तक सरकारी खजाने में जमा करा दिया जाना चाहिए तथा शेष मास के लिए शोध्य उपकर आने वाले अगले मास के सातवें दिन से पूर्व जमा कर दिया जाना चाहिए। यदि उपकर का संदाय विनिर्दिष्ट तारीख तक नहीं किया जाता है तब धारा 3(3) के आधार पर उपकर की बकाया पर विनिर्दिष्ट तारीख से संदाय की तारीख तक प्रतिवर्ष 6 प्रतिशत की दर से ब्याज लगेगा। धारा 3(5) एक बहुत ही भिन्न प्रकार का उपबन्ध है। इसका सम्बन्ध उपकर की बकाया पर संदत्त ब्याज से नहीं है अपितु इसमें ऐसे व्यक्ति से जो कर का संदाय करने में असफल रहता है, शास्ति के रूप में वसूल की जाने वाली अतिरिक्त राशि का उपबन्ध किया गया है। यह उपकर की बकाया और उस पर शोध्य ब्याज से अलग चीज है।"

इसके अतिरिक्त यह अभिनिर्धारित किया :—

"अतः धारा 3(3) के अधीन उपकर की बकाया पर देय ब्याज वास्तविक रूप से उपकर के संदाय के दायित्व का ही एक भाग है। यह उपकर का ही संवर्धन है। उपकर की बकाया पर ब्याज 'लगता है', यदि उपकर का संदाय विहित अवधि के भीतर नहीं किया जाता है तो एक अधिक बड़ी राशि उपकर के रूप में से देय होगी। उपकर के दायित्व का वृद्धिकरण धारा 3(3) के अधीन स्वयं हो जाता है। इस हेतु कोई विनिर्दिष्ट आदेश करना आवश्यक नहीं है कि ब्याज के संदाय की बाध्यता उपगत होनी चाहिए। ब्याज का संदाय करने का दायित्व उतना ही निश्चित है जितना उपकर का संदाय करने का दायित्व। जैसे ही उपकर का संदाय किए बिना विहित तारीख निकल जाती है, ब्याज उपगत होना आरम्भ हो जाता है। यह कोई शास्ति नहीं है जिसके लिए धारा 3(5) द्वारा पृथक् रूप से उपबन्ध किया गया है। अतः न ही यह धारा 4 के अर्थान्तर्गत कोई शास्ति है जो दाण्डिक दायित्व और दाण्डिक अभियोजन के लिए उपबन्ध करती है?"

तब न्यायालय ने धारा 3(6) पर विचार किया जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि अधिकारी बकाया रकम, जिसमें ब्याज सम्मिलित है, को विनिर्दिष्ट करते हुए कलक्टर को प्रमाणपत्र अग्रेपित करने के लिए सशक्त है और यह

अभिनिर्धारित किया कि इससे यह दर्शित होता है कि ब्याज उपकर की बकाया का भाग था ।

7. उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट की धारा 3(3) उपकर अधिनियम की धारा 3(3) की समविषयक है किन्तु न्यायालय ने यह मत अभिव्यक्त किया :—

> "किन्तु हम यह सोचते हैं कि हम प्रलोभन में न आएं कि उस विनिश्चय के निर्णय पर विचार करें जबकि हमारे समक्ष ऐसी कोई अपील नहीं है ।"

8. बलरामपुर शुगर कम्पनी वाले मामले में कलकत्ता उच्च न्यायालय के समक्ष यह मामला आया था । यह अभिनिर्धारित किया गया था कि यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट और यू० पी० शुगर केन सैस ऐक्ट के उपबंध चूंकि समविषयक हैं इसलिए महा लक्ष्मी शुगर मिल्स वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय शुगर केन सैस (गन्ना उपकर) की बकाया पर संदेय ब्याज की प्रकृति शुगर केन पर्चेज टैक्स के बकाया के ब्याज पर लागू होता है। इसमें यह अभिनिर्धारित किया गया कि महा लक्ष्मी शुगर मिल्स वाले मामले में उच्चतम न्यायालय का विनिश्चय सराय शुगर मिल्स वाले मामले में इस न्यायालय के विनिश्चय को उलटता है । इस विनिश्चय में दो अधिनियमों के विभिन्न उपबन्धों को सविस्तार दिया गया है और उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि वे समविषयक हैं ।

9. हमारी राय यह है कि यू० पी० शुगर केन सैस ऐक्ट, 1956 के उपबन्ध सारत: यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स ऐक्ट, 1961 के समविषयक हैं जहां तक उनका दायित्व और ब्याज के संदाय के प्रोद्भूत होने का सम्बन्ध है । महालक्ष्मी शुगर मिल्स वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अपनाया गया मत शुगर केन पर्चेज टैक्स की बकाया पर ब्याज के दायित्व के प्रोद्भूत होने के प्रश्न पर यू० पी० शुगर केन पर्चेज टैक्स के उपबन्धों को लागू होता है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि शुगर केन पर्चेज टैक्स की बकाया पर संदेय ब्याज वस्तुत: पर्चेज टैक्स के दायित्व का अंग है । यह किसी विधि के व्यतिक्रम के लिए संदत्त शास्ति नहीं है । इसको ध्यान में रखते हुए यह सुस्पष्ट है कि इसकी उस रूप में कटौती की जाएगी जैसे कि पर्चेज टैक्स की । यह कहा जा सकता है कि यह राजस्व व्यय होगा और ब्याज का संदाय ऐसी परिस्थितियों में कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णत: या अनन्य रूप से व्यय को प्रदर्शित करेगा ।

10. राजस्व की ओर से विद्वान काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि महालक्ष्मी शुगर मिल्स वाले मामले में एक स्थान पर उच्चतम न्यायालय ने यह मत अभिव्यक्त किया था :—

> "सच्चाई यह कि धारा 3(3) के अधीन उपबन्धित ब्याज उपकर के संदाय में विलम्ब के लिए सरकार को संदत्त प्रतिकर की किस्म है। यह शास्ति नहीं है।"

11. उन्होंने इस बात पर जोर दिया कि यह कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से किया गया व्यय नहीं था।

12. उल्लिखित तर्क नामंजूर समझा जाए। जब यह अभिनिर्धारित हो जाता है कि ब्याज पर्चेज टैक्स के संदाय के दायित्व का अंग है इसलिए उनके बीच या तो इस बात के लिए कि यह राजस्व व्यय है अथवा यह कि कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से किया गया व्यय है कोई अन्तर नहीं किया जा सकता। राजस्व के विद्वान काउन्सेल की ओर से यह भी सुझाव नहीं दिया गया था कि पर्चेज टैक्स का संदाय राजस्व व्यय नहीं था या यह कि कारबार के प्रयोजन के लिए पूर्णतः या अनन्य रूप से किया गया व्यय नहीं था, इसलिए ब्याज का संदाय भी ऐसा ही होगा।

13. इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सराय शुगर मिल्स वाले मामले में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ का विनिश्चय ठीक विधि अधिकथित नहीं करता है। ठीक विधि कमला पत मोती लाल वाले मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ के विनिश्चय में अधिकथित की गई थी।

14. इस राय और उत्तर के साथ कागज-पत्र सम्बद्ध न्यायपीठ के समक्ष रखे जाएं।

निर्देश का सकारात्मक उत्तर दिया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—154

एम० ए० चौधरी बनाम भारत संघ और अन्य

(M.A. Chowdhary *Vs.* The Union of India and others)

तारीख 7 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० एन० सिंह और बी० एन० खरे]

संविधान, 1950—अनुच्छेद 311(2) सपठित मूल नियमावली का नियम 54 और 54(क)(3)—सेवा के निबन्धनों और शर्तों के अनुसार पिटीशनर की सेवाएं समाप्त करते हुए प्रत्यर्थी द्वारा सूचना का जारी किया जाना—न्यायालय द्वारा उक्त सूचना को अभिखंडित करते हुए पिटीशनर के सेवा में बने रहने और उसको उन उपलब्धियों का संदाय करने के लिए निदेश दिया जाना जिनका वह हकदार था—प्रत्यर्थी द्वारा पिटीशनर को सेवा में पुनः स्थापित किया जाना और पूरे वेतन और भत्तों का संदाय न किया जाना—उक्त नियम 54(क)(3) के अनुसार पदच्युति या सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृत किए जाने के आदेश को अपास्त करते समय यदि न्यायालय सम्बलम और भत्तों के संदाय के सम्बन्ध में कोई निदेश जारी करता है तो वह सक्षम प्राधिकारी पर आबद्ध होंगे और सरकारी सेवक अपने पुनःस्थापन पर उस अवधि जिसके दौरान वह नियोजन से बाहर रहा था, के लिए सभी प्रयोजनों के लिए कर्त्तव्य पर माना जाएगा और वह पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा।

इस पिटीशन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि न्यायालय द्वारा किसी सेवक की पदच्युति या सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृत किए जाने के आदेश को अपास्त किए जाने पर क्या सरकारी सेवक अपने पुनःस्थापन पर पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा।

अभिनिर्धारित—पिटीशन मंजूर किया गया।

मूल नियम 54 सरकारी सेवक को उसके कर्तव्य से अनुपस्थित रहने की अवधि के लिए संदत्त किए जाने वाले वेतन और भत्तों के सम्बन्ध में सक्षम प्राधिकारी को आदेश करने के लिए शक्ति प्रदत्त करता है। जब वह सरकारी सेवक जिसे पदच्युत किया गया है : सेवा से हटाया गया है या अनिवार्यतः निवृत किया गया है किसी अपील या पुर्नविलोकन में विभागीय प्राधिकारियों द्वारा पुनःस्थापित किया जाता है तो पुनःस्थापन का आदेश करने वाला सक्षम प्राधिकारी उसके कर्तव्य से अनुपस्थित रहने की अवधि के लिए सरकारी

सेवक के वेतन और भत्तों के संदाय के लिए आदेश पारित करने की शक्ति निहित होती है और इसके अतिरिक्त सक्षम प्राधिकारी यह विनिश्चित करने के लिए सशक्त होता है कि क्या उक्त अवधि को कर्तव्य पर व्यतीत की गई अवधि मानी जाए या नहीं। जहां विधि न्यायालय द्वारा पदच्युति, हटाया जाना या सेवा समाप्ति अविधिमान्य घोषित की जाती है और इसके अतिरिक्त इस बारे में यह घोषणा की जाती है कि सरकारी सेवक सेवा में बना रहा है, इस न्यायनिर्णयन का प्रभाव यह है कि लोक सेवक को लोक सेवक के रूप में अपने कर्तव्यों को संभालने से सदोष निवारित किया गया था और वह सेवा में बना हुआ है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पद्च्युति या सेवा से हटाये जाने के आदेश को अपास्त करते समय यदि न्यायालय सम्बलम और भत्तों के संदाय के सम्बन्ध मे कोई निर्देश जारी करता है तो वह सक्षम प्राधिकारी पर आवद्ध होंगे और सरकारी सेवक उस अवधि जिसके दौरान वह नियोजन में नहीं था, के लिए पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा और सक्षम प्राधिकारी को उसकी अनुपस्थिति की अवधि को नियमित करने के लिए या छुट्टी मंजूर करने या उसके वेतन और भत्तों से कोई कटौती करने या सरकारी सेवक को निलम्बनाधीन समझने की कोई अधिकारिता नहीं है। यदि न्यायालय कोई निर्देश जारी नहीं करता है और यदि पदच्युति, सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यत: निवृति का आदेश न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 311(2) के अधीन यथाअनुध्यात प्रतिरक्षा के अवसर से इनकार करने के आधार पर अपास्त किया जाता है और यदि सरकारी सेवक को गुणागुण के आधार पर माफ नहीं किया जाता है तो ऐसे सरकारी सेवक के वेतन और भत्तों का प्रश्न नियम 54 के उपनियम (5) के साथ पठित उपनियम (2) के अनुसार अवधारित किया जाना चाहिए। किन्तु यदि पदच्युति सेवा से हटाया जाना या अनिवार्यत: सेवा निवृति न्यायालय द्वारा गुणागुण के आधार पर अपास्त किया जाता है तो सरकारी सेवक अपने पुन:स्थापन पर सभी प्रयोजनों के लिए ड्यूटी पर समझा जाएगा और वह पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा। किन्तु वह उपनियम (5) के अध्यधीन है जिसमें कि उसके द्वारा उस अवधि के दौरान जो कि उसके पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यत: सेवा निवृति की तारीख और उसके पुन:स्थापन की तारीख के बीच की अवधि में किसी नियोजन के माध्यम से अर्जित की गई रकम, यदि कोई हो, के समायोजन के लिए उपबन्ध करता है। न तो नियम 54 और न ही 54-क में उस सरकारी सेवक जिसे न्यायालय द्वारा उसकी सेवा समाप्ति के आदेश को अपास्त करने के अनुसरण में सेवा में पुन:स्थापित किया जाता है, के वेतन और भत्तों का अवधारण करने के लिए उपबन्ध करता

है । दोनों नियम उस स्थिति से सम्बद्ध हैं जहां पर सरकारी सेवक को उसके विरुद्ध विरचित आरोपों पर सेवा से पदच्युत, हटाया जाता है या अनिवार्यतः निवृत किया जाता है और दण्ड का आदेश या तो विभागीय प्राधिकारी द्वारा या न्यायालय द्वारा अपास्त किया जाता है । नियम 54 के उपनियम (2) में यह अधिकथित किया गया है कि जहां पर सक्षम प्राधिकारी सरकारी सेवक को उसे पूर्णतः माफ करने के पश्चात् पुनःस्थापित करता है, सरकारी सेवक को नियम 54 के उपनियम (6) के उपबन्धों के अध्यधीन पूरे वेतन और भत्ते संदत्त किए जाएंगे । ऐसी स्थिति में उसके कर्तव्य से अनुपस्थिति की अवधि जिसमें पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृति से पूर्व निलम्बन की अवधि सम्मिलित है, उपनियम (3) के अधीन कर्तव्य पर बिताई गई अवधि समझी जाएगी । नियम 54 के अन्य उपनियमों को निर्देशित करना आवश्यक नहीं है क्योंकि वे सभी ऐसी स्थिति से सम्बन्धित हैं जहां पर सरकारी सेवक विभागीय प्राधिकारियों द्वारा सेवा में पुनः स्थापति किया जाता है । नियम 54 ऐसे मामले को लागू नहीं होता जहां सरकारी सेवक सेवा में विधि न्यायालय द्वारा पदच्युति, सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृति के आदेश को अपास्त करने पर पुनः स्थापित किया जाता है । नियम 54-क ऐसे मामले से सम्बद्ध है जहां पर पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृति न्यायालय द्वारा अपास्त की जाती है । इसके अंतर्गत सेवा की समाप्ति का मामला नहीं आता है । सेवा की समाप्ति "पदच्युति" "हटाया जाना" या "अनिवार्यतः निवृति" अभिव्यक्ति के अंतर्गत नहीं आता क्योंकि ये अभिव्यक्तियां जैसा कि नियम 54-क में आते हैं दण्ड के रूप में पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृति को द्योतित करती है । सेवा समाप्ति का अनपकारी आदेश सामान्यतः दण्ड के रूप में नहीं होता है । अतः जहां पर सेवा समाप्ति का आदेश न्यायालय द्वारा अपास्त किया जाता है और सरकारी सेवक पुनःस्थापति किया जाता है तो नियम 54-क लागू नहीं होगा बल्कि इसके बजाय न्यायालय के निदेशों के अनुसार वेतन और भत्ते संदेय किए जाएंगे । उस समय कठिनाई उत्पन्न हो सकती है जब न्यायालय सेवा समाप्ति का आदेश अपास्त करते हुए कोई निर्देश जारी नहीं करता है । क्या ऐसे मामले में सक्षम प्राधिकारी को सरकारी सेवक को पूरे सम्वलम और भत्तों का संदाय करना चाहिए । मूल नियम 54-क के शाब्दिक अर्थान्वियन पर भी यह ऐसे मामले को लागू नहीं होता है किन्तु किसी अन्य ऐसे नियम के अभाव में जो कि वेतन और भत्तों के नियतन के लिए उपबन्ध करता हो, नियम 54-क के उपनियम (3) के अधीन सिद्धांत लागू होंगे और सरकारी सेवक सभी प्रयोजनों के लिए जिसमें उस अवधि के पूरे वेतन और भत्तों का संदाय सम्मिलित है,

जिसमें उसे कर्तव्यों से निवारित किया गया था, कर्तव्य पर समझे जाने का हकदार है बशर्ते कि उसने उस अवधि के दौरान कहीं और कोई नियोजन न किया हो। अनुकल्पतः नियम 54-क में प्रयुक्त हुए "हटाया जाना" अभिव्यक्ति के उदारतापूर्ण अर्थान्वयन करने पर उसमें "सेवा समाप्ति" भी सम्मिलित होगी। "सेवा से हटाया जाना" में अपने व्यापक अर्थ में "सेवा समाप्ति" अभिव्यक्ति सम्मिलित है। यदि ऐसा हो तो उपनियम (3) लागू होगा और सरकारी सेवक न्यायालय द्वारा उसकी सेवा की समाप्ति के आदेश को अपास्त करने के अनुसरण में पुनःस्थापन पर पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा। इसके अलावा जब सेवा समाप्ति का आदेश न्यायालय द्वारा अपास्त किया जाता है तो इससे यह अभिप्रेत होता है कि सरकारी सेवक को अपने कार्य भार सम्भालने से सदोष निवारित किया गया था। ऐसे मामले में सरकारी सेवक अपने पुनःस्थापन पर पूरे वेतन और भत्तों का हकदार है और उसकी अनुपस्थिति की अवधि कर्तव्य पर बिताई गई समझी जाएगी। चूंकि पिटीशनर की सेवा समाप्ति न्यायालय द्वारा मामले के गुणागुण के आधार पर अपास्त की गई थी, इसलिए नियम 54-क के उपनियम (3) में अधिकथित सिद्धांत लागू होंगे और पिटीशनर 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 तक की अवधि के लिए पूरे वेतन और भत्तों का हकदार है। न्यायालय के निदेशों के अधीन अन्यथा भी पिटीशनर सभी प्रयोजनों के लिए अपनी अनुपस्थिति के दौरान ड्यूटी पर समझे जाने और पूरे वेतन और भत्तों का हकदार था। न्यायालय का "पिटीशनर को सेवा में समझने और उसे वह वेतन और उपलब्धियां, जिनके लिए वह हकदार था" न्यायालय के निर्देश से सारतः यह अभिप्रेत है कि पिटीशनर सभी प्रयोजनों के लिए ड्यूटी पर समझा जाएगा और उसे विवादग्रस्त अवधि के लिए वेतन और भत्ते संदत्त किए जाएंगे। प्रत्यर्थियों को विधितः उसकी अनुपस्थिति की अवधि को नियम 53 के अधीन उसको छुट्टी मंजूर करके नियमित करने की कोई अधिकारिता नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्हें उसके सम्बलम् और भत्तों को रोकने का भी प्राधिकार नहीं है जिनके लिए पिटीशनर हकदार था। पिटीशनर पहले ही अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए तैयार और इच्छुक था किन्तु उसे सेवा समाप्ति के उस आदेश के कारण ऐसा करने से निवारित किया गया था जो कि इस न्यायालय द्वारा पिटीशनर को सभी प्रयोजनों के लिए कर्तव्य पर समझने के निदेश सहित अवैध घोषित किया गया था। न्यायालय विवश होकर यह मत अभिव्यक्त करता है कि भारत संघ और उसके अधिकारियों ने पिटीशनर के विरुद्ध एक मुकदमेबाजी का दृष्टिकोण अपनाया है। जब पिटीशनर की सेवा समाप्ति न्यायालय द्वारा अपास्त की गई थी और आदेश अंतिम हो

गया था तो प्रत्यर्थियों को सब प्रकार से न्यायालय के आदेश को कार्यान्वित करना चाहिए था। पिटीशनर को पूरे वेतन और भत्तों से इनकार करके प्रत्यर्थियों ने पुनः पिटीशनर को इस न्यायालय में धकेल दिया है। यह चिन्ता का विषय है कि पिटीशनर के साथ उचित व्यवहार नहीं किया गया है और उसे विवश होकर पुन इस मामले में न्यायालय का द्वार खटखटाना पड़ा है जबकि प्रत्यर्थी इस न्यायालय के आदेशों को कार्यान्वित करने के लिए आबद्ध थे। न्यायालय का आदेश स्पष्ट था फिर भी प्रत्यर्थियों ने पिटीशनर को उस अवधि के लिए जिसके दौरान वह नियोजन में नहीं था, ड्यूटी पर मानने से इनकार किया है। (पैरा 6, 8, 9, 10, 11 और 12)

		पैरा
[1962]	ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1334 : देवेन्द्र प्रताप नारायण राय शर्मा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (Devendra Pratap Narain Rai Sharma *Vs.* State of U.P. and others) का अवलम्ब लिया।	6

आरम्भिक सिविल रिट अधिकारिता : 1976 का सिविल प्रकीर्ण रिट पिटीशन सं० 582 (क)।

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री जे० एन० तिवारी

विरोधी पक्षकार की ओर से ... स्थायी काउन्सेल और चांद किशोर

न्यायालय का निर्णय न्या० के० एन० सिंह ने दिया।

न्या० सिंह :

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन के माध्यम से पिटीशनर ने उसको आकाशवाणी, वाराणसी के स्टेशन इंजीनियर द्वारा तारीख 31 दिसम्बर, 1975 द्वारा जारी की गई सूचना, जिसमें पिटीशनर के 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 तक की अवधि, जिसके दौरान वह नियोजन में नहीं था, के लिए शुल्क और भत्ते नियत किए गए थे, की विधिमान्यता को चुनौती दी है।

2. पिटीशनर को प्रारम्भ में 3 वर्ष की अवधि के लिए आकाशवाणी के महानिदेशक के साथ एक करार निष्पादित करके आकाशवाणी मुम्बई में स्टाफ आर्टिस्ट के रूप में नियुक्त किया गया था। उसके पश्चात् उसका

नियोजन अगले 3 वर्ष की अवधि के लिए नवीकृत किया गया था। बाद में करार के साथ एक यह खण्ड जोड़ा गया था कि वह 31 दिसम्बर, 1985 तक सेवा में रहेगा, जिस तारीख को उसे अधिवर्षिता की आयु प्राप्त करनी थी। करार के निबन्धनों में से एक निबन्धन यह उपबंधित किया गया था कि पिटीशनर की सेवाएं किसी भी पक्ष की ओर से 6 मास का नोटिस देने पर समाप्त की जा सकेंगी। जब पिटीशनर वाराणसी में तैनात था तो उसको यह जानकारी देते हुए तारीख 5 अक्तूबर, 1970 की एक सूचना जारी की गई थी कि सेवा के निबन्धनों और शर्तों के अनुसार उक्त सूचना की तारीख से 6 मास की अवधि की समाप्ति के पश्चात् उसकी सेवाएं समाप्त हो जाएंगी। पिटीशनर ने इस न्यायालय में एक रिट पिटीशन के माध्यम से इस आदेश की विधिमान्यता को चुनौती दी थी जिसको 12 जुलाई, 1974 को मंजूर कर लिया गया था। विद्वान न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि पिटीशनर संविधान के अनुच्छेद 311 के अधीन सिविल पद धारण किए हुए था और इसलिए उसकी सेवाएं उसको 6 मास का नोटिस देकर विधितः समाप्त नहीं की जा सकती थीं। विद्वान न्यायाधीश ने सेवा समाप्ति के नोटिस को अभिखंडित कर दिया और प्रत्यर्थियों को पिटीशनर को सेवा में बने रहने के लिए निदेश दिया और उसको उन उपलब्धियों का संदाय करने के लिए भी निदेश दिया जिनका वह हकदार था।

3. भारत संघ ने विद्वान एकल न्यायाधीश के निर्णय के विरुद्ध इस न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ के समक्ष विशेष अपील की किन्तु वह असफल रहा और विद्वान एकल न्यायाधीश के आदेश की पुष्टि की गई थी। उस पर भारत संघ ने उच्चतम न्यायालय के समक्ष विशेष इजाजत पिटीशन फाइल किया किन्तु वह भी असफल हुआ और इस न्यायालय का निर्णय अंतिम हो गया। उसी दौरान पिटीशनर को 1 अगस्त, 1974 को अपना कार्यभार सम्भालने के लिए अनुज्ञात किया गया। पिटीशनर ने 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 तक की अवधि, जिसके दौरान वह अपनी सेवाओं की समाप्ति के कारण सेवा से बाहर रहा था, के लिए अपने वेतन और अन्य भत्तों का दावा किया। स्टेशन इंजीनियर ने अपने तारीख 31 दिसम्बर, 1975 के आदेश द्वारा पिटीशनर को यह जानकारी दी कि उसको 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 तक की अवधि के लिए उसके शुल्क और भत्तों के संदाय के सम्बन्ध में यह विनिश्चित किया गया था कि पिटीशनर का मामला मूल नियम 54-क के खण्ड (2) के अंतर्गत आता था और मूल नियम 54 के उपनियम (4)(5) और (7) के उपबंधों को ध्यान में रखते हुए यह विनिश्चित किया

गया था कि पिटीशनर को निर्वाह भत्ते के बराबर वे शुल्क और भत्ते संदत्त किए जाएं जो कि उसके पुनःस्थापन की तारीख से ठीक 3 वर्ष पूर्व की अवधि के लिए उसको देय हों। आदेश में यह कहा गया था कि निर्वाह भत्ता मूल नियमों के नियम 53(1) के अधीन संदेय छुट्टी के वेतन के बराबर होंगे। इसके अतिरिक्त आदेश में यह उल्लेख किया गया था कि मूल नियम 54(4) के अधीन शुल्क और भत्तों की रकम, जिसके लिए पिटीशनर हकदार था, 232.60 रुपये प्रतिमास थी। पिटीशनर ने उपर्युक्त आदेश के विरुद्ध अभ्यावेदन दिया। उसने यह प्राख्यान किया कि मूल नियम 53, 54 या 54-क उसके मामले को लागू नहीं होते थे और वह न्यायालय के निदेश को ध्यान में रखते हुए उसकी वेतन-वृद्धियों सहित पूर्ण वेतन और भत्तों को संदत्त किए जाने का हकदार था। पिटीशनर का अभ्यावेदन स्वीकार नहीं किया गया था। उसे यह जानकारी दी गई थी कि उसके बकाया संदाय उस सीमा तक किया जाएगा जैसा कि उसे सूचित किया गया था। पिटीशनर ने सविरोध संदाय को स्वीकार कर लिया। इससे व्यथित होकर पिटीशनर ने इस पिटीशन के माध्यम से इस न्यायालय का द्वार खटखटाया है।

4. पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल ने इस बात पर जोर दिया कि चूंकि पिटीशनर की सेवाएं सेवा संविदा के निबन्धनों के अनुसार उसके विरुद्ध बिना किसी अपराध या अवचार के अभिकथनों के समाप्त की गई थीं इसलिए मूल नियम 53 या 54-क लागू नहीं होता है। पूर्वतर पिटीशन में इस न्यायालय द्वारा जारी किए गए निदेश को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर पूरे वेतन और भत्तों का हकदार है। प्रत्यर्थी इस न्यायालय के निदेश को मानने और उसके कार्यान्वयन के लिए आबद्ध थे। प्रत्यर्थियों की ओर से इस बात पर जोर दिया गया कि पिटीशनर का मामला मूल नियम 54-क के खण्ड (2) के अंतर्गत आता है और मूल नियम 54 के उपनियम (4) और (5) को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर उन निर्वाह भत्तों, जो कि उसे उक्त उपबन्धों के अधीन उस समय देय थे यदि उसे 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 तक की अवधि के लिए निलम्बन के अधीन रखा जाता, के बराबर शुल्क और भत्तों का हकदार है।

5. मूल नियम 53 में निलम्बनाधीन या निलम्बन के अधीन रखे गए रूप में समझे जाने वाले सरकारी सेवक को निर्वाह भत्ते और अन्य भत्तों के संदाय के अवधारण का उपबन्ध किया गया है। पिटीशनर को कभी भी निलम्बन के अधीन नहीं रखा गया था और न ही उसे नियुक्ति प्राधिकारी के

किसी आदेश द्वारा निलम्बन के अधीन रखा गया समझा गया था बल्कि उसके बजाय उसकी सेवाएं सेवाओं की संविदा के निबन्धनों के अधीन समाप्त की गई थीं। मूल नियम 53 के उपबन्ध पिटीशनर के वेतन और भत्तों का अवधारण करने के लिए लागू नहीं होता है।

6. मूल नियम 54 सरकारी सेवक को उसके कर्त्तव्य से अनुपस्थित रहने की अवधि के लिए संदत्त किए जाने वाले वेतन और भत्तों के सम्बन्ध में सक्षम प्राधिकारी को आदेश करने के लिए शक्ति प्रदत्त करता है। जब वह सरकारी सेवक जिसे पदच्युत किया गया है, सेवा से हटाया गया है या अनिवार्यतः निवृत्त किया गया है किसी अपील या पुनर्विलोकन में विभागीय प्राधिकारियों द्वारा पुनःस्थापित किया जाता है तो पुनःस्थापन का आदेश करने वाला सक्षम प्राधिकारी उसके कर्त्तव्य से अनुपस्थित रहने की अवधि के लिए सरकारी सेवक के वेतन और भत्तों के संदाय के लिए आदेश पारित करने की शक्ति निहित होती है और इसके अतिरिक्त सक्षम प्राधिकारी यह विनिश्चित करने के लिए सशक्त होता है कि क्या उक्त अवधि को कर्त्तव्य पर व्यतीत की गई अवधि मानी जाए या नहीं। जहां विधि न्यायालय द्वारा पदच्युति, हटाया जाना या सेवा समाप्ति अविधिमान्य घोषित की जाती है और इसके अतिरिक्त इस बारे में यह घोषणा की जाती है कि सरकारी सेवक सेवा में बना रहा है, इस अधिनिर्णयन का प्रभाव यह है कि लोक सेवक को लोक सेवक के रूप में अपने कर्त्तव्यों को संभालने से संदेश निवारित किया गया था और वह सेवा में बना हुआ है। **देवेन्द्र प्रताप वाले**[1] मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसी स्थिति में सक्षम प्राधिकारी को उस पारिश्रमिक, जो कि यदि उसे कार्य करने की अनुज्ञा दी जाती वह अर्जित करता, से लोक सेवक को वंचित करने की स्वतंत्रता नहीं होगी।

7. मूल नियम 54-क उस सरकारी सेवक, जिसकी पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति विधि न्यायालय द्वारा अपास्त किए जाने के पश्चात् सेवा में पुनःस्थापित किया जाता है, के वेतन और भत्तों की संगणना करने के लिए उपबन्ध करता है। नियम के उपनियम (2) में यह अधिकथित किया गया है कि जहां सरकारी सेवक की पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 311 के खण्ड (2) की अपेक्षाओं के अननुपालन के मात्र आधार पर अपास्त की जाती है और जहां पर उसे गुणागुण के आधार पर माफ नहीं किया जाता है तो सरकारी

---

1 ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1334.

सेवक नियम 54 के उपनियम (7) के उपबन्धों के अध्यधीन होगा और उसे वेतन और भत्तों की ऐसी रकम (जो पूर्ण नहीं होगी) दी जाएगी जिसके लिए वह उस समय हकदार होता यदि उसे ऐसी पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति से पूर्व पदच्युति हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्त या निलम्ब न किया गया हो, जैसी भी स्थिति हो, जैसा कि सक्षम प्राधिकारी विनिश्चित करे। यह उपनियम ऐसी स्थिति से सम्बद्ध है जहां पर सरकारी सेवक को उसके विरुद्ध लम्बित जांच के दौरान निलम्बनाधीन रखा जाता है और बाद में उसे पदच्युत, हटाया जाता है या अनिवार्यतः निवृत्त किया जाता है और उस आदेश को न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 311 के खण्ड (2) की अपेक्षा के अननुपालन के आधार पर अपास्त किया जाता है। जहां पर सरकारी सेवक को गुणागुण के आधार पर माफ नहीं किया जाता है उसके सम्बलम और भत्ते मूल नियम 54 के उपनियम (3) के अनुसार संदेय होंगे। सक्षम प्राधिकारी सरकारी सेवक को सूचना देने के पश्चात् और उसके अभ्यावेदन, यदि कोई हो, पर विचार करने के पश्चात् वेतन और भत्तों की मात्रा अवधारित करेगा। इसके अतिरिक्त इसमें यह उपबन्ध किया गया है कि पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति जिसमें पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृत्ति की अवधि से पूर्व निलम्बन की अवधि सम्मिलित है, के बीच की अवधि को सरकारी सेवक को देय किसी भी प्रकार की छुट्टी में परिवर्तित की जाएगी।

8. नियम 54-क का उपनियम (2) ऐसी स्थिति से संबंधित है जहां पर किसी सरकारी सेवक की पदच्युति, सेवा से हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 311 के खण्ड (2) की अपेक्षा के अननुपालन के आधार पर अपास्त किया जाता है। यह उस स्थिति से सम्बद्ध नहीं है जहां पर किसी सरकारी सेवक की सेवा समाप्ति, पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति न्यायालय द्वारा मामले के गुणागुण के आधार पर अपास्त किया जाता है। वह स्थिति नियम के उपनियम (3) के अंतर्गत आती है जिसमें यह उपबन्ध किया गया है कि यदि किसी सरकारी सेवक की पदच्युति, हटाया जाना या सेवा निवृत्ति न्यायालय द्वारा मामले के गुणागुण के आधार पर अपास्त किया जाता है तो पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति, जिसमें ऐसी पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृत्ति, जैसी भी स्थिति हो, की अवधि सम्मिलित है, के बीच की अवधि और पुनःस्थापन की तारीख के बीच की अवधि सभी प्रयोजनों के लिए ड्यूटी समझी जाएगी और उसे उस अवधि के लिए पूरा वेतन और भत्ते संदत्त किए जाएंगे जिनके लिए

वह उस समय हकदार होता यदि उसे पदच्युत, हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृत्त या निलम्बित न किया गया हो। यहां पर यह उल्लेख करना आवश्यक है कि उपनियम (2) और (3) न्यायालय के निदेशों, यदि कोई हों, के अध्यधीन हैं, जैसा कि मूल नियम 54-क के उपनियम (1) द्वारा उपबन्धित किया गया है। इस प्रकार यह स्पष्ट है कि पदच्युति या सेवा से हटाए जाने के आदेश को अपास्त करते समय यदि न्यायालय सम्बलम और भत्ते के संदाय के सम्बन्ध में कोई निदेश जारी करता है तो वह सक्षम प्राधिकारी पर आबद्ध होंगे और सरकारी सेवक उस अवधि, जिसके दौरान वह नियोजन से बाहर रहा था, के लिए पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा और सक्षम प्राधिकारी को उसकी अनुपस्थिति की अवधि को नियमित करने के लिए या छुट्टी मंजूर करने या उसके वेतन और भत्तों से कोई कटौती करने या सरकारी सेवक को निलम्बनाधीन समझने की कोई अधिकारिता नहीं है। यदि न्यायालय कोई निदेश जारी नहीं करता है और यदि पदच्युति, सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृत्ति का आदेश न्यायालय द्वारा संविधान के अनुच्छेद 311(2) के अधीन यथाअनुध्यात प्रतिरक्षा के अवसर से इनकार करने के आधार पर अपास्त किया जाता है और यदि सरकारी सेवक को गुणागुण के आधार पर माफ नहीं किया जाता है तो ऐसे सरकारी सेवक के वेतन और भत्तों का प्रश्न नियम 54 के उपनियम (5) के साथ पठित उपनियम (2) के अनुसार अवधारित किया जाना चाहिए। किन्तु यदि पदच्युति, सेवा से हटाया जाना या अनिवार्यतः सेवा निवृत्ति न्यायालय द्वारा गुणागुण के आधार पर अपास्त किया जाता है तो सरकारी सेवक अपने पुनःस्थापन पर सभी प्रयोजनों के लिए ड्यूटी पर समझा जाएगा और वह पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा। किन्तु वह उपनियम (5) के अध्यधीन है जिसमें कि उसके द्वारा उस अवधि के दौरान जो कि उसके पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यतः सेवा निवृत्ति की तारीख और उसके पुनःस्थापन की तारीख के बीच की अवधि में किसी नियोजन के माध्यम से अर्जित की गई रकम, यदि कोई हो, के समायोजन के लिए उपबन्ध करता है।

9. न तो नियम 54 और न ही 54-क में उस सरकारी सेवक जिसे न्यायालय द्वारा उसकी सेवा समाप्ति के आदेश को अपास्त करने के अनुसरण में सेवा में पुनःस्थापित किया जाता है, के वेतन और भत्तों का अवधारण करने के लिए उपबन्ध करता है। दोनों नियम उस स्थिति से सम्बद्ध हैं जहां पर सरकारी सेवक को उसके विरुद्ध विरचित आरोपों पर सेवा से पदच्युत,

हटाया जाता है या अनिवार्यतः निवृत किया जाता है और दण्ड का आदेश या तो विभागीय प्राधिकारी द्वारा या न्यायालय द्वारा अपास्त किया जाता है। नियम 54 के उपनियम (2) में यह अधिकथित किया गया है कि जहां पर सक्षम प्राधिकारी सरकारी सेवक को उसे पूर्णतः माफ करने के पश्चात् पुनः स्थापिन करता है, सरकारी सेवक को नियम 54 के उपनियम (6) के उपबन्धों के अध्यधीन पूरे वेतन और भत्ते संदत्त किए जाएंगे। ऐसी स्थिति में उसके कर्तव्य से अनुपस्थिति की अवधि जिसमें पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृति से पूर्व निलम्बन की अवधि सम्मिलित है, उपनियम (3) के अधीन कर्तव्य पर बिताई गई अवधि समझी जाएगी। नियम 54 के अन्य उपनियमों को निर्देशित करना आवश्यक नहीं हैं क्योंकि वे सभी ऐसी स्थिति से संबंधित हैं जहां पर सरकारी सेवक विभागीय प्राधिकारियों द्वारा सेवा में पुनःस्थापित किया जाता है। नियम 54 ऐसे मामले को लागू नहीं होता जहां सरकारी सेवक सेवा में विधि न्यायालय द्वारा पदच्युति, सेवा से हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृति के आदेश को अपास्त करने पर पुनःस्थापित किया जाता है। नियम 54-क ऐसे मामले से सम्बद्ध है जहां पर पदच्युति, हटाया जाना या अनिवार्यतः निवृति न्यायालय द्वारा अपास्त की जाती है। इसके अंतर्गत सेवा की समाप्ति का मामला नहीं आता है। सेवा की समाप्ति "पदच्युति", "हटाया जाना" या "अनिवार्यतः निवृति" अभिव्यक्ति के अंतर्गत नहीं आता क्योंकि ये अभिव्यक्तियां जैसा कि नियम 54-क में आते हैं दण्ड के रूप में पदच्युति, हटाए जाने या अनिवार्यतः निवृति को द्योतित करती हैं। सेवा समाप्ति का अनपकारी आदेश सामान्यतः दण्ड के रूप में नहीं होता है। अतः जहां पर सेवा समाप्ति का आदेश न्यायालय द्वारा अपास्त किया जाता है और सरकारी सेवक पुनः स्थापित किया जाता है तो नियम 54-क लागू नहीं होगा बल्कि इसके बजाय न्यायालय के निदेशों के अनुसार वेतन और भत्ते सदेय किए जाएंगे।

10. उस समय कठिनाई उत्पन्न हो सकती है जब न्यायालय सेवा समाप्ति का आदेश अपास्त करते हुए कोई निदेश जारी नहीं करता है। क्या ऐसे मामले में सक्षम प्राधिकारी को सरकारी सेवक को पूरे सम्बलम और भत्तों का संदाय करना चाहिए। मूल नियम 54-क के शाब्दिक अर्थान्वयन पर भी यह ऐसे मामले को लागू नहीं होता है किन्तु किसी अन्य ऐसे नियम के अभाव में जो कि वेतन और भत्तों के नियतन के लिए उपबन्ध करता हो, नियम 54-क के उपनियम (3) के अधीन सिद्धांत लागू होंगे और सरकारी सेवक सभी प्रयोजनों के लिए जिसमें उस अवधि के पूरे वेतन और भत्तों का संदाय सम्मिलित है, जिसमें उसे कर्तव्यों से निवारित किया गया था, कर्तव्य पर

समझे जाने का हकदार है बशर्ते कि उसने उस अवधि के दौरान कहीं और कोई नियोजन न किया हो। अनुकल्पत: नियम 54-क में आए हुए "हटाया जाना" अभिव्यक्ति के उदारतापूर्ण अर्थान्वयन करने पर उसमें "सेवा समाप्ति" भी सम्मिलित होगी। "सेवा से हटाया जाना" में अपने व्यापक अर्थ में "सेवा समाप्ति" अभिव्यक्ति सम्मिलित है। यदि ऐसा हो तो उपनियम (3) लागू होगा और सरकारी सेवक न्यायालय द्वारा उसकी सेवा की समाप्ति के आदेश को अपास्त करने के अनुसरण में पुन:स्थापन पर पूरे वेतन और भत्तों का हकदार होगा। इसके अलावा जब सेवा समाप्ति का आदेश न्यायालय द्वारा अपास्त किया जाता है तो इससे यह अभिप्रेत होता है कि सरकारी सेवक को अपने कर्तव्यों पर जाने से गलत रूप से निवारित किया गया था। ऐसे मामले में सरकारी सेवक अपने पुन:स्थापन पर पूरे वेतन और भत्तों का हकदार है और उसकी अनुपस्थिति की अवधि कर्तव्य पर बिताई गई समझी जाएगी जैसा कि देवेन्द्र प्रताप वाले उपरोक्त मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया है।

11. प्रस्तुत मामले में पिटीशनर की सेवाएं उसे निलम्बन के अधीन बिना रखे हुए और किसी आरोप के विरचन के बिना या उसके विरुद्ध किसी जांच करने के बिना समाप्त की गई थीं। प्रत्यर्थियों का मामला यह रहा है कि सेवा समाप्ति का आदेश न तो पदच्युति था और न ही सेवा से हटाया जाना और न ही अनिवार्यत: निवृति था बल्कि इसके बजाय वह सेवा की संविदा के निबन्धनों के अनुसार सेवा समाप्ति का आदेश था। न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि पिटीशनर चूंकि एक स्थायी कर्मचारी के रूप में उसकी सेवाएं उस रीति में, जिसमें ऐसा किया गया है, समाप्त नहीं की जा सकती थी और पिटीशनर संविधान के अनुच्छेद 311(2) की सुरक्षा का हकदार था। सेवा समाप्ति का आदेश न्यायालय द्वारा अपास्त किया गया था और पिटीशनर को सेवा में समझने के निदेश जारी किया गया था और उसको उन सभी उपलब्धियों का संदाय करने के लिए निदेश दिया गया था जिनके लिए वह हकदार था। रिट पिटीशन को मंजूर करते हुए विद्वान न्यायाधीश ने निम्नलिखित आदेश पारित किया :—

> "परिणामत: पिटीशन सफल होता है और उसे खर्चे सहित मंजूर किया जाता है। तारीख 5 अक्तूबर, 1970 वाली आक्षेपित सूचना जिसके द्वारा पिटीशनर की सेवा समाप्त की गई है, अभिखण्डित किया जाता है। प्रत्यर्थियों को पिटीशनर को अब भी सेवा में समझने के

लिए निदेश दिया जाता है और उसे उन उपलब्धियों का संदाय करने के लिए निदेश दिया जाता है जिसके लिए वह हकदार है।"

उपर्युक्त आदेश की विशेष अपील में और उच्चतम न्यायालय की विशेष इजाजत पिटीशन में पुष्टि की गई थी। चूंकि पिटीशनर की सेवा समाप्ति न्यायालय द्वारा मामले के गुणागुण के आधार पर अपास्त की गई थी इसलिए नियम 54-क के उपनियम (3) में अधिकथित सिद्धांत लागू होंगे और पिटीशनर 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 तक की अवधि के लिए पूरे वेतन और भत्तों का हकदार है। न्यायालय के निदेशों के अधीन अन्यथा भी पिटीशनर सभी प्रयोजनों के लिए अपनी अनुपस्थिति के दौरान ड्यूटी पर समझे जाने और पूरे वेतन और भत्तों का हकदार था। न्यायालय का "पिटीशनर को सेवा में समझने और उसे वह वेतन और उपलब्धियां, जिनके लिए वह हकदार था" न्यायालय के निदेश से सारत: यह अभिप्रेत है कि पिटीशनर सभी प्रयोजनों के लिए ड्यूटी पर समझा जाएगा और उसे विवादग्रस्त अवधि के लिए पूरे वेतन और भत्ते संदत्त किए जाएंगे। प्रत्यर्थियों को विधित: उसकी अनुपस्थिति की अवधि को नियम 53 के अधीन उसको छुट्टी मंजूर करके नियमित करने की कोई अधिकारिता नहीं है। इसके अतिरिक्त उन्हें उसके सम्बलम् और भत्तों को रोकने का भी प्राधिकार नहीं है जिनके लिए पिटीशनर हकदार था। पिटीशनर पहले ही अपने कर्तव्यों का निर्वहन करने के लिए तैयार और इच्छुक था किन्तु उसे सेवा समाप्ति के उस आदेश के कारण ऐसा करने से निवारित किया गया था जो कि इस न्यायालय द्वारा पिटीशनर को सभी प्रयोजनों के लिए कर्तव्य पर समझने के निदेश सहित अवैध घोषित किया गया था। प्रत्यर्थियों ने नियम 53 और 54-क (2) के अनुसार 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 की अवधि को नियमित करने में इस न्यायालय के आदेश का पूर्णत: असम्मान करते हुए कार्यवाही की है। प्रत्यर्थियों ने बिना किसी औचित्य के पिटीशनर के सम्बलम् और भत्तों को रोका है।

12. हम विवश होकर यह मत अभिव्यक्त करते हैं कि भारत संघ और उसके अधिकारियों ने पिटीशनर के विरुद्ध एक मुकदमेबाजी का दृष्टिकोण अपनाया है। जब पिटीशनर की सेवा समाप्ति न्यायालय द्वारा अपास्त की गई थी और आदेश अन्तिम हो गया था तो प्रत्यर्थियों को सब प्रकार से न्यायालय के आदेश को कार्यान्वित करना चाहिए था। पिटीशनर को पूरे वेतन और भत्तों से इनकार करके प्रत्यर्थियों ने पुन: पिटीशनर को इस न्यायालय में धकेल दिया है। यह चिन्ता का विषय है कि पिटीशनर के साथ उचित व्यवहार नहीं किया

गया है और उसे पुनः इस मामले में न्यायालय का द्वार मजबूरन खटखटाना पड़ा है जबकि प्रत्यर्थी इस न्यायालय के आदेशों को कार्यान्वित करने के लिए आबद्ध थे। न्यायालय का आदेश स्पष्ट था फिर भी प्रत्यर्थियों ने पिटीशनर को उस अवधि के लिए, जिसके दौरान वह नियोजन से बाहर रहा था, ड्यूटी पर मानने से इनकार किया है।

13. परिणामतः हम पिटीशन मंजूर करते हैं और तारीख 31-12-1975 की सूचना और तारीख 12 मार्च, 1976 के आदेश को अभिखण्डित करते हैं। इसके अतिरिक्त हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि पिटीशनर 5 अप्रैल, 1971 से 31 जुलाई, 1974 की अवधि तक अपने पूरे वेतन और भत्तों का हकदार है। प्रत्यर्थियों को पिटीशनर को यथाशीघ्र संदाय करने का निदेश दिया जाता है। पिटीशनर खर्चे का हकदार है।

पिटीशन मंजूर किया गया।

चन्द

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—167

साहू गोविन्द प्रसाद बनाम आय-कर आयुक्त, लखनऊ

(Sahu Govind Prasad *Vs.* C.I.T., Lucknow)

[तारीख 20 अक्तूबर, 1983]

[मु० न्या० सतीश चन्द्र और न्या० एच० एन० सेठ तथा ए० बनर्जी]

आयकर अधिनियम, 1961, धारा 64(ii)—पिता और अवयस्क पुत्रों का एक ही फर्म में भागीदार होना—निर्धारिती के अवयस्क पुत्रों की फर्म से प्राप्त शेयर-आय, आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) के अधीन, निर्धारिती की आय के रूप में, उसकी कुल आय संगणित करने में जोड़ी जा सकती है।

साहू माधो प्रसाद और साहू गोविन्द प्रसाद दो भाई थे। दोनों एक ही फर्म में भागीदार थे। ये अपने-अपने अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब के कर्ता भी थे। इनके अवयस्क पुत्र भी उक्त फर्म के भागीदार थे और उन्हें फर्म के लाभों में सम्मिलित कर लिया गया था। आय-कर विभाग ने आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) के अन्तर्गत माधो प्रसाद का व्यक्तिगत हैसियत में

निर्धारण करने में उसकी कुल आय संगणित करते समय उसमें उसके अवयस्क पुत्रों की फर्म से प्राप्त शेयर-आय भी जोड़ दी थी।

किन्तु जब वर्ष 1972-73 के लिए गोविन्द प्रसाद का भी निर्धारण करते समय उसके अवयस्क पुत्र की शेयर-आय को भी उसकी आय में जोड़ा गया था तो उसने आय-कर अपील अधिकरण से उच्च न्यायालय में निर्देश करने की प्रार्थना की, चूंकि आन्ध्र प्रदेश न्यायालय ने इसी प्रश्न के बारे में एक भिन्न मत अपनाया था। निर्धारिती ने उच्च न्यायालय में निर्देश के लिए आवेदन किया। उसने आय-कर अपील अधिकरण का ध्यान आय-कर आयुक्त बनाम संका संकरैय्या में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय वाले मामले में दिए गए निर्णय के प्रति आकर्षित किया। इस विनिश्चय में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से असहमति प्रकट की थी। इसलिए विधि के निम्नलिखित प्रश्न को इस न्यायालय के लिए निर्दिष्ट कर दिया गया : "क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए अधिकरण के लिए विधि की दृष्टि से यह अभिनिर्धारित करना सही था कि सिद्धार्थ प्रसाद और राहुल प्रसाद अर्थात् निर्धारिती के अवयस्क पुत्रों की शेयर-आय, जो मैसर्स अरबिन्द कोल्ड स्टोरेज से प्राप्त हुई थी, आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) के अधीन निर्धारिती की आय के रूप में सही तौर से शामिल की गई थी ?"

विचार के लिए जो सारवान् प्रश्न इस निर्देश में उद्भूत होता है वह यह कि क्या आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) में आने वाले शब्द 'व्यष्टि' (इंडिवीजुअल) शब्द के अन्तर्गत हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता भी आता है अथवा नहीं, जिससे कि उसके अवयस्क पुत्रों की वह आय जो कि उस फर्म में भागीदारी के लाभों से प्राप्त होती है, जिस फर्म में उनका पिता भी हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता की हैसियत से भागीदार है, व्यष्टि की हैसियत से पिता के निर्धारण में उसकी कुल आय में भी जोड़ी जा सकती है अथवा नहीं। यह प्रश्न आय-कर अधिनियम, 1961 की उस धारा 65(ii) के संदर्भ में उत्पन्न होता है, जैसी यह धारा आय-कर विधि (संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा अधिनियम के संशोधन से पूर्व थी, जो संशोधन 1 अप्रैल, 1975 से प्रवृत्त हुआ।

अभिनिर्धारित—प्रश्न का उत्तर सकारात्मक दिया गया।

इन्कम टैक्स ऐक्ट, 1922 की धारा 16(3) का विधायी इतिहास यह है कि आय-कर जांच रिपोर्ट, 1936 में यह उल्लेख किया गया था कि ऐसे अनेक

मामले हैं जहां कि पति और पिता अपनी पत्नियों और अवयस्क पुत्रों को फर्मों में शेयर देकर भागीदार बना लेते हैं और इस प्रकार से भागीदारी के लाभों में उनकी शेयर-आय के सम्बन्ध में आय-कर के संदाय की चोरी करते हैं। उन्होंने पत्नी या अवयस्क संतान की ऐसी शेयर-आय को उनके पति/पिता की आय में जोड़े जाने का सुझाव दिया। विधानमंडल ने इस रिपोर्ट पर विचार किया और आय-कर (संशोधन) अधिनियम, 1937 के द्वारा इन्कम-टैक्स, 1922 में धारा 16(3) अन्तःस्थापित की गई। आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64 ही पुरानी धारा 16(3) की उत्तराधिकारी धारा है। (पैरा 7, 10)

धारा 16(3)(क)(1) में 'पत्नी' शब्द का प्रयोग किया गया था। धारा 64 में इसके स्थान पर पति या पत्नी शब्द का प्रयोग किया गया है। स्पष्टीकरण में स्थिति को और स्पष्ट कर दिया गया है। इस धारा में "व्यष्टि" शब्द से केवल पुरुष व्यक्ति ही अभिप्रेत है। इसका अर्थ है कि पति या पत्नी अथवा माता या पिता, पुरुष अथवा स्त्री दोनों में से कोई एक हो सकता है। इस धारा की यह अपेक्षा है कि (1) कारबार करने वाली एक भागीदारी फर्म होनी चाहिए, (2) व्यष्टि की पति या पत्नी तथा/या अवयस्क संतान भागीदारी फर्म के फायदों में शामिल होनी चाहिए अथवा भागीदार होनी चाहिए, (3) ऐसा व्यष्टि भी उस फर्म का भागीदार होना चाहिए। यदि यह बातें विद्यमान हैं तो धारा 64 लागू होती है। इस धारा के अधीन पति या पत्नी तथा/या अवयस्क संतान की ऐसी फर्म से प्राप्त शेयर-आय व्यष्टि की कुल आय संगणित करते समय शामिल की जाएगी। (पैरा 10, 11)

प्रश्न यह है कि "जिसमें ऐसा व्यष्टि भागीदार है" पदावली का क्या अर्थ है जो धारा 64(1) के दो खंडों के अंत में आती है। क्या इसके अतर्गत कर्ता भी आता है, यदि वह मात्र एक भागीदार है अथवा क्या यह ऐसे व्यक्ति तक ही निर्बंधित है जो अपने अधिकार स्वरूप अर्थात् शुद्ध अपनी व्यक्तिगत हैसियत में एक भागीदार है ? कोई मानव या तो पति-पत्नी हो सकता है या माता-पिता। वह एक समय में ही अवयस्क संतान का अभिरक्षक या हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब आदि का कर्ता हो सकता है। वह ये सब कुछ हो सकता है या इनमें से कोई एक भी हो सकता है और इसके अतिरिक्त, यह उस फर्म में भागीदार भी हो सकता है जिसमें उसकी पति-पत्नी अथवा उसकी अवयस्क संतान भी भागीदार हैं। हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के मामले को ही लिया जाए। वह किसी फर्म में एक भागीदार हो सकता है। कर्ता के रूप में वह अपने कुटुम्ब के सदस्यों का प्रतिनिधित्व करता है।

किन्तु "यह भली-भांति सुस्थिर है कि जब संयुक्त अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब का कर्ता अपरिचित व्यक्तियों के साथ भागीदार बनता है तो उसके कुटुम्ब के सदस्य मात्र इसी तथ्य के कारण उस फर्म में भागीदार नहीं हो जाते। (पैरा 13, 14 और 15)

व्यष्टि होने के कारण किसी भागीदार की दुहरी हैसियत हो सकती है अर्थात् वह प्रतिनिधि हो सकता है और व्यष्टि भी हो सकता है। वह प्रतिनिधि भी हो सकता है अर्थात् अन्य व्यक्तियों अर्थात् भागीदारों से भिन्न व्यक्तियों के संदर्भ में वह कर्ता हो सकता है। किन्तु अपने भागीदारों के साथ वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में कार्यकर्ता है। भागीदार, कर्ता और अन्य भागीदारों के बीच सम्बन्ध एक व्यक्तिगत सम्बन्ध है। अन्य भागीदारों के साथ प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य नहीं करता। यह स्थिति उस समय नहीं बदलती और बदल भी नहीं सकती जबकि अन्य भागीदारों का उससे पत्नी या अवयस्क संतान का सम्बन्ध होता है। इस बात को दोहराते हुए धारा 64 में यह अपेक्षा की गई है कि कोई व्यष्टि और उसकी पत्नी तथा/या अवयस्क संतान एक-दूसरे के साथ (फर्म में) भागीदार होने चाहिएं। इतना ही पर्याप्त है। उनके अन्य परस्पर सम्बन्ध सुसंगत नहीं हैं। यह तथ्य कि वह कर्ता भी है या अभिरक्षक भी है या न्यासी है या बेनामीदार है, ये सब सारवान् नहीं हैं। (पैरा 17)

एक अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब अपने आप में निर्धारण योग्य निकाय या यूनिट है। कर्ता के द्वारा अर्जित आय पर हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में कर लगाया जाता है। ऐसी आय का कोई भाग उसके व्यष्टिक निर्धारण में संगणित नहीं किया जाता। जब धारा 64 किसी व्यष्टि की कुल आय संगणित करने की बात कहती है तो प्रत्यक्षतः यह ऐसी संगणना से ऐसी आय को अपवर्जित करती है जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारण योग्य है। धारा 64 किसी फर्म से कर्ता को प्राप्त शेयर-आय के बारे में नहीं है। यह धारा व्यष्टि की पति या पत्नी अथवा अवयस्क संतान की फर्म से प्राप्त शेयर-आय को उस व्यष्टि की ऐसी अन्य आय के साथ जोड़ने तक सीमित है जो उसकी व्यक्तिगत हैसियत में निर्धारण योग्य है। अतः यह स्पष्ट है कि भागीदारी फर्म से कर्ता को प्राप्त शेयर-आय पर धारा 64 के अधीन दूसरी बार कर नहीं लगाया जा सकता। (पैरा 18)

न्यायालय की राय में, स्थिति बिल्कुल उल्टी है। हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता की दोहरी हैसियत/स्थिति होती है। भागीदारी के संदर्भ में वह अपनी

व्यक्तिगत हैसियत में कार्य करता है; अपने पक्षकारों के संदर्भ में वह एक प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करता है । किन्तु दोनों ही दशाओं में वह एक व्यक्ति तो है ही । न्यायालय इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि यदि वह एक प्रतिनिधि है तो वह एक व्यष्टि नहीं है । वह व्यष्टि तो रहता ही है यद्यपि जो आय वह प्रतिनिधि की हैसियत से अर्जित करता है वह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब या ऐसे व्यक्तियों के ग्रुप या संगम की आय के रूप में कराधेय है, जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है । किन्तु वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में भी निर्धारण योग्य है । अतः कोई कर्ता एक प्रतिनिधि भी हो सकता है, किन्तु वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत नहीं खो देता है; वह एक व्यष्टि भी बना ही रहता है । (पैरा 24)

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64 उस आय को लागू नहीं होती जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारण योग्य है । यह धारा केवल व्यक्तिगत निर्धारिती (व्यष्टि) के मामले तक ही सीमित रहती है । यह व्यष्टि के निर्धारण की संगणना करने में पति/पत्नी अथवा अवयस्क बालक की आय को जोड़ने की अपेक्षा करती है । यह धारा भागीदारी फर्म से होने वाली व्यष्टि की शेयर-आय तक ही आवश्यकतः सीमित नहीं है । यदि भागीदारी फर्म से व्यष्टि की शेयर-आय ऐसे व्यष्टि की कुल आय संगणित करते समय शामिल किए जाने योग्य है तो यह इस प्रकार ही शामिल की जा सकती है । ऐसा उस समय होगा जबकि व्यष्टि अपनी व्यक्तिगत हैसियत में भागीदार है । किन्तु यदि वह प्रतिनिधि की हैसियत से भागीदार है तो इसका परिणाम यह होगा कि वह सम्पूर्ण आय जो वह फर्म से अपने शेयर के रूप में प्राप्त करता है । और उस प्रविष्टि के रूप में इसका निर्धारण किया जाता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, तो शेयर-आय धारा 64 की परिधि से बाहर है । फिर भी पति/पत्नी अथवा अवयस्क संतान की उस फर्म से प्राप्त शेयर आय, व्यष्टि की हैसियत में उसके निर्धारण में ऐसे व्यक्ति की कुल आय संगणित करते समय शामिल की जाएगी । (पैरा 27)

		पैरा
[1977]	(1977) 112 आई०टी०आर० 492 : माधो प्रसाद **बनाम** आय-कर आयुक्त [Madho Prasad *Vs.* C.I.T. (1)];	2, 5, 19
[1965]	(1965) 55 आई०टी०आर० 660 : आय-कर आयुक्त **बनाम** भाग्य लक्ष्मी एण्ड कम्पनी (Commissioner, Income-tax *Vs.* Bagyalakshmi & Company) का **अवलम्ब** लिया गया ।	16, 21

[1979] (1979) 118 आई० टी० आर० 122 : दीनू भाई ईश्वरी लाल पटेल **बनाम** के० डी० दीक्षित, आय-कर अधिकारी (Dinubhai Ishvarilal Patel *Vs.* K.D. Dixit, Income-tax Officer); 5

[1978] (1978) 113 आई० टी० आर० 313 : आय-कर आयुक्त **बनाम** संका संकरैय्या (C.I.T. *Vs* Sanka Sankeraiah) 4, 5

से प्रभेद बतलाया गया।

[1956] (1956) 29 आई० टी० आर० 525 (पूर्ण न्यायपीठ): मैसर्स भगत राम मोहन लाल **बनाम** अतिलाभ कर आयुक्त (M/s. Bhagat Ram Mohanlal *Vs.* Commssioner of Excess Profits Tax); 15

[1955] (1955) 27 आई० टी० आर० 9 : सोद्रा देवी **बनाम** आय-कर आयुक्त (Sodra Devi *Vs.* C.I.T.) 8

[1953] (1953) 23 आई० टी० आर० 41 : आय-कर आयुक्त **बनाम** दमयंती साहनी (Commissioner, Income Tax *Vs.* Damayanti Sahni); 8

[1953] (1953) 23 आई० टी० आर० 345 : मुस्तकीम बेगम वाला मामला (In re Mustaqima Begum); 8

[1950] (1950) 18 आई० टी० आर० 944 : चन्दा देवी **बनाम** आय-कर आयुक्त (Chanda Devi *Vs.* Commissioner, Income Tax) 8

निर्दिष्ट किए गए।

[1982] (1982) 138 आई० टी० आर० 291 : प्रयाग दास राजगढ़िया **बनाम** आय-कर आयुक्त (Prayag Dass Rajgarhia *Vs.* Commissioner, Income-Nax) 28

[1980] (1980) 121 आई० टी० आर० 873 : आय-कर आयुक्त **बनाम** आनन्द स्वरूप (C.I.T. *Vs.* Anand Sarup) 5, 26

विसम्मति प्रकट की गई।

निर्देश (आय-कर) अधिकारिता : 1978 का आय-कर निर्देश सं० 957.

आय-कर अधिनियम 1961 के अधीन निर्देश ।

आवेदक की ओर से ... श्री भरत जी अग्रवाल ।

प्रत्यर्थी की ओर से ... —

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० सतीश चन्द्र ने दिया ।

मु० न्या० सतीश चन्द्र :

साहू माधो प्रसाद और साहू गोविन्द प्रसाद दो भाई थे । इनमें से प्रत्येक का व्यष्टि की हैसियत से आय-कर अधिनियम के अधीन निर्धारण किया गया था । ये अपने-अपने अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब के कर्ता थे और इन अविभक्त हिन्दू कुटुम्बों का भी निर्धारण किया गया था । मजे की बात यह है कि दोनों भाई, साहू माधो प्रसाद और साहू गोविन्द प्रसाद, अरविंद कोल्ड स्टोरेज नामक एक फर्म के भागीदार थे । दोनों भाइयों के अवयस्क पुत्र भी इस भागीदारी फर्म के लाभों में सम्मिलित कर दिए गए थे ।

2. 1967-68 से लेकर 1969-70 के निर्धारण वर्षों के लिए अरविंद कोल्ड स्टोरेज नामक फर्म से अवयस्क पुत्रों को प्राप्त शेयर-आय, व्यष्टि की हैसियत से अपने-अपने पिता के निर्धारण में कुल आय संगणित करते समय शामिल की गई थी । निर्धारिती (माधो प्रसाद) को इससे शिकायत हुई और उसने यह मामला उठाया किन्तु असफल रहा । उसने इस न्यायालय में आवेदन किया । इस न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(1) के अधीन अवयस्क पुत्र की शेयर-आय भी उसके पिता के व्यष्टिक निर्धारण के समय उसकी आय के साथ जोड़ी जा सकती थी—भले ही अवयस्क पुत्र का पिता व्यक्तिगत हैसियत से फर्म में भागीदार था या संयुक्त परिवार के कर्ता के रूप में अपनी प्रतिनिधायी हैसियत से भागीदार था । पिता की व्यक्तिगत आय में अवयस्क पुत्र के शेयर की आय का जोड़ा जाना कायम रखा गया था । इस न्यायालय का यह निर्णय **माधो प्रसाद बनाम आय-कर आयुक्त**[1] में रिपोर्ट किया गया है ।

3. यही समस्या दूसरे भाई साहू गोविन्द प्रसाद के मामले में 1972-73 (जिसके पूर्ववर्ती वर्ष का अंत 31 मार्च, 1972 को हुआ) निर्धारण वर्ष के लिए उठी थी । राजस्व प्राधिकारियों ने गोविन्द प्रसाद के अवयस्क पुत्रों की फर्म से

[1] (1977) 112 आई० टी० आर० 492.

हुई शेयर-आय को पिता के व्यष्टिक निर्धारण में जोड़ दिया था। अरविन्द कोल्ड स्टोरेज फर्म में गोविन्द प्रसाद की शेयर-आय का निर्धारण हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में किया गया था, जिसके गोविन्द प्रसाद कर्ता थे। गोविन्द प्रसाद की यह शेयर-आय व्यक्तिगत हैसियत में उसकी कुल आय संगणित करते समय शामिल नहीं की गई थी। साहू गोविन्द प्रसाद के व्यष्टि के रूप में किए गए निर्धारण आदेश के परिशीलन से यह पता लगता है कि विभिन्न स्रोतों से उसकी कुल आय 40,475 रुपये निर्धारण की गई थी। इस संख्या में अरविन्द कोल्ड स्टोरेज फर्म से हुई गोविन्द प्रसाद की शेयर-आय न तो निर्धारण के प्रयोजन के लिए शामिल की गई थी और न दर के प्रयोजन के लिए। निर्धारण आदेश में आगे यह और कहा गया था :—

> "निर्धारिती के दो अवयस्क पुत्र—श्री सिद्धार्थ प्रसाद और श्री राहुल प्रसाद, मैसर्स गोविन्द कोल्ड स्टोरेज, लखनऊ नामक फर्म में 12.5% के भागीदार हैं और प्रत्येक के लाभ का भाग 5,142 रुपये अवधारित किया गया। क्योंकि उनके पुत्र श्री गोविन्द प्रसाद भी उसी फर्म में एक भागीदार है इसलिए अवयस्क पुत्रों के लाभ का अंश निर्धारिती की आय के रूप में निर्धारित किया गया है। इस प्रकार से 10,284 रुपए और शामिल किए जाएंगे। इस तरह सभी स्रोतों से कुल आय 60,759 रुपये होती है।"

4. निर्धारिती (गोविन्द प्रसाद) ने उच्च न्यायालय में निर्देश के लिए आवेदन किया। उसने आय-कर अपील अधिकरण का ध्यान **आय-कर आयुक्त बनाम संका संकरैया**[1] में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय वाले मामले में दिए गए निर्णय के प्रति आकर्षित किया। उस विनिश्चय में आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने इलाहाबाद उच्च न्यायालय द्वारा अपनाए गए मत से असहमति प्रकट की थी। तदनुसार अधिकरण ने यह महसूस किया कि यह एक महत्वपूर्ण प्रश्न है और इसलिए विधि के निम्नलिखित प्रश्न को इस न्यायालय के लिए निर्दिष्ट कर दिया :—

> "क्या मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए अधिकरण के लिए विधि की दृष्टि से यह अभिनिर्धारित करना सही था कि सिद्धार्थ प्रसाद और राहुल प्रसाद अर्थात् निर्धारिती के अवयस्क पुत्रों की शेयर-आय, जो मैसर्स अरविन्द कोल्ड स्टोरेज से प्राप्त हुई थी,

---

[1] (1978) 113 आई० टी० आर० 313.

आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) के अधीन निर्धारिती की आय के रूप में सही तौर से शामिल की गई थी ?"

5. यह निर्देश सुनवाई के लिए इस न्यायालय की एक खंड न्यायपीठ के समक्ष पेश किया गया। इस समय तक **माधो प्रसाद के मामले**[1] में इस न्यायालय के विनिश्चय से गुजरात उच्च न्यायालय ने **दीनू भाई ईश्वर लाल पटेल बनाम के० डी० दीक्षित, आय-कर अधिकारी**[2] के मामले में और पंजाब तथा हरियाणा उच्च न्यायालय ने **आय-कर आयुक्त बनाम आनन्द स्वरूप**[3] के मामले में सहमति प्रकट कर दी थी। खंड न्यायपीठ ने इस बात पर भी ध्यान दिया कि उच्च न्यायालय ने राजस्व विभाग द्वारा **संका संकरैया के मामले**[4] में आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के विनिश्चय के विरुद्ध किए गए विशेष इजाजत के पिटीशन को भी खारिज कर दिया था। न्यायपीठ ने यह महसूस किया कि मामले की परिस्थितियों को देखते हुए **माधो प्रसाद के मामले**[1] पर पुनर्विचार किए गए कि कोई आवश्यकता नहीं। अतः उन्होंने यह निर्देश विनिश्चय के लिए एक वृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट कर दिया। इस प्रकार से यह मामला इस पूर्ण न्यायपीठ के समक्ष आया है।

6. विचार के लिए जो सारवान् प्रश्न इस निर्देश में उद्‌भूत होता है वह यह कि क्या आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) में आने वाले शब्द 'व्यष्टि' (इंडिवीजुअल) शब्द के अन्तर्गत हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता भी आता है अथवा नहीं, जिससे कि उसके अवयस्क पुत्रों की वह आय जो कि उस फर्म में भागीदारी के लाभों से प्राप्त होती है, जिस फर्म में उनका पिता भी हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता की हैसियत से भागीदार है, व्यष्टि की हैसियत से पिता के निर्धारण में उसकी कुल आय में यह भी जोड़ी जा सकती है अथवा नहीं। यह प्रश्न आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 65(ii) के संदर्भ में उत्पन्न होती है जैसी यह धारा आय-कर विधि (संशोधन) अधिनियम, 1975 द्वारा अधिनियम के संशोधन से पूर्व थी, जो संशोधन 1 अप्रैल, 1976 से प्रवृत्त हुआ।

7. इस उपबंध का विधायी इतिहास यह है कि आय-कर जांच रिपोर्ट 1936 में यह उल्लेख किया गया था कि ऐसे अनेक मामले हैं जहां पति और

---

[1] (1977) 112 आई० टी० आर० 492.
[2] (1979) 118 आई० टी० आर० 122.
[3] (1980) 121 आई० टी० आर० 873.
[4] (1978) 113 आई० टी० आर० 313.

पिता अपनी पत्नियों और अवयस्क पुत्रों के लिए फर्मों में शेयर देकर भागीदार बना लेते हैं और इस प्रकार से भागीदारी के लाभों में उनकी शेयर-आय के सम्बन्ध में आय-कर के संदाय की चोरी करते हैं। उन्होंने पत्नी या अवयस्क संतान की ऐसी शेयर-आय को उनके पति/पिता की आय में जोड़े जाने का सुझाव दिया। विधानमंडल ने इस रिपोर्ट पर विचार किया और आय-कर (संशोधन) अधिनियम, (1937 का सं० 4) के द्वारा इन्कम-टैक्स, 1922 में धारा 16(3) अंतःस्थापित की गई। इसका सारवान् भाग इस प्रकार है :—

"16(3) निर्धारण के प्रयोजनों के लिए किसी व्यष्टि की कुल आय संगणित करने में निम्नलिखित आय भी जोड़ी जाएगी :—

(क) ऐसे व्यष्टि की पत्नी या अवयस्क संतान की इतनी आय जिनकी प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप में,

(ख) उस फर्म में पत्नी की सदस्यता से उद्भूत होने वाली आय जिसमें पति भागीदार है,

(ii) अवयस्क संतान को उस फर्म की भागीदारी के लाभ में शामिल करने से होने वाली जिस फर्म में ऐसा व्यष्टि एक भागीदार है।"

8. इस उपबन्ध में आने वाले "व्यष्टि" शब्द पर इस न्यायालय के समक्ष **चंदा देवी** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] में विचार किया गया था। मु० न्या० मलिक और न्या० वी० भार्गव की न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि इस उपबंध में आने वाले शब्द "व्यष्टि" के अंतर्गत पुरुष एवं स्त्री, दोनों ही होते हैं। हमारे उच्च न्यायालय के इस विनिश्चय का अनुसरण इस न्यायालय ने **मुस्तकीम बेगम के मामले**[2] में किया था। चंदा देवी के मामले का पंजाब उच्च न्यायालय ने भी अनुसरण **आय-कर आयुक्त** बनाम **दमयंती साहनी**[3] के मामले में किया था। किन्तु मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय ने **सोद्रा देवी** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] के मामले में एक भिन्न मत अपनाया था। इसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि आधिनियम की धारा 16(3) में प्रयुक्त शब्दों "व्यष्टि" पुरुष तक ही सीमित है इसके अन्तर्गत स्त्री नहीं आती।

9. दमयंती साहनी के मामले में पंजाब उच्च न्यायालय के और सोद्रा देवी के मामले में मध्य प्रदेश उच्च न्यायालय के इन विनिश्चयों के विरुद्ध

[1] (1950) 18 आई० टी० आर० 944.
[2] (1953) 23 आई० टी० आर० 345.
[3] (1953) 23 आई० टी० आर० 41.
[4] (1955) 27 आई० टी० आर० 9.

उच्च न्यायालय में अपील की गई थी। अधिनियम की धारा 16(3) में आने वाले शब्द "व्यष्टि" के संदर्भ में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि इसके अंतर्गत विधिक व्यक्ति अथवा एक समूह अथवा व्यक्तियों का संगम नहीं आता है। यह शब्द केवल मानव तक ही सीमित है क्योंकि केवल एक मानव की ही पत्नी अथवा संतान हो सकती है। बहुमत से यह और अभिनिर्धारित किया गया था कि इसका अर्थ केवल पुरुष तक ही सीमित था और इसके अंतर्गत स्त्री भी नहीं आती परिणाम यह हुआ कि मां की कुल आय संगणित करने में, उस भागीदारी फर्म के लाभों में अवयस्क बालक को शामिल करने के परिणामस्वरूप होने वाली उसके अवयस्क बालक की आय, जिस फर्म में मां भी भागीदार थी, धारा 16(3)(ii) के अधीन शामिल नहीं की जा सकती थी।

10. आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64 ही पुरानी धारा 16(3) की उत्तराधिकारी धारा है। इस में यह उपबंध किया गया है :—

> "64 (1) किसी व्यष्टि की कुल आय की संगणना करने में ऐसी सब आय सम्मिलित की जाएगी जो प्रत्यक्षतः या अप्रत्यक्षतः —
>
> (i) कोई कारबार चलाने वाली किसी फर्म में, जिसमें ऐसा व्यष्टि भागीदार है, ऐसे व्यष्टि के पति या पत्नी को पति या पत्नी की सदस्यता से,
>
> (ii) किसी ऐसी फर्म जिसमें ऐसा व्यष्टि भागीदार है, ऐसे व्यष्टि की अवयस्क संतान को भागीदारी के फायदों के लिए अवयस्क संतान के सम्मिलित किए जाने से,
>
> (iii) ....
>
> (iv) ....
>
> उद्भूत होती है।
>
> **स्पष्टीकरण** : खंड (i) के प्रयोजनों के लिए ऐसा व्यष्टि जिसकी कुल आय की संगणना करने में उस खंड में निर्दिष्ट आय सम्मिलित की गई है, वह पति या पत्नी होगी जिसकी कुल आय (जैसी कि उस खंड में निर्दिष्ट आय का अपवर्जन करके आए) अधि[illegible]
> खंड (ii) के प्रयोजन के लिए जहां दोनों माता-[illegible]
> सदस्य हैं जिसमें अवयस्क संतान भी एक भागी[illegible]

अवस्यक संतान की आय, उस माता या पिता की आय में शामिल की जाएगी जिसकी कुल आय (उस खंड में निर्दिष्ट आय को अपवर्जित करते हुए) अधिक है; और जहां ऐसी आय एक बार किसी पति या पत्नी अथवा माता या पिता की कुल आय में शामिल कर दी जाती है, तो किसी उत्तरवर्ती वर्ष में उद्भूत होने वाली ऐसी आय पति या पत्नी की अथवा माता या पिता की कुल आय में शामिल नहीं की जाएगी, जब तक आयकर अधिकारी का पति या पत्नी अथवा माता-पिता को सुनवाई का अवसर दिए जाने के पश्चात् यह समाधान नहीं हो जाता कि ऐसा करना आवश्यक है।"

11. धारा 16(3)(क)(i) में 'पत्नी' शब्द का प्रयोग किया गया था। धारा 64 में इसके स्थान पर पति या पत्नी शब्द का प्रयोग किया गया है। स्पष्टीकरण में स्थिति को और स्पष्ट कर दिया गया है। अतः यह स्पष्ट है कि विधानमंडल ने उच्चतम न्यायालय द्वारा **सोद्रा देवी के मामले**[1] में व्यक्त किए गए इस मत को नहीं अयनाया कि "व्यष्टि" शब्द से केवल पुरुष व्यक्ति ही अभिप्रेत है। इसका अर्थ है कि पति या पत्नी अथवा माता या पिता, जो पुरुष अथवा स्त्री दोनों में से कोई एक हो सकता है।

12. इस धारा की यह अपेक्षा है कि —

(1) कारबार करने वाली एक भागीदारी फर्म होनी चाहिए,

(2) व्यष्टि की पति या पत्नी तथा/या अवयस्क संतान भागीदारी फर्म के फायदों में शामिल होनी चाहिए अथवा भागीदार होनी चाहिए,

(3) ऐसा व्यष्टि भी उस फर्म का भागीदार होना चाहिए। यदि यह बातें विद्यमान हैं तो धारा 64 लागू होती है। इस धारा के अधीन पति या पत्नी तथा/या अवयस्क संतान की ऐसी फर्म से उद्भूत शेयर-आय व्यष्टि की कुल आय संगणित करते समय शामिल की जायेगी।

13. प्रश्न यह है कि "जिसमें ऐसा व्यष्टि भागीदार है" पदावली का क्या अर्थ है जो धारा 64(1) के दो खंडों के अंत में आती है। क्या इसके अंतर्गत कर्ता भी आता है, यदि वह मात्र एक भागीदार है अथवा क्या यह ऐसे व्यक्ति तक ही निर्बन्धित है जो अपने अधिकार स्वरूप अर्थात् शुद्ध अपनी व्यक्तिगत हैसियत में एक भागीदार है ?

---

[1] (1955) 27 आई० टी० आर० 9.

14. कोई मानव या तो पति -पत्नी हो सकता है या माता-पिता। वह एक समय में ही अवयस्क संतान का अभिरक्षक या हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब आदि का कर्ता हो सकता है। वह ये सब कुछ हो सकता है या इनमें से कोई एक भी हो सकता है और इसके अतिरिक्त, वह उस फर्म में भागीदार भी हो सकता है जिसमें उसकी पति-पत्नी अथवा उसकी अवयस्क संतान भी भागीदार हैं।

15. हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्ता के मामले को ही लिया जाए। वह किसी फर्म में एक भागीदार हो सकता है। कर्ता के रूप में वह अपने कुटुम्ब के सदस्यों का प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु "यह भली-भांति सुस्थिर है कि जब संयुक्त अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब का कर्ता अपरिचित व्यक्तियों के साथ भागीदार बनता है तो उसके कुटुम्ब के सदस्य मात्र इसी तथ्य के कारण उस फर्म में भागीदार नहीं हो जाते।" (देखिए—**मैसर्स भगत राम मोहन लाल बनाम अतिलाभकर आयुक्त**[1])।

16. जब कर्ता की पत्नी या उसकी अवयस्क संतान किसी फर्म में भागीदार बन जाती है तो वह उस फर्म में हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के सदस्य के रूप में भागीदार नहीं होते। वे स्वतंत्र रूप से भागीदार के रूप में कार्य करते हैं। कर्ता की उस समय क्या स्थिति होगी जब वह किसी फ़र्म में भागीदार हो जाता है? इस पहलू पर उच्चतम न्यायालय ने **आय-कर आयुक्त बनाम भाग्य लक्ष्मी एण्ड कं०**[2] में विचार किया था। इसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था :—

> "कोई भागीदार किसी अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब का कर्ता हो सकता है, वह कोई न्यासी भी हो सकता है, वह अन्य व्यक्तियों के साथ भागीदारी में शामिल हो सकता है, वह अभिव्यक्त अथवा विवक्षित करार के अंतर्गत व्यक्तियों के एक समूह का प्रतिनिधि भी हो सकता है, वह एक दूसरे व्यक्ति का बेनामीदार हो सकता है। इन सभी दशाओं में उसकी दुहरी हैसियत होती है। भागीदारी के संदर्भ में वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में कार्य करता है, अन्य पक्षकारों के संदर्भ में वह अपनी प्रतिनिधायी हैसियत में काम करता है।"

17. व्यष्टि होने के कारण किसी भागीदार की दुहरी हैसियत हो सकती है अर्थात् वह प्रतिनिधि हो सकता है और व्यष्टि भी हो सकता है। वह प्रतिनिधि भी हो सकता है अर्थात् अन्य व्यक्तियों अर्थात् भागीदारों से भिन्न व्यक्तियों

[1] (1956) 29 आई० टी० आर० 525 (उच्चतम न्यायालय)
[2] (1965) 55 आई० टी० आर० 660.

के संदर्भ में वह कर्ता हो सकता है। किन्तु अपने भागीदारों के साथ वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में कार्य कर्ता है। भागीदार, कर्ता और अन्य भागीदारों के बीच संबंध एक व्यक्तिगत संबंध है। वह अन्य भागीदारों के साथ प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य नहीं करता। यह स्थिति उस समय नहीं बदलती और बदल भी नहीं सकता जब कि अन्य भागीदारों का उससे पत्नी या अवयस्क संतान का संबंध होता है। इस बात को दोहराते हुए धारा 64 में यह अपेक्षा की गई है कि कोई व्यष्टि और उसकी पत्नी तथा/या अवयस्क संतान एक दूसरे के साथ (फर्म में) भागीदार होने चाहिएं। इतना ही पर्याप्त है। उनके अन्य परस्पर संबंध सुसंगत नहीं हैं। ये तथ्य कि वह कर्ता भी है या अभिरक्षक भी है या न्यासी है या बेनामीदार है यह सब सारवान् नहीं है।

18. एक अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब अपने आप में निर्धारण योग्य निकाय या यूनिट है। कर्ता के द्वारा अर्जित आय पर हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में कर लगाया जाता है। ऐसी आय का कोई भाग उसके व्यक्तिगत निर्धारण में संगणित नहीं किया जाता। जब धारा 64 किसी व्यष्टि की कुल आय संगणित करने की बात कहती है तो प्रत्यक्षतः यह ऐसी संगणना से ऐसी आय को अपवर्जित करती है जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारण योग्य है। धारा 64 किसी फर्म से कर्ता को प्राप्त शेयर-आय के बारे में नहीं है। यह धारा व्यष्टि की पति या पत्नी अथवा अवयस्क संतान को फर्म से प्राप्त शेयर-आय को उस व्यष्टि की ऐसी अन्य आय के साथ जोड़ने तक सीमित है जो उसकी व्यक्तिगत हैसियत में निर्धारण योग्य है। अतः यह स्पष्ट है कि भागीदारी फर्म से कर्ता को प्राप्त शेयर-आय पर धारा 64 के अधीन दूसरी बार कर नहीं लगाया जा सकता।

19. हमारी राय में, "जिसमें ऐसा व्यष्टि भागीदार है" पदावली जो धारा 64 में आती है, के अंतर्गत ऐसा मानव आता है जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता हो सकता है। यही कुछ **माधो प्रसाद के मामले**[1] में इस न्यायालय द्वारा अभिनिर्धारित किया गया था। ससम्मान हम उस विनिश्चय से सहमत हैं।

20. आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने **संका संकरैया के मामले** में[2] इस न्यायालय से असहमति प्रकट की है। उस उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि :—

---

[1] (1977) 112 आई० टी० आर० 492.

[2] (1978) 113 आई० टी० आर० 313.

“ ‘व्यष्टि’ अभिव्यक्ति के अन्तर्गत कोई व्यक्ति केवल अपनी व्यक्तिगत हैसियत में ही आता है और इसके अन्तर्गत हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता या कोई न्यासी या ऐसा कोई अन्य व्यक्ति नहीं आता जो दूसरे व्यक्तियों के प्रतिनिधि के रूप में कार्य करता है।”

मु० न्या० एस० ओबुल रेड्डी ने यह और मत व्यक्त किया :—

“संकरैया संयुक्त कुटुम्ब कर्ता के रूप में फर्म का भागीदार (पाया गया) है और फर्म से होने वाली आय अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब की कुल आय संगणित करने में शामिल की गई थी फर्म से वह आय व्यष्टि के रूप में संकरैया की कुल आय संगणित करने में एक बार फिर कैसे शामिल की जा सकती है, मानो कि यह आय उस फर्म की सदस्यता से उसकी व्यक्तिगत हैसियत में प्राप्त की गई हो, जिस फर्म में उसकी पत्नी और उसका अवयस्क बालक भी उसके साथ भागीदार थे। राजस्व विभाग का यह पक्षकथन नहीं है कि संकरैया अपनी व्यक्तिगत हैसियत में उस फर्म का भागीदार था।” (रेखांकन हमारे द्वारा किया गया है)

21. जैसा कि ऊपर दर्शित किया जा चुका है, धारा 64 (किसी व्यक्ति की) व्यष्टि के रूप में कुल आय संगणित करते समय, कर्ता की शेयर-आय शामिल करने के लिए लागू नहीं होती। बहुत सम्मान सहित, ऊपर उद्धृत पद्यांश में रेखांकित अंश धारा 64 के गलत निर्वचन पर आधारित है। इसके अतिरिक्त, अंतिम वाक्य यह दर्शित करता है कि राजस्व विभाग का यह पक्षकथन नहीं था कि संकरैया उस फर्म में अपनी व्यक्तिगत हैसियत में एक भागीदार था। यही बात इस मामले को प्रभेदनीय बना देती है। यहां राजस्व विभाग के पक्षकथन का वास्तविक मुद्दा यह है कि हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता, जब वह किसी फर्म का भागीदार बन जाता है, तो वह ऐसा व्यक्तिगत हैसियत में करता है। इसके अतिरिक्त, आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों ने, हमारा विश्वास है, असावधानी के कारण **भाग्य लक्ष्मी के मामले में**[2] उच्चतम न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए मत को गलत पढ़ा है। माननीय न्यायाधीशों ने पृ० 318 पर यह मत व्यक्त किया :—

---

[1] (1977) 112 आई० टी० आर० 492.
[2] (1965) 55 आई० टी० आर० 660.

"जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा आय-कर आयुक्त बनाम भाग्य लक्ष्मी एण्ड कम्पनी [(1965) 55 आई० टी० आर० 660] में मत व्यक्त किया गया है, ऐसे सभी मामलों में उसकी दोहरी हैसियत होती है। भागीदारी के संदर्भ में वह व्यक्तिगत हैसियत से कार्य करता है; अन्य पक्षकार के संदर्भ में वह एक प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करता है।"

उच्चतम न्यायालय ने 'व्यक्तिगत' हैसियत शब्द का प्रयोग नहीं किया। उन्होंने यह मत व्यक्त किया था कि भागीदारी के संदर्भ में वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में कार्य करता है। सम्भवतः आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह महसूस किया कि एक ओर व्यक्तिगत हैसियत के बीच और दूसरी ओर प्रतिनिधि की हैसियत के बीच कुछ अन्तर है। इस विनिश्चय का यह भी एक प्रभेदनीय तत्व है।

22. आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के इस विनिश्चय के विरुद्ध आय-कर आयुक्त ने उच्चतम न्यायालय में विशेष इजाज़त से सिविल पिटीशन सं० 2652/1979 फाइल किया। उच्चतम न्यायालय के आदेश की जो फोटोस्टेट प्रति हमारे समक्ष पेश की गई है उससे यह प्रतीत होता है कि विशेष इजाजत से किए गए पिटीशन के साथ आक्षेपित निर्णय की प्रमाणित प्रति फाइल करने से छूट के लिए एक आवेदन भी फाइल किया गया था। उच्चतम न्यायालय ने विशेष इजाज़त वाले पिटीशन को खारिज कर दिया था। इसके बारे में कारणों का उल्लेख नहीं किया गया था। हो सकता है, यह मामला निर्णय की प्रतिलिपि के अभाव में ही खारिज किया गया हो। विशेष इजाजत की अधिकारिता उच्चतम न्यायालय की एक वैवेकिक अधिकारिता है। इससे यह अनुमान नहीं लगाया जा सकता कि विशेष इजाजत से किए गए पिटीशन को खारिज करके उच्चतम न्यायालय ने आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के निर्णय की गुणागुण के आधार पर पुष्टि कर दी थी।

23. गुजरात उच्च न्यायालय ने **दीनू भाई ईश्वरी लाल पटेल** के **मामले**[1] में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के मत से सहमति प्रकट की। मु० न्या० दीवान ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

"अतः यह स्पष्ट है कि जहां तक भागीदार का सम्बन्ध है अपने भागीदारों के संदर्भ में वह एक व्यष्टि है और उनके संदर्भ

---

[1] (1979) 118 आई० टी० आर० 122.

वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में कार्य करता है। तथापि, जब प्रश्न उस व्यक्ति का उठता है जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के सदस्यों के संदर्भ में भागीदारी फर्म के कार्यों में कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता है तो वह एक प्रतिनिधि की हैसियत में कार्य करता है। जहां तक कुटुम्ब से बाहर के व्यक्तियों का सम्बन्ध है, वह अपने कुटुम्ब के ही सदस्यों का प्रतिनिधित्व करता है; किन्तु अपने कुटुम्ब के ही सदस्यों के संदर्भ में वह मात्र उनका प्रतिनिधि है। यदि वह प्रतिनिधि है तो वह एक व्यष्टि नहीं है।"

विद्वान् मुख्य न्यायाधीश ने यह और मत व्यक्त किया कि :—

"यह कहा जा सकता है कि केवल यह मौके की बात है कि कर्ता वह व्यक्ति था जिसकी पत्नी भी उस भागीदारी फर्म में भागीदार है जिसमें वह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता है या उस कर्त्ता का अवयस्क बालक, जो कर्ता भागीदारी में हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का प्रतिनिधित्व करता है, भागीदारी के लाभों में सम्मिलित कर लिया गया है या यह कि उसका पति/उसकी पत्नी भी उसमें भागीदार है। किसी भी दशा में, पत्नी के संदर्भ में या अवयस्क बालक के संदर्भ में क्या वह एक प्रतिनिधि से भिन्न कुछ और है?"

24. हमारी राय में, स्थिति बिल्कुल उल्टी है। हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कर्त्ता की दोहरी हैसियत/स्थिति होती है। भागीदारी के संदर्भ में वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में कार्य करता है; अपने पक्षकारों के संदर्भ में वह एक प्रतिनिधि की हैसियत से कार्य करता है। किन्तु दोनों ही दशाओं मे वह एक व्यक्ति तो है ही। हम इस बात से सहमत होने में असमर्थ हैं कि यदि वह एक प्रतिनिधि है तो वह एक व्यष्टि नहीं है। वह व्यष्टि तो रहता ही है यद्यपि जो आय वह प्रतिनिधि की हैसियत से अर्जित करता है वह हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब या ऐसे व्यक्तियों के ग्रुप या संगम की आय के रूप में कराधेय है, जिनका वह प्रतिनिधित्व करता है। किन्तु वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत में भी निर्धारण योग्य है। अतः कोई कर्ता एक प्रतिनिधि भी हो सकता है, किन्तु वह अपनी व्यक्तिगत हैसियत नहीं खो देता है; वह एक व्यष्टि भी बना ही रहता है।

25. जब कोई कर्ता अपरिचित व्यक्तियों के साथ एक भागीदार बन जाता है जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब के कनिष्ठ सदस्य स्वतः ही भागीदार नहीं बन जाते। किसी व्यक्ति के अवयस्क बालक उसके अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब

के सदस्य हो सकते हैं किन्तु ऐसे कुटुम्ब के सदस्य होने की हैसियत से वे फर्म में भागीदार नहीं हो सकते। अतः भागीदार-कर्ता, जो कि एक व्यष्टि है, उस फर्म के भागीदारों के रूप में अपनी पत्नी या अवयस्क बालक की आय के सम्बन्ध में उनके प्रतिनिधि के रूप में कार्य करने वाला नहीं माना जा सकता। ससम्मान हम इस विनिश्चय से सहमत होने में असमर्थ हैं।

26. पंजाब और हरियाणा उच्च न्यायालय ने **आय-कर आयुक्त** बनाम **आनन्द स्वरूप**[1] के मामले में गुजरात उच्च न्यायालय और आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के दृष्टिकोण को स्वीकार किया है। यह अभिनिर्धारित किया गया था कि :—

> "धारा 64(i) और (ii) के अन्तर्गत आने वाले मामलों में ऐसे व्यष्टि के पति/पत्नी या अवयस्क बालक की आय को निर्धारिती की आय के साथ केवल तभी जोड़ा जाता है, यदि वह उस फर्म में व्यष्टि के रूप में भागीदार है। यदि ऐसा व्यष्टि किसी हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब का कर्ता के रूप में प्रतिनिधित्व करता है और उसकी आय हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय में शामिल की जाती है तो धारा 64(1)(i) और (ii) के प्रयोजनों के लिए यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि यह आय व्यष्टि की आय है।"

यहां तक तो कोई समस्या नहीं है किन्तु इसके पश्चात् माननीय न्यायाधीश ने यह और अभिनिर्धारित किया :—

> "यदि राजस्व विभाग की दलील सही है तो उस अविभक्त हिन्दू कुटुम्ब को भागीदारी से कोई आय नहीं होती जिसका कर्ता उसी हैसियत में उसका भागीदार है।"

27. सम्मान सहित हम इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं। जैसाकि हमने ऊपर उल्लेख किया है, आयकर अधिनियम 1961 की धारा 64 उस आय को लागू नहीं होती जो हिन्दू अविभक्त कुटुम्ब की आय के रूप में निर्धारण योग्य है। यह धारा केवल व्यक्तिगत निर्धारिती (व्यष्टि) के मामले तक ही सीमित रहती है। यह व्यष्टि के निर्धारण की संगणना करने में पति/पत्नी अथवा अवयस्क बालक की आय को जोड़ने की अपेक्षा करती है। यह धारा भागीदारी फर्म से होने वाली व्यष्टि की शेयर-आय तक ही आवश्यकतः सीमित नहीं है। यदि भागीदारी फर्म से व्यष्टि की शेयर-आय ऐसे व्यष्टि की कुल आय संगणित करते समय शामिल किए जाने योग्य है तो यह इस प्रकार ही शामिल

[1] (1980) 121 आई० टी० आर० 873.

की जा सकती है। ऐसा उस समय होगा जबकि व्यष्टि अपनी व्यक्तिगत हैसियत में भागीदार है। किन्तु यदि वह प्रतिनिधि की हैसियत से भागीदार है तो इसका परिणाम यह होगा कि वह सम्पूर्ण आय जो वह फर्म से अपने शेयर के रूप में प्राप्त करता है और उस प्रविष्टि के रूप में इसका निर्धारण किया जाता है जिसका वह प्रतिनिधित्व करता है, तो शेयर-आय धारा 64 की परिधि से बाहर है। फिर भी पति/पत्नी अथवा अवयस्क सन्तान की उस फर्म से प्राप्त शेयर-आय, व्यष्टि की हैसियत में उसके निर्धारण में ऐसे व्यक्ति की कुल आय संगणित करते समय शामिल की जाएगी।

28. इसी कारण से हम **प्रयाग दास राजगढ़िया** बनाम **आय-कर आयुक्त**[1] में दिल्ली उच्च न्यायालय के विनिश्चय से सहमत होने में असमर्थ हैं।

29. अधिकरण द्वारा इस न्यायालय की राय के लिए निर्दिष्ट विधि का प्रश्न इस पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया गया है। प्रश्न यह था :—

> "मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को देखते हुए क्या अधिकरण ने यह सही तौर पर ही निर्धारित किया था कि मै० अरविन्द कोल्ड स्टोरेज से निर्धारिती के अवयस्क पुत्रों अर्थात् सिद्धार्थ प्रसाद और राहुल प्रसाद की शेयर-आय, आय-कर अधिनियम, 1961 की धारा 64(ii) के अधीन सही तौर पर ही निर्धारिती की आय के रूप में शामिल की गई है?"

30. इस प्रश्न के बारे में हमारा उत्तर सकारात्मक है अर्थात् राजस्व विभाग के पक्ष में और निर्धारिती के विरुद्ध।

31. आय-कर आयुक्त खर्चों के हकदार हैं जो 200 रु० निर्धारित किया जाता है।

प्रश्न का उत्तर सकारात्मक दिया गया।

शर्मा

---

[1] (1982) 138 आई० टी० आर० 291.

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—186

श्रीमती प्रेमलता शर्मा बनाम श्री भगवत प्रसाद शर्मा

(Smt. Premlata Sharma *Vs.* Shri Bhagwat Prasad Sharma)

तारीख 20 अक्तूबर, 1983

[न्या० के० सी० अग्रवाल, ए० एन० वर्मा और वी० के० खन्ना]

1. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—धारा 28(1) [विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा यथा संशोधित]—उक्त अधिनियम के अधीन कार्यवाही में पारित अपीलीय डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील भी की जा सकती है।

2. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955—धारा 28(1) व धारा 28(4), सपठित परिसीमा अधिनियम, 1963—अनुच्छेद 116(क)—सपठित सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908, धारा 100—द्वितीय अपील के लिए परिसीमा—चूंकि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन द्वितीय अपील धारा 28(1) के अधीन की जाती है, सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 100 के अधीन नहीं, अतः द्वितीय अपील की परिसीमा को अधिनियम की धारा 28(4) लागू होगी, परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 166(क) नहीं—तदनुसार हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 28(1) के अधीन द्वितीय अपील की परिसीमा अवधि 30 दिन है, 90 दिन नहीं।

प्रत्यर्थी-पति ने अपनी पत्नी, के विरुद्ध विवाह अनुष्ठापित किए जाने के पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 2 के साथ संभोग करने के आधार पर अधिनियम की धारा 13(1)(क) के अधीन विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी फाइल की। उसकी पत्नी ने, जो कि इस अपील में अपीलार्थी है, अर्जी का प्रतिवाद किया। 27 मार्च, 1980 को देहरादून के सिविल न्यायाधीश ने अर्जी खारिज कर दी उन्होंने जिसके विरुद्ध प्रत्यर्थी सं० 1, ने जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील की, और उन्होंने यह अपील 19 मई, 1981 को अधिनियम की धारा 13(1)(क) के अधीन मंजूर कर ली तथा विवाह विघटित कर दिया। इस निर्णय और डिक्री के विरुद्ध पत्नी ने यह द्वितीय अपील की है। द्वितीय अपील में, प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा इस अपील के कायम रखे जाने के बारे में आरम्भिक आक्षेप किया गया है। अपीलार्थी ने आरम्भिक आक्षेप का प्रतिवाद इन्दराज **बनाम** शान्ति (ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279) के विनिश्चय का अवलम्ब लेकर किया। उक्त विनिश्चय के सही होने के बारे में संदेह करते हुए विद्वान एकल

न्यायाधीश ने यह प्रश्न पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया : "क्या विवाह (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के संशोधन के पश्चात् इस अधिनियम के आधीन की गई कार्यवाही में पारित अपीलीय डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील चलने योग्य है अथवा नहीं, और यदि है तो क्या द्वितीय अपील फाइल करने की परिसीमा 30 दिन है अथवा 90 दिन ?" पूर्वोक्त प्रश्न में दो विवाद उठाए गए हैं। पहला विवाद हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 के अधीन न्यायालय द्वारा पारित डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील के कायम रखे जाने के बारे में है और दूसरा उच्च न्यायालय में द्वितीय अपील फाइल करने की परिसीमा अवधि के बारे में है।

अधिनियम की धारा 28 की उपधारा (1) और उपधारा (4) का निर्वचन करते समय प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि चूंकि विधानमंडल का आशय केवल एक अपील का ही उपबंध करना था इसलिए इसने एक अपील के बारे में ही परिसीमा का उपबंध किया था, दो अपीलों के लिए नहीं। उन्होंने यह दलील दी कि यदि विधान-मंडल के विचार में धारा 9, 10, 11 और 13 द्वारा अनुध्यात डिक्रियों के विरुद्ध दो अपीलों की व्यवस्था करने का विचार होता तो विधानमंडल ने धारा 28 का अधिनियमन एक भिन्न रूप में किया होता और इसी प्रकार से उच्च न्यायालय में अपील फाइल करने के लिए 90 दिन की परिसीमा का उपबंध किया होता।

अभिनिर्धारित—निर्दिष्ट प्रश्नों का उत्तर दिया गया।

हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की मूल धारा 28 का लोप कर दिया गया है और उसके स्थान पर विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 19 प्रतिस्थापित कर दी गई है। हिन्दू विवाह अधिनियम की मूल धारा 28 विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा निर्वचन का विषय रही है जिन्होंने इसके बारे में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं। (पैरा 5, 6)

विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा जिस दोष को दूर करना आशयित था, वह मामलों के निपटारे में विलम्ब को दूर करने की बात है। यह दोष अनावश्यक विलंब का दोष था और यह उन अपीलों के कारण था जो वादकालीन भरण-पोषण तथा खर्चों के दिए जाने के विरुद्ध फाइल की जाती थीं। अधिनियम की धारा 9, 10, 11 और 13 में अनुध्यात विवाद प्रकृति से ही ऐसे थे जिनके लिए शीघ्र निपटारे की आवश्यकता थी। यह महसूस किया गया था कि वादकालीन भरण-पोषण दिए जाने के विरुद्ध एक पक्षकार

द्वारा दूसरे पक्षकार को परेशान किए जाने की दृष्टि से ही तुच्छ अपीलें फाइल की जाती हैं। ऐसी अपीलों को समाप्त करने के लिए धारा 28 को संशोधित किया गया है। एक दूसरा कारण धारा 28 की वह संदिग्धता है जिसके परिणामस्वरूप परस्पर विरोधी निर्वचन किए गए हैं। (पैरा 20)

अधिनियम की धारा 28(1) यह उपबंध करती है कि इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियां उसी प्रकार अपीलनीय होंगी जैसे विचारण न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में पारित डिक्री अपीलनीय होती है। धारा 28(1) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "उसी प्रकार" (ऐज) संसद के इस आशय के प्रति संकेत करती है कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन न्यायालय द्वारा किसी कार्यवाही में पारित डिक्री के साथ अपील किए जाने के बारे में वैसी कार्यवाही की जानी चाहिए जैसी इस न्यायालय द्वारा आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में पारित की गई ड़िक्रियों के साथ की जाती है। इस अभिव्यक्ति का अर्थ है "वैसा ही", "उस जैसा" "उसी प्रकार का", "उसी रीति में", , "उस रीति में जिसमें"। (पैरा 21, 22)

अतः धारा 28(1) की साधारण भाषा को पढ़ने से यह साफ पता चलता है कि धारा 9, 10, 11 और 13 के अधीन अर्जियों का विनिश्चय करते समय न्यायालय द्वारा पारित डिक्रियों में से प्रत्येक डिक्री के साथ अपील करने के बारे में वैसी ही कार्यवाही की जाएगी जैसी उस न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में पारित डिक्री के बारे में की जाती है। चूंकि बीस हजार रुपये से कम मूल्य के वाद में सिविल न्यायाधीश द्वारा पारित डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील का उपबंध किया गया है इसलिए इस रकम से कम रकम वाली अर्जियों के बारे में भी द्वितीय अपील बराबर कायम रखी जाएगी, यदि इन अर्जियों का विचारण सिविल न्यायाधीश द्वारा किया गया है। (पैरा 23)

अधिनियम की धारा 28 की उपधारा (4) के अधीन उपबन्धित परिसीमा की अवधि न केवल पहली अपील को ही नियंत्रित करेगी अपितु यह द्वितीय अपील को भी लागू होगी। धारा 28 की उपधारा (4) में प्रयुक्त "हर अपील" अभिव्यक्ति को यदि इस अभिव्यक्ति का सामान्य अर्थ दिया जाता है तो इससे सभी अपीलें अभिप्रेत हैं। उपधारा (1) और उपधारा (4) को पढ़ने से यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी अपीलों के बारे में परिसीमा अवधि 30 दिन है। (पैरा 28)

उच्च न्यायालय में परिसीमा की 90 दिन की अवधि का उपबंध करने वाले परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 116(क) सार्वजनीन रूप से सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन सभी अपीलों को लागू होता है, चाहे वह पहली अपील हो अथवा दूसरी। अतः हिन्दू विवाह अधिनियम के अधीन अपीलों के लिए परिसीमा की अवधि 90 दिन से घटाकर केवल 20 दिन करना, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई आधार नहीं हो सकता कि द्वितीय अपील चलने योग्य ही नहीं है। (पैरा 28)

धारा 28 की उपधारा(1) में प्रथम तथा द्वितीय, दोनों अपीलों के लिए उपबंध किया गया है और धारा 28 की उपधारा (4) धारा 28(1) द्वारा उपबन्धित सभी अपीलों के लिए परिसीमा अवधि विहित करती है। अतः यह धारा प्रथम अपील तक ही निर्बन्धित नहीं की जा सकती। परिसीमा अधिनियम की धारा 29 की उपधारा (2) के अधीन अपील फाइल करने के लिए विशेष विधि के द्वारा उस परिसीमा से भिन्न परिसीमा अवधि विहित की जा सकती है जो अवधि परिसीमा अधिनियम, 1963 द्वारा अधिकथित की गई है। इसके अतिरिक्त, परिसीमा अधिनियम, 1963 की द्वितीय अनुसूची का अनुच्छेद 116(क) उच्च न्यायालय में की जाने वाली प्रथम और द्वितीय उन दोनों अपीलों के लिए परिसीमा अवधि विहित करता है जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन उच्च न्यायालय में की जा सकती हैं। प्रस्तुत मामले में द्वितीय अपील हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28(1) के अधीन की जा सकती है, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 के अधीन नहीं। ऐसा होने पर हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 की उपधारा (4) द्वारा विहित 30 दिन की अवधि उन सभी अपीलों के लिए परिसीमा अवधि है जो इस उपबंध के अधीन की जा सकती हैं और परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 4 से लेकर धारा 24 के उपबंध ऐसी अपीलों को पूर्वोक्त उपबंध अर्थात् धारा 29 की उपधारा (2) के कारण लागू होंगे क्योंकि उन्हें हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के किसी उपबंध द्वारा अभिव्यक्ततः अपवर्जित नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी विसंगतीपूर्ण होगा कि पहली अपील के लिए तो परिसीमा अवधि 30 दिन होगी और दूसरी अपील के लिए यह अवधि 90 दिन होगी। वस्तुतः सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 केवल न्यायालय की शक्तियों के बारे में है। इसका संबंध उस परिसीमा अवधि से नहीं है जिस अवधि में ऐसी अपील की जानी चाहिए। किसी सिविल वाद से उद्भूत होने वाली द्वितीय अपील परिसीमा अधिनियम, 1963 के अनुच्छेद 116 के कारण 90 दिन के भीतर फाइल की

जाती है। यह अनुच्छेद 116 धारा 28 की उपधारा (4) द्वारा अधिनियमित विशेष विधि के कारण लागू नहीं होता। न्यायालय की राय में दोनों अपीलों की दशा में यह अवधि 30 दिन ही है। धारा 28 की उपधारा (4) अधिनियमित करने के प्रयोजन का पता लगाना बहुत कठिन नहीं है। यह प्रयोजन हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन कार्यवाहियों से उद्भूत होने वाले विवादों का शीघ्र और तुरंत निपटारा करना है। ऐसे विवाद का शीघ्र निपटारा करना न केवल पति-पत्नी के हित में होता है अपितु उनकी संतान तथा अन्य व्यक्तियों के हित में भी होता है। मुख्यतः इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विधानमंडल ने परिसीमा के लिए विशेष उपबंध किया था। (पैरा 29)

		पैरा
[1978]	ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279 : इन्दराज **बनाम** श्रीमती शांति और अन्य (Indraj *Vs.* Smt. Shanti and others) से **असहमति** प्रकट की गई।	1, 4, 26, 29
[1980]	ए० आई० आर० 1980 कलकत्ता 1 : श्रीमती देवी बहादुरी **बनाम** कुमारजी बहादुरी (Mrs. Debi Bhaduri *Vs.* Kumar Ji Bhaduri);	29
[1978]	ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 255 : श्रीमती गुरबचन कौर **बनाम** सरदार स्वर्ण सिंह (Smt. Gurbachan Kaur *Vs.* Sardar Swrn Singh);	30, 31
[1969]	ए० आई० आर० 1969 इलाहाबाद 601 : सरला देवी **बनाम** बलवान सिंह (Sarla Devi *Vs.* Balwan Singh);	30
[1966]	ए० आई० आर० 1966 गुजरात 139 : बाई उमिया बहन **बनाम** अम्बालाल लक्ष्मी दास (Bai Umiyabhan *Vs.* Ambalal Laxmidas) का **अवलम्ब** लिया गया।	29, 30
[1982]	ए० आई० आर० 1982 आन्ध्र प्रदेश 100 : नरेन्द्र कुमार **बनाम** सूरज मेहता (Narendra Kumar *Vs.* Suraj Mehta);	24

[1981]	1981 एम० एल० जे० (जिल्द-1) पृ० 321 : मोहना श्रीनिवासन **बनाम** गिरिजा (Mohana Srinivasan *Vs.* Girija);	24
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 3219 : उदयन चिनूभाई **बनाम** आर० सी० बाली (Udayan Chinubhai *Vs.* R. C. Bali);	14
[1967]	ए० आई० आर० 1967 आन्ध्र प्रदेश 323 (पूर्ण न्यायपीठ) : कोडे कुटुम्ब राव **बनाम** कोडे शेषार्थमम्बा (Kode Kutumbrao *Vs.* Kode Sesharathamamba);	11
[1957]	ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 618 : आर० एम० डी० चमारबागवाला **बनाम** भारत संघ (R. M. D. Chamarbagwalla *Vs.* Union of India);	19
[1955]	ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 661 : बंगाल इम्यूनिटी कम्पनी **बनाम** बिहार राज्य (Bengal Immunity Company *Vs.* State of Bihar);	18
	75 बाम्बे ला रिपोर्टर 311 : मधुकर **बनाम** माल्ती (Madhukar *Vs.* Malthi);	11

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1981 की द्वितीय अपील सं० 1689.

1980 की सिविल अपील सं० 57 में देहरादून के जिला न्यायाधीश श्री डी० एल० अग्रवाल द्वारा 15 मई, 1981 को पारित डिक्री और निर्णय के विरुद्ध द्वितीय अपील ।

अपीलार्थी की ओर से ··· श्री एम० एम० पंत

प्रत्यर्थियों की ओर से ··· श्री तेज प्रकाश

न्यायालय का निर्णय श्री के० सी० अग्रवाल ने दिया ।

न्या० अग्रवाल :

इन्दराज बनाम **श्रीमती शांति और अन्य**[1] में प्रतिवेदित विनिश्चय के

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279.

सही होने के बारे में संदेह करते हुए विद्वान एकल न्यायाधीश ने निम्नलिखित प्रश्न पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट किया है :—

> "क्या हिन्दू विवाह (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के संशोधन के पश्चात् इस अधिनियम के अधीन की गई कार्यवाही में पारित अपीलीय डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील चलने योग्य है अथवा नहीं, और यदि है तो क्या द्वितीय अपील फाइल करने की परिसीमा 30 दिन है अथवा 90 दिन ?"

2. पूर्वोक्त प्रश्न में दो विवाद उठाए गए हैं। पहला विवाद हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 के अधीन अवर अपील न्यायालय द्वारा-पारित डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील के कायम रखे जाने के बारे में है और दूसरा उच्च न्यायालय में द्वितीय अपील फाइल करने की परिसीमा अवधि के बारे में है।

3. संक्षेप में इस मामले के तथ्य इस प्रकार हैं कि प्रत्यर्थी, बी० पी० शर्मा ने अपनी पत्नी, श्रीमती प्रेमलता शर्मा के विरुद्ध विवाह अनुष्ठापित किए जाने के पश्चात् प्रत्यर्थी सं० 2 के साथ संभोग करने के आधार पर अधिनियम की धारा 13(i)(क) के अधीन विवाह-विच्छेद के लिए अर्जी फाइल की। उसकी पत्नी, श्रीमती प्रेमलता शर्मा ने, जो कि इस अपील में अपीलार्थी है, अर्जी का प्रतिवाद किया। 72 मार्च, 1980 को देहरादून के सिविल न्यायाधीश ने अर्जी खारिज कर दी जिसके विरुद्ध प्रत्यर्थी सं० 1, भगवत प्रसाद शर्मा ने जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील की, और उन्होंने यह अपील 19 मई, 1981 को अधिनियम की धारा 13(i)(क) के अधीन मंजूर कर ली और विवाह विघटित कर दिया। इस निर्णय और डिक्री के विरुद्ध श्रीमती प्रेमलता ने यह द्वितीय अपील फाइल की है।

4. द्वितीय अपील में, प्रत्यर्थी सं० 1 द्वारा इस अपील के कायम रखे जाने के बारे में आरंभिक आक्षेप किया गया है। अपीलार्थी ने आरंभिक आक्षेप का प्रतिवाद **इन्दराज बनाम शांति**[1] के विनिश्चय का अवलंब लेकर किया। उक्त विनिश्चय के सही होने के बारे में संदेह करते हुए यह वर्तमान निर्देश किया गया है।

5. मूल धारा 28 का लोप कर दिया गया है और उसके स्थान पर विवाह विधि (सशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 19 प्रतिस्थापित कर

---

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279.

दी गई। पुरानी धारा इस प्रकार थी :—

"इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा पारित सभी डिक्रियां और किए गए सभी आदेश उसी प्रकार से प्रवर्तित किए जायेंगे जिस प्रकार से आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में न्यायालय द्वारा पारित डिक्रियां और आदेश प्रवर्तित किए जाते हैं, और तत्समय प्रवृत्त किसी विधि के अधीन इनके विरुद्ध अपील की जा सकेगी।

परंतु यह कि केवल खर्चे के विषय में कोई अपील नहीं होगी।"

6. यह धारा विभिन्न उच्च न्यायालयों द्वारा निर्वचन का विषय रही हैं जिन्होंने इसके बारे में भिन्न-भिन्न मत व्यक्त किए हैं।

7. विधि आयोग ने अपनी 59वीं रिपोर्ट में हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के विभिन्न उपबंधों में संशोधन के बारे में सिफारिश की थी। संसद ने विधि आयोग की सिफारिशों पर कार्य करते हुए अधिनियम की धारा 28 को विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 द्वारा संशोधित कर दिया। विधि आयोग ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

"यह प्रतीत होता है कि हिन्दू विधि अधिनियम द्वारा प्रदत्त लगभग सभी उपचार (जिनको अर्जी के द्वारा ही प्राप्त किया जा सकता है) चूंकि विशेष प्रकार के उपचार हैं इसलिए यह आशा करना निरर्थक होगा कि अधिनियम के अधीन पारित आदेशों के बारे में अपील का अधिकार किसी अन्य विधि में उपलब्ध होगा। सिविल प्रक्रिया संहिता (धारा 104 और आदेश 43) में बाद में पारित किए गए हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 का अनुमान नहीं लगाया जा सकता था। इसके बारे में संकुचित दृष्टिकोण धारा 28 को लागू करना कठिन बना देगा। ऐसी भाषा इंडियन डाइवोर्स ऐक्ट (धारा 55) में प्रयोग की गई है और इस धारा का अब तक किया गया एकरूपात्मक निर्वचन यह है कि स्वयं अधिनियम ही अपील का अधिकार सर्जित करता है। विशेष विवाह अधिनियम, 1954 (धारा 39) में भी ऐसी ही भाषा का प्रयोग किया गया है और इसका निर्वचन भी इंडियन डाइवोर्स ऐक्ट के उपबंधों के निर्वचन से भिन्न नहीं किया गया है।

साथ ही, हमें यह प्रतीत होता है कि आदेशों के विरुद्ध अपील का व्यापक अधिकार देना आवश्यक नहीं है, और इससे कार्यवाही में

विलंब होने की संभावना होती है। साधारणत: अंतरिम प्रकृति के आदेश के विरुद्ध अपील का अपवर्जन किया जाना चाहिए।"

8. आज धारा 28 इस प्रकार है :—

"28(1). इस अधिनियम के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियां, उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, उसी प्रकार अपीलनीय होंगी जैसे उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में दी गई डिक्री अपीलनीय होती हैं और ऐसी हर अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में किए गए विनिश्चय की अपीलें सामान्यत: होती हैं।

(2) धारा 25 या धारा 26 के अधीन किसी कार्यवाही में न्यायालय द्वारा किए गए आदेश, उपधारा (3) के उपबंधों के अधीन रहते हुए, तभी अपीलनीय होंगे जब वे अंतरिम आदेश न हों और ऐसी हर अपील उस न्यायालय में होगी जिसमें उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में किए गए विनिश्चयों की अपीलें सामान्यत: होती हैं।

(3) केवल खर्चे के विषय में कोई अपील इस धारा के अधीन नहीं होगी।

(4) इस धारा के अधीन हर अपील, डिक्री या आदेश की तारीख से 30 दिन की कालावधि के अंदर की जाएगी।"

9. श्री एस० वी० गुप्ते ने अपनी पुस्तक "हिन्दू ला", तृतीय संस्करण (1981) जिल्द-2 में पूर्वोक्त संशोधन अधिनियम द्वारा संशोधन किए जाने के पश्चात् जैसी स्थिति अब है, उसका उल्लेख निम्नलिखित शब्दों में किया है :—

"पुरानी धारा 28 के त्रुटिपूर्ण प्रारूपण के कारण जो भ्रम या अंतर्विरोध उत्पन्न हो गया था वह अब नई धारा 28 के द्वारा शांत कर दिया गया है। इस उपधारा के अधीन, इस अधिनियम के अधीन की गई किसी कार्यवाही में पारित सभी डिक्रियां, केवल खर्चों के लिए पारित डिक्रियों को छोड़कर, अपीलनीय बना दी गई हैं, किंतु इस उपधारा में यह बात स्पष्ट नहीं है कि अपील किसी अन्य प्रवृत्त विधि के अधीन की जा सकेगी अथवा नहीं। जो डिक्रियां इस अधिनियम के

अधीन पारित की जा सकती हैं वे धारा 9, 10, 11, 12 और 13 के अधीन पारित डिक्रियां हैं। ऐसी अपीलें अब उस न्यायालय में की जा सकेंगी जिसमें उस न्यायालय द्वारा अपनी आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में किए गए विनिश्चयों की अपीलें साधारणतः होती हैं। दूसरे शब्दों में जबकि यह उपधारा स्वयं ही इस अधिनियम के अधीन पारित डिक्रियों के विरुद्ध अपील के अधिकार का स्रोत है, अपील फाइल करने के प्रक्रियात्मक अधिकार को कुछ अन्य विधियां लागू होंगी—जैसे कि लैटर्स पेटैन्ट या सिविल प्रक्रिया संहिता या अन्य स्थानीय विधियां। कुछ अन्य टिप्पणियों और विनिश्चयों के लिए देखिए धारा 3, खंड ख, पैरा 37 और इस धारा के पैरा. 2-62 में दी गई टिप्पणियां।"

10. विभिन्न उच्च न्यायालयों के बीच मतभेद के बारे में विधि आयोग ने यह मत व्यक्त किया था कि :—

"विगत समय में धारा के इस भाग के संदर्भ में एक संविवाद खड़ा हो गया था ; संविवाद यह था कि स्वयं यह धारा अपील का अधिकार प्रदान करती है अथवा "तत्समय प्रवृत्त किसी विधि" के प्रति किए गए निर्देश से यह विवक्षित है कि विधि का अधिकार किसी और विधि में ढूंढा जाना चाहिए। चूंकि धारा की भाषा इस मुद्दे के बारे में बहुत स्पष्ट नहीं है और न्यायालयों में इसकी आलोचना की गई है, इसलिए इस मामले की परीक्षा किया जाना अपेक्षित है। लगभग सभी न्यायालय अब यह मत अपनाने लगे हैं कि यह अधिकार धारा 28 द्वारा प्रदान किया गया है। इस मामले से संबंधित निर्णयज विधि का सर्वांगीण पुनर्विलोकन आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के और बम्बई के एक हाल ही के विनिश्चय में किया गया है।"

11. उपर्युक्त उल्लेख में यह देखा जा सकता है कि विधि आयोग ने आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के **कोडे कुटुम्ब राव बनाम कोडे शेषार्थमम्बा**[1] में और **मधुकर बनाम माल्ती**[2] में प्रतिवेदित विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया था, जहां यह मत अपनाया गया था कि अपील का अधिकार धारा 28 द्वारा

---

[1] ए० आई० आर० 1967 आन्ध्र प्रदेश 323 (पूर्ण न्यायपीठ).

[2] 75 बाम्बे लॉ रिपोर्टर 311.

प्रदान किया गया है। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया था कि :—

"......यह आशा करना निरर्थक था कि अधिनियम के अधीन पारित आदेशों के संबंध में अपील का अधिकार किसी अन्य विधि में उपलब्ध होगा। 'तत्समय प्रवृत्त विधि के किसी उपबंध के अधीन अपील कर सकेगा' खंड निरर्थक होगा यदि इसका यह अर्थान्वयन किया जाता है कि अपील करने का अधिकार किसी अन्य विधि में इस बारे में किसी उपबंध के विद्यमान होने पर निर्भर कर दिया गया है, जब तक कि हम यह नहीं कहते कि 'किसी विधि' से स्वयं यह अधिनियम भी अभिप्रेत है......।"

12. इस विसंगति को दूर करने और विभिन्न उच्च न्यायालयों के विनिश्चयों से उत्पन्न होने वाले संविवाद को शांत करने के लिए ही विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 का संशोधन किया गया था। संशोधित धारा के अधीन अब वादार्थी को हिन्दू विवाह अधिनियम की धारा 9, 10, 11, 12 और 13 में प्रयुक्त "डिक्रियां" अभिव्यक्ति का अर्थ पता करने लिए सिविल प्रक्रिया संहिता की सहायता लेने की आवश्यकता नहीं है।

13. दूसरा उल्लेखनीय मुद्दा यह है, जैसा कि विधि आयोग ने भी महसूस किया है, कि उन प्रकीर्ण अपीलों में बहुत-सा समय नष्ट हो जाता है जो वादकालीन भरण-पोषण मंजूर करने वाले आदेशों के विरुद्ध की जाती थीं। विधि आयोग में इस बारे में स्पष्ट उपबंध के लिए सिफारिश की कि वादकालीन भरण-पोषण मंजूर करने वाले आदेश के विरुद्ध कोई अपील नहीं की जाएगी। विधि आयोग ने 59वीं रिपोर्ट के द्वारा विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 39 के संशोधन की भी सिफारिश की थी। विधि आयोग ने इस बात पर ध्यान दिया कि विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 39 त्रुटिपूर्ण थी और ऐसा ही संविवाद, जैसा कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की तदानुरूपी धारा के अधीन उठा था, इसके अधीन भी उठ सकता है। अपीलों की व्यवस्था करने वाली विशेष विवाह अधिनियम, 1954 की धारा 39 को हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 के अनुसार ही अधिनियमित करने की सिफारिश की गई थी।

14. **उदयन चिनूभाई** बनाम **आर० सी० बाली**[1] में उच्चतम न्यायालय ने उस न्यायिक संविवाद के इतिहास के प्रति निर्देश किया था जिसके परिणाम

[1] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 2319.

स्वरूप परिसीमा अधिनियम की धारा 12 की उपधारा (2) में स्पष्टीकरण जोड़ा गया था ; न्यायालय ने विधि आयोग की सिफारिशों के प्रति भी निर्देश किया था। उच्चतम न्यायालय ने अपने विनिश्चय के समर्थन में विधि आयोग की सिफारिशों का अवलम्ब लिया और ऐसा करते समय यह मत व्यक्त किया कि :—

> "हमें प्रसन्नता है कि इस विनिश्चय पर पहुंचने में हमें विधि आयोग की एक बहुत ही उपयोगी सिफारिश को प्रभावी बना रहे हैं; रिपोर्ट में विधि आयोग की यह स्पष्ट चिन्ता थी कि पुराने समय से चले आ रहे न्यायिक विवाद को समाप्त किया जाए। न्यायालय मुकदमों की एक नई श्रृंखला पुनः प्रारम्भ न करके अपना कर्तव्य निभायेगा।"

15. उच्चतम न्यायालय के ऊपर व्यक्त किए गए मत यह स्पष्ट कर देते हैं कि अब न्यायालय ऐसे उपबन्ध का निर्वचन करते समय विधि आयोग की सिफारिशों का भी अवलम्ब ले सकता है जो इसकी सिफारिश के आधार पर संशोधित की गई है। प्रस्तुत मामले में की गई सिफारिशें, यदि उन्हें ध्यान में रखा जाता है, धारा 28 की उपधारा (1) और उपधारा (4) के अर्थ को स्पष्ट कर देती है।

16. इससे पहले कि हम दूसरे मुद्दे पर विचार करें हम धारा 28 की उपधारा (4) अधिनियमित करने के उद्देश्य पर भी ध्यान दे सकते हैं, जिसके बारे में विधि आयोग में निम्नलिखित सिफारिश की थी :—

> "मुकदमों का शीघ्रता से निपटारा करने के लिए हम यह भी सिफारिश करते हैं कि अधिनियम के अधीन अपील के लिए परिसीमा अवधि 30 दिन होनी चाहिए।"

17. विधेयक में दिए गए इस विधान के मुख्य उद्देश्य इस प्रकार थे :—

(i) विवाह-विच्छेद से सम्बन्धित उपबन्धों को उदार बनाना ;

(ii) अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों का शीघ्रता से निपटारे को सुकर बनाना ; और

(iii) उन कतिपय असंगतियों और कठिनाइयों को दूर करना जो अधिनियम के पारित किए जाने के पश्चात् प्रकाश में आई हैं।"

18. हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 का निर्वचन करते समय, जैसी कि यह धारा अब है, इस बात को ध्यान में रखना आवश्यक है, जैसा कि उच्चतम न्यायालय ने **बंगाल इम्मेनिटी कम्पनी** बनाम **बिहार राज्य**[1] में कहा है, कि निम्नलिखित चार बातों पर सावधानीपूर्वक विचार किया जाना चाहिए :—

(i) अधिनियम बनाए जाने से पूर्व 'कामन लॉ' क्या था ;

(ii) वह ऋष्टि या त्रुटि क्या थी जिसके बारे में 'कामन लॉ' ने उपबंध नहीं किया था ;

(iii) संसद ने इस त्रुटि को दूर करने के लिए किस उपचार का उपबंध किया है ; और

(iv) उपचार की सही रूपरेखा क्या है ?"

19. उच्चतम न्यायालय ने विधि के इन सिद्धांतों को पश्चात्वर्ती मामलों में लागू किया है । **आर० एस० डी० चमारबागवाला** बनाम **भारत संघ**[2] में उच्चतम न्यायालय ने यह मत व्यक्त किया कि :—

"अधिनियम का निर्वचन करने वाले न्यायालय को अधिनियम के उद्देश्य की घोषणा और अधिनियम के कार्यकरण से संबंधित विधायी इतिहास को ध्यान में रखना चाहिए ।"

20. संशोधन अधिनियम द्वारा जिस दोष को दूर रखना आशयित था, वह मामलों के निपटारे में विलंब को दूर करने की बात है । जैसा कि हमने पहले ऊपर बताया है, यह दोष अनावश्यक बिलम्ब का दोष था और यह उन अपीलों के कारण था जो वादकालीन भरण-पोषण तथा खर्चों के दिए जाने के विरुद्ध फाइल की जाती थीं । अधिनियम की धारा 9, 10, 11 और 13 में अनुध्यात विवाद प्रकृति से ही ऐसे थे जिनके लिए शीघ्र निपटारे की आवश्यकता थी । यह महसूस किया गया है कि वादकालीन भरण-पोषण दिए जाने के विरुद्ध एक पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार को परेशान किए जाने की दृष्टि से ही तुच्छ अपीलें फाइल की जाती हैं । ऐसी अपीलों को समाप्त करने के लिए धारा 28 को संशोधित किया गया था । एक दूसरा कारण धारा 28 की वह संदिग्धता है जिसके परिणामस्वरूप परस्पर विरोधी निर्वचन किए गए हैं ।

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 661.
[2] ए० आई० आर० 1957 एस० सी० 618.

21. अधिनियम की धारा 28 की उपधारा (1) और उपधारा (4) का निर्वचन करते समय प्रत्यर्थियों की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि चूंकि विधानमंडल का आशय केवल एक अपील का ही उपबन्ध करना था इसलिए इसने एक अपील के बारे में ही परिसीमा का उपबन्ध किया था, दो अपीलों के लिए नहीं। उन्होंने यह दलील दी कि यदि विधानमंडल के विचार में धारा 9, 10, 11 और 13 द्वारा अनुध्यात डिक्रियों के विरुद्ध दो अपीलों की व्यबस्था करने का विचार होता तो विधान-मंडल ने धारा 28 का अधिनियमन एक भिन्न रूप में किया होता और इसी प्रकार से उच्च न्यायालय में अपील फाइल करने के लिए 90 दिन की परिसीमा का उपबंध किया होता। हम इस दलील को स्वीकार करने में असमर्थ हैं। धारा 28(1) यह उपबन्ध करती है कि इस अधिनियम के अधीन प्रत्येक कार्यवाही में न्यायालय द्वारा दी गई सभी डिक्रियां उसी प्रकार अपीलनीय होंगी जैसे विचारण न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में पारित डिक्री अपीलनीय होती है। उस सिविल न्यायालय की डिक्री के विरुद्ध जो कि 20,000 रुपये से कम के वाद के बारे में है, जिला न्यायाधीश के समक्ष अपील की जा सकती है और तत्पश्चात् द्वितीय अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती है। बीस हजार रुपये से कम के मूल्य के पिटीशन (अर्जी) की दशा में अपील, सिविल न्यायाधीश के समक्ष की जाएगी परन्तु यह तब जबकि ऐसा न्यायालय हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 3(ख) के अधीन जिला न्यायालय अधिसूचित कर दिया जाता है। अधिनियम की धारा 3(ख) में जिला न्यायालयों की परिभाषा इस प्रकार दी गई है :—

> "3(ख). 'जिला न्यायालय' से अभिप्रेत है ऐसे किसी क्षेत्र में, जिसके लिए कोई नगर सिविल न्यायालय है, वह न्यायालय और अन्य किसी क्षेत्र में आरम्भिक अधिकारिता का प्रधान सिविल न्यायालय तथा इसके अन्तर्गत आता है ऐसा कोई भी अन्य सिविल न्यायालय जिसे राज्य सरकार शासकीय राजपत्र में अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम में व्यवहृित बातों के बारे में अधिकारितायुक्त विनिर्दिष्ट कर दे।"

22. इस परिभाषा के परिशीलन से यह प्रतीत होता है कि सिविल अधिकारिता के अन्य न्यायालय भी राजपत्र में राज्य सरकार द्वारा अधिसूचना के माध्यम से हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन मामलों का विनिश्चय करने की अधिकारिता से विनिहित किए जा सकते हैं। अतः ऐसे मामलों में जहां कि राज्य सरकार द्वारा कोई सिविल न्यायाधीश

धारा 3(ख) के अधीन जिला न्यायालय अधिसूचित किया जाता है तो उस न्यायालय को अर्जी ग्रहण करने और अपील को ग्रहण किए जाने के प्रश्न को ग्रहण करने की अधिकारिता होगी, और इसलिए द्वितीय अपील ऐसा आवेदन फाइल करने वाले पिटीशनर द्वारा दी गई विषयवस्तु के मूल्यांकन पर निर्भर करेगी । यह सही है कि ऐसे कोई नियम नहीं बनाए गए हैं जिनके अनुसार किसी अर्जी का मूल्यांकन किया जा सके, और संभवत: ऐसा किया जाना संभव ही नहीं था । जिस अर्जी में मूल्यांकन बीस हजार रुपये से कम था वहां अपील जिला न्यायाधीश के समक्ष की जा सकती थी, जबकि दूसरे मामले में यह अपील उच्च न्यायालय में की जा सकती थी । ऐसी ही असंगतियां अधिकारिता सम्बन्धी अन्य कार्यवाहियों में भी हो सकती हैं । किन्तु यह बात स्वयं में धारा 28(1) का यह निर्वचन करने से प्रवारित नहीं करेगी कि अपील का अधिकार उसी प्रकार से नियंत्रित होगा जैसे इसकी आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में की गई सिविल न्यायालय की डिक्री नियंत्रित होती है । धारा 28(1) में प्रयुक्त अभिव्यक्ति "उसी प्रकार" (ऐज) संसद के इस आशय का संकेत करती है कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन न्यायालय द्वारा किसी कार्यवाही में पारित डिक्री के साथ अपील किए जाने के बारे में वैसी ही कार्यवाही की जानी चाहिए जैसी इस न्यायालय द्वारा आरंभिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में पारित की गई डिक्रियों के साथ की जाती है । इस अभिव्यक्ति का अर्थ है : "वैसा ही", "उस जैसा", "उसी प्रकार का", "उसी रीति में", "उस रीति में जिसमें" ।

23. प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल ने "ऐसी हर अपील" शब्दों पर बल दिया था और यह दलील दी थी कि चूंकि "हर अपील" केवल एक के प्रति संकेत करती है और इसलिए न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करना चाहिए कि केवल एक अपील का ही विधानमंडल द्वारा उपबंध किया गया है और उसे यह अभिनिर्धारित नहीं करना चाहिए कि अधिनियम की धारा 28 की उपधारा (1) के अधीन एक द्वितीय अपील भी चलने योग्य है क्योंकि ऐसा करना न्यायालय द्वारा विधान बनाने की कोटि में आएगा । "हर अपील" अभिव्यक्ति का यहां अर्थ होगा "सभी अपीलों में से प्रत्येक अपील" । ब्लैक महोदय द्वारा रचित शब्दकोश में "हर" (एवरी) के अर्थ इस प्रकार दिए गए हैं : "सभी में से हर एक", "सभी अलग-अलग", "प्रत्येक", "कुल", "एक-एक" । परिणामतः हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई कठिनाई नहीं है कि धारा 28(1) में प्रयुक्त "हर अपील" से यह आवश्यक नहीं कि केवल एक

ही अपील अभिप्रेत है । अतः धारा 28(1) की साधारण भाषा को पढ़ने से यह साफ पता चलता है कि धारा 9, 10, 11 और 13 के अधीन अर्जियों का विनिश्चय करते समय न्यायालय द्वारा पारित डिक्रियों में से प्रत्येक डिक्री के साथ अपील करने के बारे में वैसी ही कार्यवाही की जाएगी जैसी उस न्यायालय द्वारा अपनी आरम्भिक सिविल अधिकारिता के प्रयोग में पारित डिक्री के बारे में की जाती है। चूंकि बीस हजार रुपये से कम मूल्य के वाद में सिविल न्यायाधीश द्वारा पारित डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील का उपबंध किया गया है इसलिए इस रकम से कम रकम वाली अर्जियों के बारे में भी द्वितीय अपील बराबर कायम रखी जाएगी, यदि इन अर्जियों का विचारण सिविल न्यायाधीश द्वारा किया गया है।

24. धारा 21 में केवल यह उपबंध किया गया है कि अधिनियम की सभी कार्यवाहियां यथासंभवशक्य सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 द्वारा विनियमित की जाएंगी। इसका यह अर्थ होगा कि इस अधिनियम के अधीन फाइल की गई अर्जी की प्रक्रिया के मामलों में और अपील के मामलों में सिविल प्रक्रिया संहिता लागू होगी। क्या धारा 21 केवल अधिनियम के अधीन की गई कार्यवाही को ही विनियमित करती है और अपील का अधिकार नहीं देती, इस बारे में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने **नरेन्द्र कुमार** बनाम **सूरज मेहता**[1] में यह अभिनिर्धारित किया है कि अधिनियम की धारा 28 में विनिर्दिष्ट उपबंध के अधीन, इस अधिनियम के अधीन पारित डिक्री या आदेश के विरुद्ध अपील की जा सकती है और इस अधिनियम की धारा 21 का डिक्री की अपीलनीयता से कोई सम्बन्ध नहीं है। हमारी राय में, दूसरी अपील करने का अधिकार धारा 28 से उद्भूत होता है किन्तु इस पर कार्य करने के बारे में न्यायालय ने शक्तियां, धारा 21 को देखते हुए, सिविल प्रक्रिया संहिता के उपबंधों द्वारा विनियमित की जानी होती हैं। अतः हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन पारित डिक्रियों से उद्भूत होने वाली द्वितीय अपील सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 में उल्लिखित आधारों तक ही सीमित है और इसका प्रयोग केवल विधि के सारवान् प्रश्नों के लिए ही किया जा सकता है। **मोहता श्रीनिवासन** बनाम **गिरिजा**[2] में मद्रास उच्च न्यायालय से इस बात पर विचार करने की अपेक्षा की गई थी कि क्या हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 के संशोधन के पश्चात् भी द्वितीय अपील की

---

[1] ए० आई० आर० 1982 आन्ध्र प्रदेश 180.

[2] 1981 एम० एल० जे० (जिल्द-1) पृ० 321.

जा सकती है अथवा नहीं। इस न्यायालय ने इसका उत्तर सकारात्मक दिया। तथापि, इसने यह अभिनिर्धारित किया कि द्वितीय अपील पर विचार करने वाले न्यायालय की शक्तियां वे शक्तियां होंगी जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 में अंतर्विष्ट हैं।

25. अगली दलील यह थी कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 में संशोधन अधिनियम द्वारा अंतःस्थापित धारा 28 के पीछे उद्देश्य यह था कि अधिनियम के अधीन कार्यवाही असफल हो जाएगी यदि पूर्वोक्त अधिनियम के अधीन दो अपीलें चलने योग्य पाई जाती हैं। यह दलील दी गई थी कि अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों का निपटारा करने में द्वितीय अपील में बहुत समय लग रहा था और अधिनियम के अधीन कार्यवाहियों की प्रकृति ऐसी है कि इन्हें अन्य मामलों पर अधिमान दिया जाकर शीघ्रता से विनिश्चित किया जाना चाहिए। यह सही है कि इस न्यायालय में लम्बित मामलों की संख्या बहुत अधिक है और द्वितीय अपीलों के निपटारे में सामान्यतः 8 से 10 वर्ष तक लग जाते हैं किन्तु यह बात धारा 28(1) का, इसकी साधारण भाषा से उद्भूत होने वाले अर्थ से भिन्न अर्थ दिए जाने का कोई आधार नहीं। इसका यह अर्थ है कि द्वितीय अपील का अधिकार कम कर दिया गया है अथवा इसके द्वारा छीन लिया गया है। यह सही है कि धारा 3(ख) के अधीन राज्य सरकार द्वारा की गई अधिसूचना के कारण सिविल न्यायालयों को भी इस अधिनियम के प्रयोजन के लिए जिला न्यायालय मान लिया गया है और यह बात दो अपीलें फाइल करने का अधिकार देती है। हमें यह बात भी धारा 28(1) का एक भिन्न प्रकार से निर्वचन करने के लिए सही आधार प्रतीत नहीं होती कि वह धारा इस बात को न्यायोचित बनाती है कि केवल एक ही अपील की जा सकती है। ऐसा करना सम्भव नहीं होगा क्योंकि इस धारा में प्रयुक्त भाषा उक्त अर्थ को न्यायोचित नहीं बनाती। इसके अतिरिक्त, जैसा कि हमने पहले बल दिया है, संशोधित धारा 28(1) का आशय द्वितीय अपीलों को कम करने का नहीं था। इसका आशय असंगतियों को दूर करना था और अंतरिम भरण-पोषण दिए जाने के विरुद्ध अपीलों को समाप्त करना था। यहां यह उल्लेखनीय होगा कि जबकि धारा 28 की उपधारा (1)(क) के अधीन, डिक्रियों के विरुद्ध दो अपीलें की जा सकती हैं किन्तु यही बात धारा 25 और धारा 26 द्वारा अनुध्यात आदेशों को लागू नहीं होगी। इन मामलों में केवल एक अपील का ही उपबंध किया गया है। यदि विधानमंडल का आशय धारा 25 और धारा 26 के अधीन आदेशों के मामलों में केवल एक अपील का ही उपबंध करना था तो विधानमंडल ने इसी प्रकार की भाषा का प्रयोग किया होता। चूंकि ऐसा नहीं किया गया

है, इसलिए विधानमंडल का आशय द्वितीय अपील को कम करना प्रतीत नहीं होता।

26. इस पूर्ण न्यायपीठ को निर्दिष्ट प्रश्न का दूसरा पहलू द्वितीय अपील फाइल करने की परिसीमा की अवधि के बारे में है। **इन्द्राज बनाम श्रीमती शांति और अन्य**[1] में न्या० एन० डी० ओझा ने यह अभिनिर्धारित किया है कि ऐसी अपील के लिए परिसीमा वही होगी जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन फाइल की जाने वाली द्वितीय अपीलों के लिए होती है। ऐसी द्वितीय अपीलों की परिसीमा अवधि परिसीमा अधिनियम के अनुच्छेद 16 में विहित की गई है।

27. धारा 28 की उपधारा (4) की सहायता से यह दलील दी गई थी कि इसमें चूंकि केवल एक अपील के लिए परिसीमा अधिकथित की गई है इसलिए इसका आवश्यक परिणाम यह है कि दूसरी अपील का विचार नहीं किया गया था।

28. हम इस दलील से सहमत नहीं हैं। उपधारा (4) के अधीन उपबंधित परिसीमा की अवधि न केवल पहली अपील को ही नियंत्रित करेगी अपितु यह द्वितीय अपील को भी लागू होगी। धारा 28 की उपधारा (4) में प्रयुक्त "हर अपील" अभिव्यक्ति को यदि इस अभिव्यक्ति का सामान्य अर्थ दिया जाता है तो इससे सभी अपील अभिप्रेत हैं। उपधारा (1) और उपधारा (4) को पढ़ने से हमारा यह निष्कर्ष निकलता है कि सभी अपीलों के बारे में परिसीमा अवधि 30 दिन है। प्रत्यर्थियों के विद्वान काउंसेल ने यह सुझाव दिया कि चूंकि परिसीमा अधिनियम में द्वितीय अपील फाइल करने की अवधि 90 दिन है; इसलिए विधानमंडल इसे कम करके 30 दिन नहीं करता—यदि इसका आशय केवल एक अपील के लिए ही उपबंध करना नहीं होता। इस संदर्भ में सबसे उचित अर्थान्वयन यह है कि धारा 28 की उपधारा (4), धारा 28 (1) द्वारा अनुज्ञात सभी अपीलों को लागू होगी। उपधारा (4), में हमें ऐसी कोई बात नजर नहीं आती जो इस बात को न्यायोचित ठहराती हो कि केवल एक ही अपील अनुज्ञेय है। जब तक धारा 3(ख) ऐसी बनी रहती है जैसी यह अब है, तब तक राज्य सरकार सिविल न्यायाधीशों को अधिनियम द्वारा अनुध्यात आवेदनों का विचारण करने के लिए सक्षम न्यायालय के रूप में नामनिर्दिष्ट करने के लिए हकदार होगी। यदि बात ऐसी रहती है तो द्वितीय अपीलें भी बनी रहेंगी। यह दूसरी बात है कि राज्य सरकार मामले की

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279.

समीचीनता को महसूस करते हुए केवल अपर जिला न्यायाधीशों को ही धारा 3(ख) के अधीन नामनिर्दिष्ट करती है। उच्च न्यायालय में परिसीमा की 90 दिन की अवधि का उपबंध करने वाले परिसीमा अधिनियम का अनुच्छेद 116(क) सार्वजनीन रूप से सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन सभी अपीलों को लागू होता है, चाहे वह पहली अपील हो अथवा दूसरी। अतः हिन्दू विवाह अधनियम के अधीन अपीलों के लिए परिसीमा की अवधि को 90 दिन से घटाकर केवल 30 दिन करना, यह अभिनिर्धारित करने के लिए कोई आधार नहीं हो सकता कि द्वितीय अपील चलने योग्य ही नहीं है। यह किसी दूसरे प्रयोजन के लिए हो सकता है, जिस पर हम आगे विचार करेंगे।

29. **इन्दराज** बनाम **श्रीमती शांति और अन्य**[1] में विद्वान् न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया है कि द्वितीय अपील करने के लिए परिसीमा अवधि 90 दिन है। बहुत सम्मान सहित हम इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं। हमने ऊपर यह उल्लेख किया है कि धारा 28 की उपधारा (1) में प्रथम तथा द्वितीय, दोनों अपीलों के लिए उपबंध किया गया है और धारा 28 की उपधारा (4), धारा 28(1) द्वारा उपबंधित सभी अपीलों के लिए परिसीमा अवधि विहित करती है। अतः यह धारा प्रथम अपील तक ही निर्बंधित नहीं की जा सकती। परिसीमा अधिनियम की धारा 29 की उपधारा (2) के अधीन अपील फाइल करने के लिए विशेष विधि के द्वारा उस परिसीमा से भिन्न परिसीमा अवधि विहित की जा सकती है जो अवधि परिसीमा अधिनियम, 1963 द्वारा अधिकथित की गई है। इसके अतिरिक्त, परिसीमा अधिनियम, 1963 की द्वितीय सूची का अनुच्छेद 116(क) उच्च न्यायालय में की जाने वाली प्रथम और द्वितीय उन दोनों अपीलों के लिए परिसीमा अवधि विहित करता है जो सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अधीन उच्च न्यायालय में की जा सकती हैं। हमने ऊपर यह पहले ही निष्कर्ष निकाल लिया है कि प्रस्तुत मामले में द्वितीय अपील हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28(1) के अधीन की जा सकती है, सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 के अधीन नहीं—जैसा कि गुजरात उच्च न्यायालय ने **बाई उमिया बहन** बनाम **अम्बालाल लक्ष्मीदास**[2] में अभिनिर्धारित किया है। ऐसा होने पर हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 की उपधारा (4) द्वारा विहित 30 दिन की अवधि उन सभी अपीलों के लिए परिसीमा अवधि है जो इस उपबंध के अधीन

---

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279.

[2] ए० आई० आर० 1966 गुजरात 139.

की जा सकती हैं और परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 4 से लेकर धारा 24 के उपबंध ऐसी अपीलों को पूर्वोक्त उपबंध अर्थात् धारा 29 की उपधारा (2) के कारण लागू होगी क्योंकि उन्हें हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के किसी उपबंध द्वारा अभिव्यक्ततः अपवर्जित नहीं किया गया है। इसके अतिरिक्त यह कहना भी विसंगतिपूर्ण होगा कि पहली अपील के लिए तो परिसीमा अवधि 30 दिन होगी और दूसरी अपील के लिए यह अवधि 90 दिन होगी। वस्तुतः सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 केवल न्यायालय की शक्तियों के बारे में है। इसका संबंध उस परिसीमा अवधि से नहीं है जिस अवधि में ऐसी अपील की जानी चाहिए। किसी सिविल वाद से उद्भूत होने वाली द्वितीय अपील परिसीमा अधिनियम, 1963 के अनुच्छेद 116 के कारण 90 दिन के भीतर फाइल की जाती है। यह अनुच्छेद 116 धारा 28 की उपधारा (4) द्वारा अधिनियमित विशेष विधि के कारण लागू नहीं होता। हमारी राय में दोनों अपीलों की दशा में यह अवधि 30 दिन ही है। धारा 28 की उपधारा (4) अधिनियमित करने के प्रयोजन का पता लगाना बहुत कठिन नहीं है। यह प्रयोजन हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन कार्यवाहियों से उद्भूत होने वाले विवादों का शीघ्र और तुरन्त निपटारा करना है। ऐसे विवाद का शीघ्र निपटारा करना न केवल पति-पत्नी के हित में होता है अपितु उनकी संतान तथा अन्य व्यक्तियों के हित में भी होता है। मुख्यतः इसी उद्देश्य को ध्यान में रखते हुए विधानमंडल ने परिसीमा के लिए विशेष उपबंध किया था। **श्रीमती देवी बहादुरी** बनाम **कुमार जी बहादुरी**[1] में पूर्ण न्यायपीठ से इस प्रश्न पर विचार करने की अपेक्षा की गई थी कि क्या संशोधन अधिनियम, द्वारा विहित 30 दिन की परिसीमा अवधि लागू होगी और परिसीमा अधिनियम, 1963 के अधीन विहित मूल 90 दिन की अवधि लागू नहीं होगी। न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि यह संविवाद अवधि 30 दिन की है। यह उल्लेखनीय है कि यह विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के प्रवृत्त होने से पूर्व फाइल की गई अपील से उद्भूत हुआ था। चूंकि विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 की धारा 39(i) में यह अधिकथन किया गया है कि पूर्वोक्त संशोधन अधिनियम द्वारा किया गया संशोधन सभी लंबित मामलों को लागू होता है इसलिए कलकत्ता उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि परिसीमा की अवधि उन अपीलों को भी लागू होगी जो अपीलें विवाह विधि (संशोधन)

---

[1] ए० आई० आर० 1980 कलकत्ता 1.

अधिनियम, 1976 के प्रवृत्त होने से पूर्व फाइल की गई थी। यह सही है कि यह मामला प्रथम अपील का मामला था और द्वितीय अपील का नहीं था किन्तु प्रश्न परिसीमा अधिनियम, 1963 के अनुच्छेद 116(क) के लागू होने के बारे में था, जो अनुच्छेद उच्च न्यायालय में की जाने वाली सभी अपीलों को लागू होता है, चाहे वह प्रथम अपील हो अथवा द्वितीय अपील।

30. हमारा ध्यान **श्रीमती गुरवचन कौर** बनाम **सरदार स्वर्ण सिंह**[1] में हमारे उच्च न्यायालय के एक विनिश्चय की ओर आकृष्ट किया गया था। इस मामले में विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि अपीलनीय निर्णय के विरुद्ध उच्च न्यायालय में दूसरी अपील कायम नहीं रखी जा सकती है। इस निर्णय पर पहुंचने के लिए विद्वान एकल न्यायाधीश ने **सरला देवी** बनाम **बलवान सिंह**[2] और **बाई उमिया बहन** बनाम **अम्बालाल लक्ष्मीदास**[3] में दिए गए विनिश्चयों के प्रति निर्देश किया था और इनका अवलंब भी लिया था। पश्चात्वर्ती विनिश्चय में गुजरात उच्च न्यायालय के माननीय न्यायाधीशों ने यह अभिनिर्धारित किया है कि न्यायिक पृथक्करण के लिए की गई अर्जी में न्यायालय द्वारा पारित अपीलनीय आदेश के विरुद्ध द्वितीय अपील का अधिकार सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 की धारा 100 से उद्भूत नहीं होता क्योंकि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन न्यायिक पृथक्करण की कार्यवाही में परित डिक्री उक्त अधिनियम की धारा 2 की उपधारा (2) के अर्थान्तर्गत डिक्री नहीं है। गुजरात उच्च न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 की धारा 28 में अंतर्विष्ट "डिक्री तथा आदेश" शब्दों के अन्तर्गत न केवल आरंभिक :डिक्रियां ही आती हैं अपितु अपीलनीय डिक्रियां भी आती हैं। हम गुजरात उच्च न्यायालय द्वारा व्यक्त किए गए उपर्युक्त मत से पूर्णतः सहमत हैं, और यद्यपि यह मत असंशोधित धारा 28 पर आधारित था, फिर भी इसका विनिश्चयाधार, जहां तक हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन पारित डिक्रियों को लागू होने के बारे में है, अब भी सही लागू होता है।

31. **श्रीमती गुरबचन कौर** बनाम **सरदार स्वर्ण सिंह**[1] के विनिश्चय के बारे में हम सम्मान सहित यह बता देना चाहते हैं कि चूंकि विद्वान एकल

---

[1] ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 255.

[2] ए० आई० आर० 1969 इलाहाबाद 601.

[3] ए० आई० आर० 1966 गुजरात 139.

न्यायाधीश विवाह विधि (संशोधन) अधिनियम, 1976 के पश्चात्, फाइल की गई अपील पर विचार कर रहे थे, इसलिए उन्हें पूर्वोक्त संशोधित अधिनियम द्वारा इसकी धारा 39 के माध्यम से मूल अधिनियम की धारा 28 में किए गए संशोधन को ध्यान में रखना चाहिए था।

32. अतः हमारी यह राय है कि इन्दराज बनाम शांति[1] में विधि सही तौर से अधिकथित नहीं की गई थी, अतः इसे नामंजूर किया जाता है।

33. जो कुछ हमने ऊपर कहा है, उसके अनुसार हम यह अभिनिर्धारित करते हुए हमें निर्दिष्ट किए गए प्रश्नों का उत्तर देते हैं कि हिन्दू विवाह अधिनियम, 1955 के अधीन कार्यवाही में अपीलनीय डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील की जा सकती है और उक्त अपील फाइल करने की परिसीमा अवधि 30 दिन है।

34. इस उत्तर के साथ हम ये कागजात विधि के अनुसार द्वितीय अपीलों का निपटारा करने के लिए विद्वान एकल न्यायाधीश को वापस भेजते हैं।

मु० निर्दिष्ट प्रश्नों का उत्तर दिया गया।

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—207

मुनव्वर हसन और अन्य बनाम जाकिर हुसैन

(Munawwar Hasan and others *Vs.* Jakir Husain)

तारीख 9 नवम्बर, 1983

[न्या० के० सी० अग्रवाल]

विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963—धारा 15—करारों का विनिर्दिष्ट अनुपालन—स्थावर संपत्ति के पुनः खरीदने या प्रतिहस्तांतरण के करार के समनुदेशिती द्वारा करार प्रवर्तित कराया जाना—ऐसी संविदा में अभिव्यक्त अथवा विवक्षित प्रतिकूल बात के अभाव में यह पक्षकारों द्वारा या उनके विरुद्ध तथा उनके समनुदेशितियों और अंतरितियों सहित उनके वारिसों और विधि प्रतिनिधियों द्वारा या उनके विरुद्ध प्रवर्तित की/कराई जा सकती है।

---

1 ए० आई० आर० 1978 इलाहाबाद 279.

एक स्त्री विवादास्पद मकान के 1/5 अंश की स्वामिनी थी। उसने इस मकान में अपना अंश एक रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख के अधीन एक व्यक्ति को अंतरित कर दिया था। उसी तारीख को इस व्यक्ति ने एक रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के अधीन प्रतिहस्तान्तरण का एक करार निष्पादित किया। साथ ही, उक्त स्त्री ने मकान को पुनः खरीदने का अपना अधिकार एक रजिस्ट्रीकृत विलेख के द्वारा एक दूसरे व्यक्ति के नाम समनुदिष्ट कर दिया। तत्पश्चात् उस स्त्री तथा पहले व्यक्ति के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के बीच, जिन्होंने उससे 1/5 अंश खरीदा था तथा दूसरे व्यक्ति के बीच जो प्रतिहस्तांतरण के अधिकार का क्रेता था, विवाद उठ खड़ा हुआ। पुनः खरीदने के अधिकार के कुर्क किए जाने पर दूसरे व्यक्ति ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21, नियम 63 के अधीन 1970 का वाद सं० 254 फाइल किया। इस वाद के द्वारा उसने इस घोषणा के लिए दावा किया कि वह मकान के 5वें अंश को पुनः खरीदने का हकदार था, जो अंश उस स्त्री द्वारा पहले व्यक्ति के पक्ष में बेच दिया गया था, जिसने उस अंश का प्रतिहस्तान्तरण करने के लिए सहमत होते हुए एक करार निष्पादित किया था। उसने यह प्रकथन किया कि उस स्त्री के प्रतिहस्तान्तरण के अधिकार को खरीद लिए जाने के कारण उसने उस स्त्री का स्थान ले लिया था। वाद का प्रतिवाद इस आधार पर किया गया कि सम्पत्ति पुनः खरीदने का अधिकार एक व्यक्तिगत अधिकार है और इसे उस स्त्री द्वारा समनुदिष्ट नहीं किया जा सकता।

विचारण न्यायालय ने वाद को खारिज कर दिया किन्तु अपील में विद्वान अपर सिविल न्यायाधीश ने विचारण न्यायालय की डिक्री को अपास्त कर दिया। इस निर्णय से व्यथित होकर यह अपील फाइल की गई।

जिस प्रश्न पर विद्वान एकल न्यायाधीश के समक्ष और उस न्यायालय के समक्ष भी बहस की गई थी वह प्रश्न यह था कि चूंकि उक्त स्त्री का पुनः खरीदने का अधिकार जो समनुदेशित कर दिया गया था, एक व्यक्तिगत अधिकार था, इसलिए वह इसे वादी-प्रत्यर्थी (दूसरे व्यक्ति) को समनुदेशित नहीं कर सकती थी।

अभिनिर्धारित—निर्दिष्ट प्रश्नों का उत्तर दिया गया।

स्थावर सम्पत्ति के विक्रय की संविदा और स्थावर सम्पत्ति के पुनः खरीदने अथवा प्रतिहस्तान्तरण की संविदा के बीच भेद होता है। सम्पत्ति के प्रतिहस्तान्तरण का करार, जबकि क्रेता ने इसे विक्रय द्वारा विक्रेता को अंतरित कर दिया है, एक प्रकार की रियायत (कंसेशन) होती है और इसलिए

इसका प्रयोग प्रतिहस्तान्तरण के करार की कठोर अपेक्षाओं के अनुसार ही किया जा सकता है। (पैरा 7)

ऊपर बताए गए विभेद के अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के करारों के समनुदेशित किए जाने से संबंधित सिद्धांत वही है। अभिव्यक्त या विवक्षित प्रतिकूल आशय के अभाव में, दोनों दशाओं में किए गए करार पक्षकारों के द्वारा और उनके विरुद्ध तथा समनुदेशितियों और अंतरितियों सहित उनके विधिक प्रतिनिधियों के द्वारा और उनके विरुद्ध भी प्रवर्तित किए जा सकते हैं। (पैरा 9)

नए विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 की धारा 15 में किसी संविदा के विनिर्दिष्ट अनुपालन का उपबंध किया गया है। इस धारा के अधीन जब तक स्वयं संविदा यह उपबंध नहीं करती कि विक्रय का करार समनुदिष्ट नहीं किया जाएगा, या संविदा के निबंधनों में ऐसी शर्तें अधिकथित की गई हों जिनसे यह उपदर्शित होता हो कि संविदा का अनुपालन पक्षकारों द्वारा व्यक्तिगत रूप से ही किया जाना है तब तक सम्पत्ति को बेचने का करार समनुदेशनीय है। (पैरा 11)

समनुदेशन उस हित या हक का अंतरण है जो प्रायः लिखित रूप में अभिव्यक्त किया जाता है जिसके द्वारा संविदाकारी पक्षकार अपने आप के लिए और अपने समनुदेशितियों के लिए प्रसंविदा करते हैं ताकि कतिपय घटनाओं के घटने पर समनुदेशिती मूल प्रसंविदाकारों का स्थान ले सकें। अतः कोई भी व्यक्ति किसी संविदा के आधार पर तब तक वाद नहीं ला सकता जब तक वह या तो मूल पक्षकार नहीं है या मूल पक्षकार का विधिवत अंतरिती अथवा समनुदेशिती नहीं है। यदि स्थावर सम्पत्ति के पुनः विक्रय या प्रति-हस्तांतरण की संविदा ऐसे पक्षकार की प्रेरणा पर या उसके द्वारा प्रवर्तित कराई जा सकती है, जो कि संविदा का पक्षकार है तो ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि वह व्यक्ति जो इस संविदा के अधीन अधिकार प्राप्त करता है, संविदा के लाभों से वंचित क्यों किया जाना चाहिए। सम्पत्ति रखने के अधिकार में सम्पत्ति को अंतरित करने का अधिकार भी है। किसी अंतरिती को वे अधिकार प्रदान किए बिना किया गया अंतरण जो अधिकार अंतरणकर्ता रखता है, निरर्थक और व्यर्थ होगा। अतः अभिव्यक्त अथवा विवक्षित प्रतिकूल आशय के अभाव में कोई भी संविदा पक्षकारों द्वारा या उनके विरुद्ध तथा उनके समनुदेशितियों और अंतरितियों सहित, उनके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों द्वारा या उनके विरुद्ध प्रवर्तित की/कराई जा सकेगी। (पैरा 12)

विक्रय और प्रतिहस्तांतरण के करारों या स्थावर सम्पत्ति के पुनः विक्रय के करारों में, जहां कोई व्यक्तिगत अधिकार प्रदान किया गया हो, वहां इन करारों के अधीन अधिकार प्राप्त करने वाले व्यक्ति ही इन्हें प्रवर्तित कराने के हकदार होंगे। किन्तु जहां प्रदान किए गए अधिकार व्यक्तिगत नहीं हैं तो इन्हें अंतरित या समनुदेशित किया जा सकेगा और निष्पादन डिक्री में इनकी कुर्की भी की जा सकेगी। उपर्युक्त प्रकार की संविदा में प्रश्नगत अधिकार को व्यक्तिगत फायदे का अधिकार कहा जा सकता है, यदि इसका आशय उस व्यक्ति के ही अनन्य प्रयोजनों के लिए उन अधिकारों का प्रयोग किया जाना था। (पैरा 17)

		पैरा
[1962]	ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1810 : खरदा कम्पनी लि० **बनाम** रेयन एण्ड कम्पनी (इंडिया) प्राइवेट लि० [Khardah Company Limited *Vs.* Rayon and Company (India) Pvt. Limited];	16
[1940]	ए० आई० आर० 1940 मुम्बई 339 : विश्वेश्वर नरसाभट्ट गदादा **बनाम** दुर्गप्पा इरप्पा भाटकर (Vishweshwar Narsabhatta Gaddada *Vs.* Durgappa Irappa Bhatkar);	14
[1928]	ए० आई० आर० 1928 प्रिवी कौंसिल 174 : सगलागुना नाइडू **बनाम** चिन्ना मुन्नूस्वामी नाइडू (Sagalaguna Naudu *Vs.* Chinna Munnuswami Nayudu);	13
[1926]	ए० आई० आर० 1926 मद्रास 699 : चिन्ना मुन्नूस्वामी नाइडू **बनाम** सगलागुना नाइडू (Chinna Munnuswami Nayudu *Vs.* Sagalaguna Naudu) का अवलम्ब लिया गया।	13
[1930]	ए० आई० आर० 1930 इलाहाबाद 101 : गोवर्धन **बनाम** रघुबीर सिंह (Govardhan *Vs.* Raghubir Singh);	19

[1929]	ए० आई० आर० 1929 इलाहाबाद 817 : सय्यद अब्दुल्ला **बनाम** अहमद और अन्य (Saiyed Abdullah *Vs.* Ahmad and others);	18
[1926]	ए० आई० आर० 1926 मद्रास 699 : चिन्ना मुन्नू-स्वामी नाइडू **बनाम** सागलागुना नाइडू (Chinna Munnuswami Nayudu *Vs.* Sagalaguna Naudu) से **प्रभेद** बताया गया।	18
[1980]	ए० आई० आर० 1980 इलाहाबाद 36 : भैरों प्रसाद **बनाम** तारा देवी (Bhairon Prasad *Vs.* Tara Devi);	15
[1968]	1968 ए० एल० जे० 725 : पी० एन० कपूर **बनाम** एस० एन० आनंद (P. N. Kapoor *Vs.* S. N. Anand);	15
[1965]	ए० आई० आर० 1965 मद्रास 506 : सिन्नाकरुप्पा गौंडर **बनाम** एम० करुप्पूस्वामी गौंडर (Sinnakaruppa Gounder *Vs.* M. Karuppuswami Gounder);	16
[1967]	ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 744 : रामबरन प्रसाद **बनाम** राम मोहित हाजरा और अन्य (Ram Baran Prasad *Vs.* Ram Mohit Hazra and others);	9
[1963]	ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1182 : सिमरथ मल **बनाम** नंजलिंगय्या (Simrathmull *Vs.* Nanjalingiah);	8
[1961]	ए० आई० आर० 1961 असम 173 : विपिन बिहारी **बनाम** मसरब अली (Bipin Behari *Vs.* Masrab Ali);	14
[1955]	ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 621 : अली मिस्त्री **बनाम** कायम अली (Ali Mistri *Vs.* Kayam Ali);	14

[1954] ए० आई० आर० 1954 असम 95 : रशीद अली **बनाम** दरपाराम नामशूद्र (Rashid Ali *Vs.* Darparam Namsudra); 14

[1950] ए० आई० आर० 1950 फैड्रल कोर्ट 38 : षड्मुखम् पिल्लै **बनाम** अन्नालक्ष्मी अम्माल (Shanmugam Pillai *Vs.* Annalakhashmi Ammal) 8

निर्दिष्ट किए गए ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1975 की द्वितीय अपील सं० 978, जिसके साथ 1976 की द्वितीय अपील सं० 247 की भी सुनवाई की गई ।

1969 के मूल वाद सं० 776 से उद्भूत होने वाली सिविल अपील सं० 456 में अपर सिविल न्यायाधीश श्री एस० आर० सागर द्वारा 1 जनवरी, 1975 को पारित निर्णय और डिक्री के विरुद्ध द्वितीय अपील ।

अपीलार्थियों की ओर से ... श्री एच० एस० जोशी

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री एच० एस० निगम

न्यायालय का निर्णय न्या० के० सी० अग्रवाल ने दिया ।

न्या० अग्रवाल :

सय्यद अब्दुल्ला बनाम **अहमद**[1] और **गोवर्धन** बनाम **रघबीर सिंह**[2] में इस न्यायालय के दो खंड न्यायपीठों के विनिश्चयों के बीच मतभेद को देखते हुए विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह निर्देश किया है ।

2. अनावश्यक विस्तार को छोड़कर, इस निर्देश का विनिश्चय करने के लिए आवश्यक तथ्य इस प्रकार हैं । एक स्त्री श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम विवादास्पद मकान के 1/5 अंश की स्वामिनी थी । उसने इस मकान में अपना अंश एक रजिस्ट्रीकृत विक्रय-विलेख के अधीन एक व्यक्ति मोहम्मद यासीन को अंतरित कर दिया था । उसी तारीख को मोहम्मद यासीन ने एक रजिस्ट्रीकृत दस्तावेज के अधीन प्रतिहस्तांतरण का एक करार निष्पादित किया । श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम ने मकान को पुनः खरीदने का अधिकार एक रजिस्ट्रीकृत विलेख के द्वारा 8 जुलाई, 1969 को जाकिर हुसैन के नाम

---

1 ए० आई० आर० 1929 इलाहाबाद 817.

2 ए० आई० आर० 1930 इलाहाबाद 101.

समनुदिष्ट कर दिया । तत्पश्चात् श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम तथा मोहम्मद यासीन के वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों के बीच, जिन्होंने उससे 1/5 अंश खरीदा था तथा जाकिर हुसैन के बीच जो प्रतिहस्तांतरण के अधिकार का क्रेता था, विवाद उठ खड़ा हुआ । इन तथ्यों का उल्लेख किया जाना आवश्यक नहीं है । मात्र यह उल्लेख करना ही पर्याप्त होगा कि पुनः खरीदने के अधिकार के कुर्की किए जाने पर जाकिर हुसैन ने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1980 के आदेश 21, नियम 58 के अधीन एक आक्षेप फाइल किया और तत्पश्चात् इस आक्षेप के खारिज कर दिए जाने पर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 21, नियम 63 के अधीन 1970 का वाद सं० 254 फाइल किया । इस वाद के द्वारा उसने इस घोषणा के लिए दावा किया कि वह मकान के 5वें अंश को पुनः खरीदने का हकदार था, जो अंश श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम द्वारा मोहम्मद यासीन के पक्ष में बेच दिया गया था, जिसने उस अंश का प्रतिहस्तान्तरण करने के लिए सहमत होते हुए एक करार निष्पादित किया था । उसने यह प्रकथन किया कि श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम के प्रतिहस्तान्तरण के अधिकार को खरीद लिए जाने के कारण उसने बिस्मिल्ला वेगम का स्थान ले लिया था । वाद का प्रतिवाद इस आधार पर किया गया कि पुनः खरीदने का अधिकार एक व्यक्तिगत अधिकार था और इसे श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम द्वारा समनुदिष्ट नहीं किया जा सकता ।

3. विचारण न्यायालय ने वाद को खारिज कर दिया किंतु अपील में विद्वान अपर सिविल न्यायाधीश ने विचारण न्यायालय की डिक्री को अपास्त कर दिया और वाद में इस निष्कर्ष के साथ डिक्री पारित कर दी कि वादी जाकिर हुसैन इस घोषणा का हकदार था कि उसे पुनः खरीदने का वह अधिकार था जो उसे श्रीमती बिस्मिल्ला बेगम ने 8 जुलाई, 1969 को दिया था ।

4. इस निर्णय से व्यथित होकर 1975 की द्वितीय अपील सं० 978 इस न्यायालय में फाइल की गई । इससे संबंधित 1976 की द्वितीय अपील सं० 247 भी इन्हीं पक्षकारों के बीच में है । चूंकि निर्देश के इस मुद्दे के लिए इस दूसरे मामले के तथ्यों का उल्लेख करना आवश्यक नहीं है, इसलिए हम उनका यहां उल्लेख करना अनावश्यक समझते हैं ।

5. जिस प्रश्न पर विद्वान एकल न्यायाधीश के समक्ष और हमारे समक्ष भी बहस की गई थी वह प्रश्न यह था कि चूंकि श्रीमती बिस्मिल्ला

बेगम का पुनः खरीदने का अधिकार जो 8 जुलाई, 1969 के करार द्वारा समनुदेशित कर दिया गया था, एक व्यक्तिगत अधिकार था, इसलिए वह इसे वादी-प्रत्यर्थी जाकिर हुसैन को समनुदेशित नहीं कर सकती थी।

6. यह निर्विवाद है कि स्थावर संपत्ति को बेचने का अधिकार भी एक संपत्ति है। विक्रय की संविदा, उस संपत्ति में कोई हित या उस पर कोई प्रभार सर्जित नहीं करती है जिस संपत्ति को बेचने का करार किया गया है। यह करार न केवल विक्रेता के विरुद्ध ही विनिर्दिष्ट अनुपालन प्रवृत्त करने का अधिकार सर्जित करता है अपितु विक्रेता के उस क्रेता के विरुद्ध भी सर्जित करता है जिसे संविदा की सूचना थी। 'संपत्ति' शब्द के अंतर्गत ऐसी सब वस्तुएं आती हैं जो स्वामित्व का विषय होती हैं या हो सकती हैं—चाहे विधिक स्वामित्व हो या लाभकारी या प्राइवेट स्वामित्व हो या जिस स्वामित्व के साथ संपत्ति का अधिकार विधितः संलग्न हो सकता है। सामान्य भाषा में 'संपत्ति' शब्द की परिधि में अधिकार, हित और बाध्यताएं भी आती हैं। इस शब्द से मात्र वह कुछ ही अभिप्रेत नहीं है जिसे कब्जे में किया जा सकता है, अर्थात् कोई भौतिक या मूर्त वस्तु, अपितु भौतिक और मूर्त वस्तुओं में अधिकार भी आते हैं जो अधिकार विधि द्वारा सर्जित किए जाते हैं या जिन्हें मंजूर किया जाता है। सामंड कृत "ज्यूरिस्प्रूडेंस" पुस्तक के 12वें संस्करण में पृष्ठ 411 पर यह मत व्यक्त किया गया है :—

> "अपने व्यापक अर्थ में 'संपत्ति' के अंतर्गत व्यक्ति का अधिकार आता है चाहे वह किसी प्रकार का भी अधिकार हो।"

भैरों प्रसाद बनाम **तारा देवी**[1] में इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया था कि क्रय का करार भी एक संपत्ति होता है।

7. तथापि, स्थावर संपत्ति के विक्रय की संविदा और स्थावर संपत्ति के पुनः विक्रय अथवा प्रतिहस्तान्तरण की संविदा के बीच भेद होता है। संपत्ति के प्रतिहस्तान्तरण का करार, जबकि क्रेता ने इसे विक्रय द्वारा विक्रेता को अंतरित कर दिया है, एक प्रकार की रियायत (कंसेशन) होती है और इसलिए इसका प्रयोग प्रतिहस्तान्तरण के करार की कठोर अपेक्षाओं के अनुसार ही किया जा सकता है। हैल्सबरीज लाज आफ इंग्लैंड, तृतीय संस्करण, जिल्द 14, के पैरा 1151 में यह उल्लेख किया गया है :—

> "जहां संविदा, हस्तान्तरण या विल के अधीन फायदे का कोई अधिकार एक उल्लिखित रीति में या उल्लिखित समय पर किसी कार्य

[1] ए० आई० आर० 1980 इलाहाबाद 36.

से फायदा पाने वाले के द्वारा पक्षकारों को उद्भूत होता है तो वह कार्य उस अधिकार का उपभोग करने के लिए तदनुसार किया जाना चाहिए, और कपट, दुर्घटना या आश्चर्य के अभाव में साम्या इसके निबंधनों के किए गए भंग से छुटकारा/अपवर्जन नहीं देगी।"

8. ऊपर व्यक्त किए गए इन मतों का अनुमोदन उच्चतम न्यायालय ने **सिमरथ मल** बनाम **नंजलिगय्या**[1] में किया था। **षड्मुखम् पिल्लै** बनाम **अन्नालक्ष्मी अम्माल**[2] में फैड्रल कोर्ट ने भी यह अभिनिर्धारित किया था कि प्रतिहस्तान्तरण के उल्लेख के अधीन दिया गया विकल्प एक प्रकार की रियायत या विशेषाधिकार है।

9. ऊपर बताए गए विभेद के अतिरिक्त इन दोनों प्रकार के करारों के समनुदेशित किए जाने से संबंधित सिद्धांत वही है। अभिव्यक्त या विवक्षित प्रतिकूल आशय के अभाव में, दोनों दशाओं में किए गए करार पक्षकारों के द्वारा और उनके विरुद्ध तथा समनुदेशितियों और अंतरितियों सहित उनके विधिक प्रतिनिधियों के द्वारा और उनके विरुद्ध भी प्रवर्तित किए जा सकते हैं। (देखिए—**रामवरन प्रसाद** बनाम **राम मोहित हाजरा और अन्य**[3])

10. इस प्रश्नगत संविवाद से संबंधित अन्य नजीरों पर विचार करने से पूर्व हम विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 के उपबंधों के प्रति निर्देश कर सकते हैं। विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम, 1963 से पूर्व के अधिनियम की धारा 23(ख) में निम्नलिखित उपबंध किया गया था :—

*"23. इस अध्याय के द्वारा अन्यथा उपबंधित के सिवाय, किसी संविदा का विनिर्दिष्ट अनुपालन निम्नलिखित द्वारा करवाया जा सकता है :—

(क) ... ...

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :

*23. Except as otherwise provided by this Chapter, the specific performance of a contract may be obtained by—

(a) ... ...

[1] ए० आई० आर० 1963 एस० सी० 1182.

[2] ए० आर० आर० 1950 फैड्रल कोर्ट 38.

[3] ए० आई० आर० 1967 एस० सी० 744.

(ख) उस संविदा के किसी पक्षकार के हित-प्रतिनिधि या मालिक (प्रिन्सिपल) द्वारा :

परंतु जहां ऐसे पक्षकार की विद्वता, कौशल, शोधन-क्षमता या व्यक्तिगत गुण उस संविदा का सारवान् अंग है या जहां संविदा में यह उपबंध किया गया है कि उसका हित समनुदिष्ट नहीं किया जाएगा तो उसका हित-प्रतिनिधि या उसका मालिक (प्रिन्सिपल) संविदा का विनिर्दिष्ट अनुपालन कराने के लिए तब तक हकदार नहीं होगा जब तक सविदा के संबंध में उसने अपने भाग का पहले ही अनुपालन न कर दिया हो।"

11. नए अधिनियम की धारा 15 में किसी संविदा के विनिर्दिष्ट अनुपालन का उपबंध किया गया है। इस धारा के अधीन जब तक स्वयं संविदा यह उपबंध नहीं करती कि विक्रय का करार समनुदिष्ट नहीं किया जाएगा, या संविदा के निबंधनों में ऐसी शर्तें अधिकथित की गई हों जिनसे यह उपदर्शित होता हो कि संविदा का अनुपालन पक्षकारों द्वारा व्यक्तिगत रूप से ही किया जाना है तब तक संपत्ति को बेचने का करार समनुदेशनीय है।

12. समनुदेशन उस हित या हक का अंतरण है जो प्रायः लिखित रूप में अभिव्यक्त किया जाता है जिसके द्वारा संविदाकारी पक्षकार अपने आप के लिए और अपने समनुदेशितियों के लिए प्रसंविदा करते हैं ताकि कतिपय घटनाओं के घटने पर समनुदेशिती मूल प्रसंविदाकारों का स्थान ले सकें। अतः कोई भी व्यक्ति किसी संविदा के आधार पर तब तक वाद नहीं ला सकता जब तक वह या तो मूल पक्षकार नहीं है या मूल पक्षकार का विधिवत अन्तरिती अथवा समनुदेशिती नहीं है। यदि स्थावर सम्पत्ति के पुनः विक्रय या प्रति-हस्तांतरण की संविदा ऐसे पक्षकार की प्रेरणा पर या उसके द्वारा प्रवृत्त की जा

(b) The representative in interest, or the principal of any party thereto :

Provided that where the learning, skill, solvency or any personal quality of such party is a material ingredient in the contract, or where the contract provides that his interest shall not be assigned, his representative in interest or his principal shall not be entitled to specific performance of the contract, unless his part thereof has already been performed."

सकती है, जो कि संविदा का पक्षकार है तो ऐसा कोई कारण प्रतीत नहीं होता कि वह व्यक्ति जो इस संविदा के अधीन अधिकार प्राप्त करता है, संविदा के लाभों से वंचित क्यों किया जाना चाहिए। संपत्ति रखने के अधिकार में संपत्ति को अंतरित करने का अधिकार भी है। किसी अंतरिती को वे अधिकार प्रदान किए बिना किया गया अन्तरण जो अधिकार अन्तरणकर्ता रखता है, निरर्थक और व्यर्थ होगा। अतः अभिव्यक्त अथवा विवक्षित प्रतिकूल आशय के अभाव में कोई भी संविदा पक्षकारों द्वारा या उनके विरुद्ध तथा उनके समनुदेशितियों और अंतरितियों सहित, उनके वारिसों और विधिक प्रतिनिधियों द्वारा या उनके विरुद्ध प्रवर्तित की/कराई जा सकेगी।

13. **चिन्ना मुन्नूस्वामी नाइडू** बनाम **सालागुना नायडू**[1] में एक स्थावर संपत्ति के प्रतिहस्तान्तरण के लिए किए गए करार के समनुदेशिती ने उस करार के विनिर्दिष्ट अनुपालन के लिए वाद फाइल किया। खंड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि स्थावर संपत्ति के प्रतिहस्तान्तरण को भविष्य में किसी तारीख में प्राप्त करने के लिए दिए गए विकल्प के प्रयोग करने के लिए निष्पादनकारी संविदा के अधीन दिया गया अधिकार समनुदेशनीय था। इस विनिश्चय की पुष्टि प्रिवी कौंसिल ने **सगलामुना नाइडू** बनाम **चिन्ना मुन्नूस्वामी नाइडू**[2] में कर दी थी।

14. **विश्वेश्वर नरसाभट्ट गददादा** बनाम **दुर्गप्पा इरप्पा भाटकर**[3] में न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि 'कामन लॉ और' धारा 23(ख), दोनों के अधीन बेची गई संपत्ति को पुनः खरीदने का विकल्प प्रथमदृष्ट्या समनुदेशनीय है, जब तक कि (संविदा में) ऐसा उल्लेख न कर दिया गया हो जिससे यह प्रतीत होता हो कि यह विकल्प क्रेता का व्यक्तिगत विकल्प है और समनुदेशनीय नहीं है। इस मत का समर्थन अनेक विनिश्चयों द्वारा किया गया है, अर्थात् **अली मिस्त्री** बनाम **कायम अली**[4], **रशीद अली** बनाम **दरपाराम नामशुद्र**[5], और **बिपिन बिहारी** बनाम **मसरब अली**[6]। इन सभी मामलों में यह मत अपनाया गया था कि प्रतिहस्तांतरण के संविदा का अन्तरिती किसी प्रतिकूल शर्त के अभाव में संविदा को प्रवर्तित कर सकता है।

---

[1] ए० आई० आर० 1926 मद्रास 699.

[2] ए० आई० आर० 1928 प्रिवी कौंसिल 174.

[3] ए० आई० आर० 1940 मुम्बई 339.

[4] ए० आई० आर० 1955 कलकत्ता 621.

[5] ए० आई० आर० 1954 असम 95.

[6] ए० आई० आर० 1961 असम 173.

15. **उम्र नूर मोहम्मद** बनाम **दयालशरण दरबारी**[1] और **पी० एन० कपूर** बनाम **एस० एन० आनंद**[2] में भी यही मत अपनाया गया था। इन विनिश्चयों का अनुमोदन हमारी न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ द्वारा **भैरों प्रसाद** बनाम **तारा देवी**[3] में किया गया था। **पी० एन० कपूर के मामले**[2] के सम्बन्ध में पूर्ण न्यायपीठ ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया था :—

> "पक्षकारों के विद्वान काउन्सेलों की सुनवाई करने के पश्चात् हमारा यह स्पष्ट मत है कि पी० एन० कपूर के मामले में इस न्यायालय का विनिश्चय बिल्कुल सही है।"

16. ऐसा ही दृष्टिकोण मद्रास उच्च न्यायालय ने **सिन्नाकरूप्पा गौंडर** बनाम **एम० करूपूस्वामी गौंडर**[4] में अपनाया था। इस खंड न्यायपीठ के विनिश्चय के प्रति निर्देष **खारदा कम्पनी लि०** बनाम **रेयन एण्ड कम्पनी (इण्डिया) प्राइवेट लि०**[5] में उच्चतम न्यायालय द्वारा भी किया गया था। इस मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि किसी संविदा के अधीन अधिकार तब तक समनुदेशनीय हैं जब तक कि संविदा की प्रकृति व्यक्तिगत नहीं है या अधिकारों की प्रकृति समनुदेशन करने योग्य नहीं है।

17. हमने जो कुछ ऊपर कहा है उससे यह निष्कर्ष निकलता है कि विक्रय और प्रतिहस्तान्तरण के करारों या स्थावर संपत्ति के पुनः विक्रय के करारों में, जहां कोई व्यक्तिगत अधिकार प्रदान किया गया हो, वहां इन करारों के अधीन अधिकार प्राप्त करने वाले व्यक्ति ही इन्हें प्रवर्तित कराने के हकदार होंगे। किन्तु जहां प्रदान किए गए अधिकार व्यक्तिगत नहीं हैं तो इन्हें अंतरित या समनुदेशित किया जा सकेगा और निष्पादन डिक्री में इनकी कुर्की भी की जा सकेगी। उपर्युक्त प्रकार की संविदा में प्रश्नगत अधिकार को व्यक्तिगत फायदे का अधिकार कहा जा सकता है, यदि इसका आशय उस व्यक्ति के ही अनन्य प्रयोजनों के लिए उन अधिकारों का प्रयोग किया जाना था।

---

[1] 1968 ए० एल० जे० 725.
[2] 1970 ए० एल० जे० 721.
[3] ए० आई० आर० 1980 इलाहाबाद 36.
[4] ए० आई० आर० 1965 मद्रास 506.
[5] ए० आई० आर० 1962 एस० सी० 1810.

18. उपर्युक्त विनिश्चयों पर अब विचार करने के पश्चात्, जिस विवाद के कारण यह प्रस्तुत निर्देश किया गया है, हमारा निष्कर्ष है कि **सैयद अब्दुल्ला** बनाम **अहमद और अन्य**[1] में विक्रय के करार में अभिव्यक्ततः अथवा विवक्षिततः कोई ऐसा खंड नहीं था कि करार स्वयं पक्षकारों द्वारा ही प्रवर्तनीय होगा और उनके विधिक प्रतिनिधियों अथवा समनुदेशितियों और अंतरितियों द्वारा प्रवर्तनीय होगा, अतः न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि वह संविदा समनुदिष्ट की जा सकती थी और वह विधिक प्रतिनिधियों द्वारा प्रवर्तित की जा सकती थी। इस निष्कर्ष पर पहुंचने में न्यायालय ने **चिन्नामुन्नू स्वामी नाइडू** बनाम **सागलागुना नाइडू**[2] में मद्रास उच्च न्यायालय के विनिश्चय का अवलंब लिया था। इस विनिश्चय का अनुमोदन अपील किए जाने पर प्रिवी कौंसिल द्वारा भी किया गया था।

19. तथापि **गोवर्धन** बनाम **रघबीर सिंह**[3] में उठाया गया संविवाद एक भिन्न संविवाद था। उस मामले में करार द्वारा सर्जित अधिकार व्यक्तिगत अधिकार पाया गया था। करार का अर्थान्वयन करने के पश्चात् खंड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया कि :—

> "यदि पश्चात्कथित व्यक्ति का केवल व्यक्तिगत हित ही था, जिसे वह समनुदिष्ट नहीं कर सकता था तो बदरी और बलदेव को किसी भी प्रकार से उसका ऐसा प्रतिनिधि नहीं समझा जा सकता जो विनिर्दिष्ट अनुतोष अधिनियम की धारा 23(ख) के अधीन विनिर्दिष्ट अनुपालन प्राप्त करने के लिए हकदार हो सकें।"

20. खंड न्यायपीठ का यह भी विचार था कि चूंकि करार व्यक्तिगत प्रकृति का था इसलिए इसे क्रेता के पुरुष-वंशजों से भिन्न किसी अन्य व्यक्ति को अन्यसंक्रांत नहीं किया जा सकता था और केवल वे ही उस करार का लाभ पाने के हकदार थे।

21. अतः हमारी यह राय है कि दोनों विनिश्चयों के बीच कोई मतभेद नहीं है। दोनों मामलों में उठाए गए संविवाद भिन्न-भिन्न संविवाद थे। इन मामलों में दिए गए विनिश्चय सही हैं और इनमें से किसी को भी नहीं उलटा जा सकता। यह मुख्य और महत्वपूर्ण नियम है कि न्यायाधीशों के मत और विधि जैसी उनके द्वारा अधिकथित की गई है, उन्हें उस विवाद्यक के सम्बन्ध

---

[1] ए० आई० आर० 1929 इलाहाबाद 817.
[2] ए० आई० आर० 1926 मद्रास 699.
[3] ए० आई० आर० 1930 इलाहाबाद 101.

में ही पढ़ना चाहिए जिस विवाद्यक का उन्होंने विचारण किया था और उनकी टिप्पणी को भलीभांति उन प्रश्नों को लागू नहीं किया जा सकता जो उसमें न्यायाधीश के मन में ही नहीं थे।

22. अब ये कागजात इन दो मामलों के एकल न्यायाधीश को ऊपर दिए गए उत्तर के साथ वापस कर दिए जाने चाहिए।

निर्दिष्ट प्रश्नों का उत्तर दिया गया।

शर्मा

नि० प० 1984 : इलाहाबाद—220

मै० बर्मा शैल आयल स्टोरेज एण्ड डिस्ट्रिब्यूटिंग कम्पनी आफ इण्डिया लि०, कर्नाट सर्कस, नई दिल्ली बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (मुरादाबाद के कलक्टर द्वारा)

(M/s. Burma Shell Oil Storage and Distributing Company of India Ltd., Connaught Circus, New Delhi *Vs.* State of Uttar Pradesh through the Collector, Moradabad)

तारीख 10 नवम्बर, 1983

[न्या० के० सी० अग्रवाल, ए० एन० वर्मा और वी० के० खन्ना]

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882—धारा 106 और 116—धारा 116 के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक नहीं है कि मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् धारा 106 के अधीन अपेक्षित सूचना की अवधि से संबंधित संविदा की जाए—यह संविदा या तो मूल पट्टे में विद्यमान होती है या उसे मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् पक्षकारों के बीच की जा सकती है।

इस निर्देश में एकमात्र विचारार्थ मुद्दा यह है कि क्या सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 116 के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक था कि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन अपेक्षित सूचना की अवधि से सम्बन्धित मूल पट्टा समाप्त होने के पश्चात् संविदा की जानी चाहिए?

अभिनिर्धारित—निर्देशित प्रश्न का नकारात्मक उत्तर दिया गया।

अतः निर्देशित प्रश्न का उत्तर यह है कि यह आवश्यक नहीं है कि सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन अपेक्षित सूचना की

अवधि से सम्बन्धित मूल पट्टा समाप्त होने के पश्चात् संविदा की जाए। यह संविदा या तो मूल पट्टे में हो सकती है या यह मूल पट्टा समाप्त होने के पश्चात् पक्षकारों के बीच की जा सकती है। (पैरा 10)

		पैरा
[1969]	ए० आई० आर० 1969 इलाहाबाद 333 : शिवनाथ **बनाम** श्री राम भरोसे लाल (Shiv Nath *Vs.* Shri Ram Bharosey Lal);	3
[1965]	ए० आई० आर० 1965 इलाहाबाद 326 : जहूर अहमद अब्दुल सत्तार **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य (Zahoor Ahmad Abdul Sattar *Vs.* The State of U. P. and others);	3
[1955]	ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 679 : राधा वल्लभ **बनाम** बहोर राम चन्द (Radha Ballabh *Vs.* Bahore Ram Chand);	3
[1949]	ए० आई० आर० 1949 इलाहाबाद 703 : सूती देवी और एक अन्य **बनाम** बनारसी दास भगवान दास (Suiti Devi and another *Vs.* Banarsidas Bhagwandas);	3
[1938]	ए० आई० आर० 1938 इलाहाबाद 649 : बादल और अन्य **बनाम** राम भरोसे और अन्य (Badal and others *Vs.* Ram Bharose and others);	3
[1925]	ए० आई आर० 1925 अवध 173 : लालमन **बनाम** मुसम्मात मुल्ले (Lalman *Vs.* Mt. Mulle)	7

का **अवलम्ब** लिया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1971 की द्वितीय अपील सं० 363.

मुरादाबाद के सिविल न्यायाधीश श्री एस० आर० श्रीवास्तव की तारीख 9 जनवरी, 1971 की डिक्री और निर्णय के विरुद्ध द्वितीय अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री स्वामी दयाल

विरोधी पक्षकार की ओर से ... स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय न्या० वी० के० खन्ना ने दिया।

न्या० खन्ना :

पूर्ण न्यायपीठ की राय जानने के लिए विधि का निम्नलिखित प्रश्न निर्देशित किया गया है :—

> "क्या सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 116 के प्रयोजनों के लिए यह आवश्यक था कि मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 106 के अधीन अपेक्षित सूचना की अवधि से सम्बन्धित संविदा की जाती।"

2. विद्वान एकल न्यायाधीश के अनुसार **राधा बल्लभ** बनाम **बहोर रामचन्द्र**[1] और **जहूर अहमद अब्दुल सत्तार** बनाम **उत्तर प्रदेश राज्य और एक अन्य**[2] वाले सम्प्रकाशित मामलों में इस न्यायालय की दो खण्ड न्यायपीठों द्वारा अभिव्यक्त की गई राय में परस्पर विरोध था। निर्देश सम्बन्धी आदेश में विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि (राधा बल्लभ वाले उपरोक्त मामले में) इससे पूर्व खण्ड न्यायपीठ ने यह अभिनिर्धारित किया है कि 'तत्प्रतिकूल संविदा', जिसका उल्लेख सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 116 में किया गया है, वह संविदा हो सकती है जो मूल पट्टे में अन्तर्विष्ट हो और इसके लिए यह आवश्यक नहीं था कि ऐसी संविदा आवश्यक रूप से पुराने पट्टे का पर्यवसान होने के पश्चात् की जाए जबकि पश्चात्वर्ती खण्ड न्यायपीठ ने जहूर अहमद अब्दुल सत्तार वाले उपरोक्त मामले में यह अभिनिर्धारित किया है कि ऐसी तत्प्रतिकूल संविदा आवश्यक रूप से संविदात्मक किराएदार द्वारा अतिधारण किए जाने पर या उसके पश्चात् की जानी चाहिए। सूचना की अवधि के बारे में यह अभिनिर्धारित किया गया था कि वह पट्टे के 'प्रयोजन' पर निर्भर करेगी।

3. जहां तक हमारे उच्च न्यायालय का सम्बन्ध है पूर्ण न्यायपीठ को निर्देशित प्रश्न के सम्बन्ध में निम्नलिखित मामलों में विचार किया जा चुका है :—

> "**बादल और अन्य** बनाम **राम भरोसे और अन्य**[3], **सूती देवी और एक अन्य** बनाम **बनारसीदास भगवानदास**[4], **राधा बल्लभ** बनाम

[1] ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 679.

[2] ए० आर० आर० 1965 इलाहाबाद 326.

[3] ए० आई० आर० 1938 इलाहाबाद 649.

[4] ए० आई० आर० 1949 इलाहाबाद 703.

बहोर राम चन्द[1], जहूर अहमद अब्दुल सत्तार बनाम उत्तर प्रदेश राज्य और अन्य[2] और शिव नाथ बनाम श्री राम भरोसे लाल[3]

4. बादल और अन्य वाले उपरोक्त मामले में इस न्यायालय के विद्वान एकल न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया था कि यह सुस्थापित विधि है कि जब पट्टेदार पट्टे द्वारा नियत अवधि की समाप्ति के पश्चात् अतिधारण करता है तो पक्षकारों के बीच सम्बन्धों को वही शर्तें लागू होती हैं जो मूल पट्टे में दी गई हैं।

5. सूती देवी और एक अन्य वाले उपरोक्त मामले में इस न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 116 और 106 के उपबंधों का अर्थान्वयन करने के पश्चात् और इस न्यायालय की उपरोक्त नजीरों का पुनर्विलोकन करने के पश्चात् यह अभिनिर्धारित किया था :—

> "हम सर्वाधिक सम्मान देते हुए दशरथी कुमार **बनाम** शरत चन्द्र घोष, [ए० आई० आर० (21) 1934 कलकत्ता 135=149 आई० सी० 722] वाले मामले के विनिश्चय के तर्क (आधार) का अनुसरण करने में कठिनाई महसूस करते हैं। धारा 116 के अधीन किसी तत्प्रतिकूल करार के अभाव में यदि कोई किराएदार पट्टे की अवधि का पर्यवसान होने के पश्चात् उसे पट्टे पर दी गई सम्पत्ति पर कब्जा बनाए रखता है और पट्टाकर्ता उससे किराया स्वीकार कर लेता है तो उस प्रयोजनार्थ वर्षानुवर्षी या मासानुमासी किराएदारी का नवीकरण हो जाता है, जिसके लिए यह सम्पत्ति पट्टे पर दी गई थी, जैसा कि धारा 106 में विनिर्दिष्ट है। उस धारा के प्रति निर्देश करते हुए हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि कृषि या विनिर्माण सम्बन्धी पट्टे के प्रयोजन के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि प्रत्येक वर्ष के लिए पट्टा है जिसका किराएदारी का वर्ष समाप्त होने के साथ 6 मास की सूचना देकर पर्यवसान किया जा सकता है। किन्तु ऐसा पक्षकारों द्वारा की गई तत्प्रतिकूल संविदा के अध्यधीन होगा। हमारे समक्ष मामले में संविदा यह थी कि यदि पट्टे पर दी गई सम्पत्ति किसी निजी विक्रय के अनुक्रम में या किसी ऐसी डिक्री के अनुसरण में बेची जाती है जो बैंक द्वारा

[1] ए० आई० आर० 1955 इलाहाबाद 679.
[2] ए० आई० आर० 1965 इलाहाबाद 326.
[3] ए० आई० आर० 1969 इलाहाबाद 333.

संस्थित बंधक सम्बन्धी वाद में पारित की गई हो तो पट्टे का पट्टेकर्ता द्वारा पट्टेदार को तीन मास की सूचना देकर पर्यवसान किया जा सकता है। जहां तक पट्टे के पर्यवसान के लिए अपेक्षित सूचना का सम्बन्ध है ऐसी संविदा को देखते हुए यहां सफलतापूर्वक यह दलील नहीं दी जा सकती कि श्री कैप्टेन द्वारा जारी की गई सूचनाएं विधि द्वारा यथा अपेक्षित मान्य और विधिमान्य सूचनाएं नहीं थीं...।"

उपर्युक्त विनिश्चय से यह स्पष्ट हो जाता है कि खण्ड न्यायपीठ ने स्पष्ट रूप से यह न्याय अभिनिर्धारित किया था कि सूचना की अवधि से सम्बन्धित संविदा पट्टे का पर्यवसान होने से पहले भी की जा सकती थी और जहां तक सूचना की अवधि का संबंध है उसके लिए मूल संविदा पर ध्यान देना होगा।

6. राधा बल्लभ वाले उपरोक्त मामले में इस न्यायालय की एक खण्ड न्यायपीठ ने स्पष्ट रूप से यह अभिनिर्धारित किया था :—

"उस प्रयोजन के अनुसार जिसके लिए सम्पत्ति पट्टे पर दी गई हो किसी पट्टे के वर्षानुवर्षी या मासानुमासी नवीकरण, की उपधारणा केवल तब की जा सकती है जब कोई 'तत्प्रतिकूल करार' न हो। धारा 116 में निर्दिष्ट करार मूल पट्टे का पर्यवसान होने के पश्चात् किया गया कोई करार हो सकता है या यह स्वय मूल पट्टे में भी हो सकता है।"

(अधोरेखांकित भाग पर जोर दिया गया है)

अतः उच्च न्यायालय की इस खण्ड न्यायपीठ ने भी स्पष्ट रूप से यह अधिकथित किया है कि सूचना की अवधि से सम्बन्धित संविदा स्वयं मूल पट्टे में भी हो सकती थी या उसे मूल पट्टे के पर्यवसान के पश्चात् पक्षकारों के बीच किया जा सकता था।

7. इस न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ ने शिवनाथ वाले उपर्युक्त मामले में धारा 116 में प्रयुक्त 'किसी तत्प्रतिकूल संविदा के अभाव में' शब्दों के अर्थ का निर्वचन किया था। निर्णय के पैरा 28, 28(क) और 29 में सूती देवी और राधा बल्लभ वाले उपर्युक्त मामलों में किए गए विनिश्चयों का अनुमोदन किया गया। पूर्ण न्यायपीठ ने **लालमन बनाम मुसम्मात मुल्ले**[1] वाले सम्प्रकाशित मामले में अवध उच्च न्यायालय द्वारा किए गए विनिश्चय का भी अनुमोदन

[1] ए० आई० आर० 1925 अवध 173.

नि० प० 1984 : उड़ीसा—1

उड़ीसा राज्य बनाम राजेन्द्र पंडा

(State of Orissa *Vs.* Rajendra Panda)

तारीख 27 जुलाई, 1983

[कार्य० मु० न्या० पी० के० मोहन्ती और न्या० जी० बी० पटनायक]

भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 धारा 23(1)—भूमि अर्जन हेतु प्रतिकर का निर्धारण करने के लिए सुसंगत परिस्थितियां—यदि किसी भूमि को अधिसूचना द्वारा लोक प्रयोजनार्थ अनिवार्य रूप से अर्जित कर लिया गया है तो अर्जित की गई भूमि के प्रतिकर के लिए बाजार मूल्य का अवधारण करने हेतु समान रूप से अवस्थित भूमि के लिए राज्य सरकार द्वारा दिया गया पूर्ववर्ती प्रतिकर उचित मार्गदर्शन होगा।

कुछ एकड़ भूमि राजकीय पशु प्रजनन फार्म के लिए सरकार द्वारा भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4 के अधीन अधिसूचना जारी करके अर्जित की गई। प्रत्यर्थी ने दस हजार रु० प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर का दावा किया। उसके अनुसार यह दर प्रश्नगत भूमि का प्रचलित बाजार मूल्य है। अधीनस्थ न्यायाधीश ने दो हजार रु० प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर अधिनिर्णीत किया और 15% की दर से अतिरिक्त प्रतिकर एवं 8% प्रति वर्ष की दर से ब्याज भी अधिनिर्णीत की। विद्वान् न्यायाधीश द्वारा अधिनिर्णीत की गई उक्त दर से व्यथित होकर राज्य सरकार ने प्रस्तुत अपील फाइल की है। राज्य की ओर से यह दलील प्रस्तुत की गई कि भूमि अर्जन सम्बन्धी अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख पर प्रचलित बाजार मूल्य के आधार पर ही प्रतिकर अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए। इसके लिए राज्य ने तीन और चार वर्ष पूर्व और बाद के विक्रय विलेखों की प्रमाणित प्रतियां प्रस्तुत कीं किन्तु अधीनस्थ न्यायाधीश ने इन्हें आधार नहीं माना और यह कहा कि इस प्रकार के संव्यवहार बाजार मूल्य का अवधारण करने के लिए उचित मार्गदर्शन प्रस्तुत नहीं करते। इसके अतिरिक्त राज्य सरकार ने 1963 और 1964 वर्षों के कुछ विक्रय विलेख भी प्रस्तुत किए किन्तु चूंकि उनमें अन्तर्वलित भूमियों की क्वालिटी के बारे में ऐसा कोई मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया था कि इनकी क्वालिटी प्रश्नगत भूमि की क्वालिटी के समान है अतः अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह कहते हुए इन्हें अस्वीकार कर दिया कि ये विक्रय-विलेख अर्जनाधीन भूमियों के बाजार मूल्य का अवधारण करने में सहायक नहीं हैं। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि भूमि अर्जन अधिनियम की धारा 4 के अधीन अर्जनाधीन भूमि के बाजार मूल्य का अवधारण करने के लिए उचित मार्गदर्शन क्या है?

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

यह निर्विवाद है कि अर्जित भूमियों में से 5.46 एकड़ भूमि अता भूमियां हैं और 0.63 एकड़ मल भूमियां हैं। प्रदर्श-1, 1977 के प्रकीर्ण मामले सं० 45 में दिया गया निर्णय है जो अता भूमियों और मल भूमियों से सम्बन्धित है जिन्हें राज्य सरकार ने उसी अधिसूचना के अधीन राजकीय पशु प्रजनन फार्म का निर्माण करने के उसी लोक प्रयोजन के लिए अर्जित किया था और जिसमें उन भूमियों के लिए 3,000 रु० प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर अधिनिर्णीत किया गया था। प्रदर्श 1 और 6 अर्जित भूमियों के पड़ौस में की उसी प्रकार की भूमियों के बाजार मूल्य का न्यायिक अवधारण होने के कारण अर्जित भूमियों के बाजार मूल्य का अवधारण करने में उचित मार्गदर्शन प्रस्तुत करते हैं। पूर्ववर्ती निर्णय प्रदर्श 1 और 6 साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 11 के अधीन प्रस्तुत मामले में यह दर्शित करने के लिए सुसंगत हैं कि मल भूमि के लिए दर प्रति एकड़ दर 3,000 रु० है और अता भूमि के लिए दर प्रति एकड़ 2,000 रु० है जिसे इन मामलों में अनुज्ञात किया गया है और जो प्रस्तुत मामले में अति अधिसंभाव्य दरें हैं क्योंकि उन मामलों में जिन भूमियों को अर्जित किगा गया था और वर्तमान मामले में जिन भूमियों को अर्जित किया गया है समान रूप से अवस्थित भूमियां हैं और इन्हें उसी प्रयोजन के लिए एक ही अधिसूचना के अधीन अर्जित किया गया है। (पैरा 6)

		पैरा
[1977]	ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 580 : पैड्रा उप्पल **बनाम** पंजाब राज्य (Padra Uppal *Vs.* State of Punjab);	3
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2403 : भूमि अर्जन अधिकारी, सिटी इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट बोर्ड, बैंगलौर **बनाम** एच० नारायणैया (Land Acquisition Officer, City Improvement Trust Board, Bangalore *Vs.* H. Naravaniah);	6
[1963]	1963 एस० सी० (नोट्स) 177 : खैया फिजुद्दीन **बनाम** आन्ध्र प्रदेश राज्य (Khaia Fizuddin *Vs.* State of Andhra Pradesh) **का अवलम्ब लिया गया।**	6
[1975]	1975 (2) सी० डब्ल्यू० आर० 842 : चिन्तामणि साहू **बनाम** कलक्टर, कटक (Chintamani Sahu *Vs.*	6

Collector, Cuttack)
निर्दिष्ट किया गया ।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1972 की प्रथम अपील सं० 129.

1971 के प्रकीर्ण मामले सं० 52 में सम्बलपुर के अधीनस्थ न्यायाधीश, श्री आर० एन० पंडा द्वारा 26 अप्रैल, 1972 को दिए गए विनिश्चय के विरुद्ध की गई अपील ।

अपीलार्थी की ओर से ... महाधिवक्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री आर० एन० सिन्हा

न्यायालय का निर्णय कार्यकारी मु० न्या० पी० के० मोहन्ती ने दिया ।

का० मु० न्या० महन्ती :

यह अपील भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 18 के अधीन किए गए निर्देश से उद्‌भूत हुई है ।

2. मौजा कलामती स्थित जोत सं० 23 के अधीन भूखण्ड सं० 692 और 693 से संलग्न 6.09 एकड़ भूमि राजकीय पशु प्रजनन फार्म के लिए सरकार द्वारा अर्जित की गई । भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 4 के अधीन 23 जनवरी, 1964 को अधिसूचना जारी की गई और अधिनियम की धारा 6 के अधीन घोषणा 22 सितम्बर, 1964 को प्रकाशित की गई । कलक्टर द्वारा दिया गया प्रतिकर केवल 929 रुपये 72 पैसे था । प्रत्यर्थी के आवेदन किए जाने पर अधिनियम की धारा 18 के अधीन सिविल न्यायालय को आवश्यक निर्देश किया गया । प्रत्यर्थी ने 10,000 रुपये प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर का दावा किया । उसके अनुसार यह दर प्रश्नगत भूमि का प्रचलित बाजार मूल्य है । अधीनस्थ न्यायाधीश ने 2,000 रुपये प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर अधिनिर्णीत किया । उसने प्रतिकर की कुल रकम पर 15% की दर से अतिरिक्त प्रतिकर और 6% प्रति वर्ष की दर से ब्याज भी अधिनिर्णीत की । विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के इस निर्णय से व्यथित होकर राज्य सरकार ने यह अपील फाइल की है ।

3. भूमि अर्जन अधिनियम, 1894 की धारा 23(1) के अनुसार प्रतिकर अधिनियम की धारा 4 के अधीन अधिसूचना के प्रकाशन की तारीख पर प्रचलित बाजार मूल्य के आधार पर अधिनिर्णीत किया जाना चाहिए और उक्त बाजार दर का अवधारण उस कीमत के प्रति निर्देश से किया जाता है जिसे ग्राम विक्रेता इच्छुक क्रेता से अभिप्राप्त करने की युक्तियुक्त आशा करता है । बाजार दर का अभिनिश्चय करने के लिए न्यायालय ऐसे संव्यवहारों का

अवलम्ब ले सकता है जो कीमत नियत करने के लिए मार्गदर्शन करते हों। प्रश्नगत भूमि के अर्जन की तारीख से युक्तियुक्त समय के भीतर अर्जित की गई भूमि के लिए संदत्त कीमत निश्चित रूप से सर्वोत्तम साक्ष्य होता है और अधिसूचना के समय या उसके कुछ समय पूर्व अर्जित की गई ऐसी भूमि, जिसमें समान फायदे हों, के लिए संदत्त कीमत भी प्रतिकर का निर्धारण करने के लिए समय बताएगा जैसा कि पैंड्रा उप्पल बनाम पंजाब राज्य[1] वाले मामले में कहा गया है।

4. प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी ने 5-12-1969, 25-7-64, 20-7-59 और 20-7-54 तारीख वाले विक्रय विलेख प्रदर्श 2 से 5 तक की प्रमाणित प्रतियां प्रस्तुत कीं। चूंकि इन विक्रय-विलेखों के अधीन किए गए संव्यवहार अधिनियम की धारा 4(1) के अधीन अधिसूचना की तारीख से युक्तियुक्त समय के भीतर नहीं किए गए थे अतः विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने सही रूप से यह अभिनिर्धारित किया कि ऐसे संव्यवहार बाजार मूल्य का अवधारण करने के लिए उचित मार्गदर्शन नहीं करते। राज्य सरकार ने 1963 और 1964 वर्षों के कुछ विक्रय-विलेख (प्रदर्श सी से लेकर प्रदर्श जी तक) प्रस्तुत किए किन्तु उसने यह दर्शित करने के लिए कोई मौखिक साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया कि इन विक्रय-विलेखों में अन्तर्वलित भूमियों की क्वालिटी उसी प्रकार के फायदों वाली है जो प्रश्नगत भूमियों की क्वालिटी है। अतः विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने यह अभिनिर्धारित किया कि ये विक्रय-विलेख अर्जनाधीन भूमियों के बाजार मूल्य को नियत करने में सहायक नहीं हैं। विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश के इस निष्कर्ष पर कि उनकी ओर से प्रस्तुत किए गए विक्रय-विलेख बाजार मूल्य का अवधारण करने के लिए उचित मार्गदर्शन प्रस्तुत नहीं करते, हमारे समक्ष आपत्ति नहीं की गई है।

5. प्रतिकर का निर्धारण करने में विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश ने इस न्यायालय द्वारा दिए गए पूर्ववर्ती उन दो विनिश्चयों (प्रदर्श 1 और 6) का अवलम्ब लिया जो भूमि अर्जन निर्देश मामलों में पारित किए गए थे और जिनमें उस भूमि के प्रतिकर का अवधारण किया गया था जिसे राजकीय पशु प्रजनन फार्म का निर्माण करने के लोक प्रयोजन के लिए अनिवार्य रूप से अर्जित किया गया था। राज्य की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् महाधिवक्ता ने यह दलील दी कि यह दर्शित करने के लिए कि पूर्ववर्ती विनिश्चय समान रूप से अवस्थित भूमियों से सम्बन्धित हैं किसी सामग्री के अभाव में विद्वान् अधीनस्थ न्यायाधीश को प्रतिकर का निर्धारण करने में उसका उपयोग नहीं करना चाहिए।

---

[1] ए० आई० आर० 1977 एस० सी० 580.

6. यह निर्विवाद है कि अर्जित भूमियों में से 5.46 एकड़ भूमि अता भूमियां हैं और 0.63 एकड़ मल भूमियां हैं। प्रदर्श 1,1977 के प्रकीर्ण मामले सं० 45 में दिया गया निर्णय है जो अता भूमियों और मल भूमियों से संबंधित है जिन्हें राज्य सरकार ने उसी अधिसूचना के अधीन राजकीय पशु प्रजनन फार्म का निर्माण करने के उसी लोक प्रयोजन के लिए अर्जित किया था और जिसमें उन भूमियों के लिए 3,000 रुपये प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर अधिनिर्णीत किया गया था। प्रदर्श 1 और 6 अर्जित भूमियों के पड़ौस में की उसी प्रकार की भूमियों के बाजार मूल्य का न्यायिक अवधारण होने के कारण अर्जित भूमियों के बाजार मूल्य का अवधारण करने में उचित मार्गदर्शन प्रस्तुत करते हैं। **खैया फिजुद्दीन** बनाम **आन्ध्र प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधिपतियों ने पृ० 101 पर यह अभिनिर्धारित किया है कि पूर्ववर्ती विनिश्चय सुसंगत होते हैं यदि उनका संबंध समान रूप से अवस्थित सम्पत्तियों से हों और उनमें उन तारीखों पर मूल्य का अवधारण अन्तर्विष्ट हो जो मामले में सुसंगत तारीख की निकटवर्ती तारीखें हों। इस विनिश्चय का **भूमि अर्जन अधिकारी, सिटी इम्प्रूवमेंट ट्रस्ट बोर्ड, बंगलोर** बनाम **एच० नारायणैया**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के पश्चात्वर्ती विनिश्चय में अनुसरण किया गया था। उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धान्त का भी इस न्यायालय द्वारा **चिन्तामणि साहू** बनाम **कलक्टर, कटक**[3] वाले मामले में अनुसरण किया गया।

पूर्ववर्ती निर्णय प्रदर्श 1 और 6 साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 11 के अधीन प्रस्तुत मामले में यह दर्शित करने के लिए सुसंगत हैं कि मल भूमि के लिए प्रति एकड़ दर 3,000 रुपये है और अता भूमि के लिए दर प्रति एकड़ 2,000 रुपये है जिसे इन मामलों में अनुज्ञात किया गया है और जो प्रस्तुत मामले में अति अधिसंभाव्य दरें हैं क्योंकि उन मामलों में जिन भूमियों को अर्जित किया गया था और वर्तमान मामले में जिन भूमियों को अर्जित किया गया है समान रूप से अवस्थित भूमियां हैं और इन्हें उसी प्रयोजन के लिए एक ही अधिसूचना के अधीन अर्जित किया गया है।

7. प्रस्तुत मामले में प्रत्यर्थी ने न्यायालय में यह साक्ष्य भी दिया कि उनकी भूमियां राजमार्ग से लगी हुई हैं और गौशाला क्रासिंग के समीप हैं जहां कि बस्ती है और गौशाला क्रासिंग पर हाट (साप्ताहिक बाजार) लगता है। इस साक्ष्य को प्रतिपरीक्षा में चुनौती नहीं दी गई है।

---

[1] 1963 एस० सी० (नोट्स) 177.

[2] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 2403.

[3] 1975 (2) सी० डब्ल्यू० आर० 842.

8. पूर्ववर्ती निर्णय (प्रदर्श 1 और 6) में बाजार मूल्य का न्यायिक रूप से अवधारण और प्रत्यर्थी द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर वह मल भूमियों के लिए 3,000 रुपये प्रति एकड़ की दर से प्रतिकर प्राप्त करने का हकदार है वह इससे अधिक प्राप्त नहीं कर सकता। अधिनियम की धारा 26(1) में यह उपबंध किया गया है कि जहां किसी आवेदक ने धारा 9 के अधीन दी गई किसी सूचना के अनुसरण में प्रतिकर का दावा किया है वहां न्यायालय द्वारा उसे अधिनिर्णीत रकम इस प्रकार दावा की गई रकम से अधिक नहीं होगी या धारा 11 के अधीन कलक्टर द्वारा अधिनिर्णीत रकम से कम नहीं होगी। यह धारा दावेदार को कलक्टर के समक्ष उसके द्वारा दावा की गई रकम से अधिक रकम प्राप्त करने के लिए वर्जित करती है।

9. उपरोक्त विवेचन के परिणामस्वरूप यह अपील खर्चे सहित खारिज की जाती है।

न्या० जी० बी० पटनायक :

मैं सहमत हूं।

बंसल अपील खारिज की गई।

नि० प० 1984 : उड़ीसा–6

निलाद्रि चन्द्र महन्त बनाम उड़ीसा राज्य और अन्य

(Niladri Chandra Mahanta *Vs*. State of Orissa and others)

तारीख 3 अगस्त, 1983

[न्या० बी० के० बहेरा और न्या० आर० सी० पटनायक]

संविधान, 1950, अनुच्छेद 311(1) सपठित उड़ीसा सिविल सर्विसेज (क्लासिफिकेशन, कन्ट्रोल एण्ड अपील) रूल्स, 1962 [सिविल सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण और अपील) नियमावली, 1962] रूल 14(4)—जब किसी सरकारी कर्मचारी को उसके पद से हटाए जाने के लिए आदेश उसे नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा दिया जाता है तो इस प्रकार की असांविधानिकता का इस तथ्य के कारण उपचार नहीं हो जाता कि सरकारी कर्मचारी को हटाए जाने के आदेश की समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्टि कर दी गई है परिणामतः उक्त अनुच्छेद 311(1) के उल्लंघन में अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा दिया गया सेवा पदच्युति का आदेश अकृत और

शून्य है और ऐसे आदेश का समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्ट किया जाना अवैध है।

पिटीशनर को, जो कि उपखण्ड अधिकारी के कार्यालय में चपरासी (वर्ग IV) था और जिसे अपर जिला मजिस्ट्रेट और जिला निर्वाचन अधिकारी ने सेवा में पुष्ट कर दिया था, बिना सूचना के लम्बी अवधि तक ड्यूटी से अनुपस्थित रहने के कारण अनुशासनिक कार्यवाही द्वारा उसे नियुक्त किये जाने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ प्राधिकारी ने आदेश द्वारा पदच्युत कर दिया। सेवा से हटाए जाने के इस आदेश को समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्टि भी करा दी गई। पिटीशनर ने यह दलील दी कि नियुक्त किए जाने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा सेवा से हटाए जाने का उसे आदेश नहीं दिया जा सकता क्योंकि यह असंवैधानिक है। विरोधी पक्षकार की ओर से यह दलील दी गई कि चूंकि अधीनस्थ अधिकारी द्वारा सेवा से हटाए जाने के आदेश की समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्टि कर दी गई है अत: सेवा से हटाये जाने का आदेश विधिपूर्ण है। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या किसी ऐसे सरकारी कर्मचारी को, जिसकी सेवा में पुष्टि कर दी गई हो, नियुक्त करने वाले प्राधिकारी के अधीनस्थ अधिकारी द्वारा सेवा से हटाए जाने का आदेश दिया जा सकता है और क्या ऐसा आदेश सांविधानिक होगा?

अभिनिर्धारित—रिट आवेदन मंजूर किया गया।

नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा सेवा से पदच्युति के आक्षेपित आदेश को अविधिमान्यता के संबंध में रिट आवेदन के पैरा 23 में पिटीशनर ने यह विनिर्दिष्ट आधार लिया है चूंकि, यह संविधान के अनुच्छेद 311(1) के अतिलंघन में है जिसका विरोधी पक्षकारों द्वारा प्रतिशपथपत्र में खण्डन नहीं किया गया है, उसमें केवल यह कहा गया है कि इस कथन पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। इस न्यायालय को यह विश्वास दिलाया गया है कि विरोधी पक्षकारों के पास पिटीशनर द्वारा दी गई इस विधिक दलील का खण्डन करने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है। (पैरा 3)

जब सेवा से हटाए जाने का आदेश नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा पारित किया जाता है तब इसकी असंवैधानिकता का मात्र इस तथ्य के आधार पर उपचार नहीं किया जा सकता कि पद से हटाए जाने के आदेश की अपील में समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्टि कर दी गई है। अनुच्छेद 311(1) के उल्लंघन में अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा पद से हटाए जाने का आदेश अकृत और शून्य है तथा सेवा उन्मोचन के आदेश

(उपाबंध 5) को कायम रखने में अपीलार्थियों ने अपने प्राधिकार का अवैध रूप से प्रयोग किया है। (पैरा 4)

प्रारम्भिक अधिकारिता : 1978 का मूल अधिकारिता मामला सं० 158.

भारत के संविधान के अनुच्छेद 226 और 227 के अधीन आवेदन के मामले में।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एस० डी० दास

विरोधी पक्षकारों की ओर से ... श्री डी० पी० साहू, स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० के० बहेरा ने दिया।

न्या० बहेरा :

संविधान के अनुच्छेद 311(1) में यह समादेश दिया गया है कि ऐसा व्यक्ति जो राज्य की सिविल सेवा का सदस्य है या राज्य के अधीन सिविल पद पर है अपने नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा पदच्युत या सेवा से नहीं हटाया जाएगा। उड़ीसा सिविल सर्विसेज (क्लासिफिकेशन, कण्ट्रोल एण्ड अपील) रूल्स, 1962 उड़ीसा सिविल सेवा (वर्गीकरण, नियंत्रण और अपील) नियमावली, 1962 के नियम 14(4) में यह उपबंध किया गया है कि नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से निम्न किसी, प्राधिकारी द्वारा पद से हटाए जाने की शास्ति अधिरोपित नहीं की जाएगी। इन आज्ञापक उपबंधों का गम्भीर रूप से उल्लंघन करते हुए पिटीशनर, जो कि सब-खण्ड अधिकारी, चम्पुआ (विरोधी पक्षकार सं० 5) के कार्यालय में चपरासी के पद पर कार्य कर रहा था, के विरुद्ध 20 अप्रैल, 1974 को और से प्रारम्भ होने वाली लम्बी अवधि से बिना किसी अनुज्ञा या सूचना के अप्राधिकृत रूप से अनुपस्थिति के कारण की गई अनुशासनात्मक कार्यवाही की और उसे पदच्युति के आदेश (उपाबंध-5) द्वारा सेवा से हटा दिया गया जो कि सब-खण्ड अधिकारी द्वारा सेवा से हटाये जानें के ऐसे आदेश की कोटि में आता है जिसे ऐसा करने की अधिकारिता नहीं थी क्योंकि पिटीशनर को उच्चतर प्राधिकारी अर्थात् अपर जिला मजिस्ट्रेट और ज़िला निर्वाचन अधिकारी, कियोंझर द्वारा उपाबंध-I के अनुसार उस पद पर पुष्ट कर दिया गया था और अधिष्ठाई रूप से नियुक्त कर दिया गया था।

2. पिटीशनर ने नियुक्ति के मूल आदेश को उपाबद्ध नहीं किया है क्योंकि पिटीशनर की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउंसेल, श्री दास ने यह निवेदन किया कि पिटीशनर नियुक्ति आदेश ढूंढ़ नहीं सका है। राज्य ने नियुक्ति के मूल आदेश को प्रस्तुत करने में काफी समय लिया किन्तु सुनवाई

के समय हमसे यह कहा गया कि यह आदेश मिल नहीं रहा है। किन्तु उपाबंध-I से यह बात स्पष्ट है कि पिटीशनर को वर्ग-IV सरकारी सेवक के रूप में अपर जिला मजिस्ट्रेट और जिला निर्वाचन अधिकारी द्वारा पुष्ट कर दिया गया था जिस पर विरोधी पक्षकारों द्वारा कोई विवाद नहीं किया गया है तथा जिन्होंने अपने प्रतिशपथपत्र में इस बात का प्रकथन किया है कि पिटीशनर को 24 जनवरी, 1958 से उस पद पर अपर जिला मजिस्ट्रेट और जिला निर्वाचन अधिकारी, कियोंझर द्वारा 13 जनवरी, 1958 के आदेश सं० 13(12) के अधीन पुष्ट कर दिया गया है। विरोधी पक्षकारों द्वारा हमारे समक्ष किसी प्रकार की सामग्री के प्रस्तुत न किये जाने के अभाव में तथा उपाबंध 1 के आधार पर यह मत अपनाना युक्तियुक्त है कि पिटीशनर को प्रारम्भ में ही उसी प्राधिकारी द्वारा नियुक्त किया गया था। अतः तथ्य यह है कि पिटीशनर को उप-खण्ड अधिकारी से उच्चतर रैंक के प्राधिकारी द्वारा अधिष्ठायी रूप से उस पद पर नियुक्त किया गया था।

3. चूंकि नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा सेवा से पदच्युति आक्षेपित आदेश को अविधिमान्यता के सम्बन्ध में रिट आवेदन के पैरा 23 में पिटीशनर ने यह विनिर्दिष्ट आधार लिया है कि चूंकि यह संविधान के अनुच्छेद 311(1) के अतिलंघन में है इस बात का विरोधी पक्षकारों द्वारा प्रतिशपथपत्र में खण्डन नहीं किया गया है और उसमें केवल यह कहा गया है कि इस कथन पर टीका-टिप्पणी करने की आवश्यकता नहीं है। हमें यह विश्वास दिलाया गया है कि विरोधी पक्षकारों के पास पिटीशनर द्वारा दी गई इस विधिक दलील का खण्डन करने के लिए कोई सामग्री उपलब्ध नहीं है।

4. निस्संदेह ही सेवा से हटाए जाने के आदेश के विरुद्ध पिटीशनर द्वारा की गई अपील की सुनवाई की गई और सक्षम प्राधिकारी अर्थात् राजस्व खण्ड आयुक्त द्वारा निपटाई गई। लेकिन जब सेवा से हटाए जाने का आदेश नियुक्त करने वाले प्राधिकारी से अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा पारित किया जाता है तब इसकी असंवैधानिकता का मात्र इस तथ्य के आधार पर उपचार नहीं किया जा सकता कि पद से हटाए जाने के आदेश की अपील में समुचित प्राधिकारी द्वारा पुष्टि कर दी गई है। अनुच्छेद 311(1) के उल्लंघन में अधीनस्थ प्राधिकारी द्वारा पद से हटाए जाने का आदेश अकृत और शून्य है तथा सेवा से हटाए जाने के आदेश (उपाबंध 5) को कायम रखने में अपीलार्थियों ने अपने प्राधिकार का अवैध रूप से प्रयोग किया है।

5. पूर्वोक्त कारणों के आधार पर पिटीशनर की ओर से दी गई विधिक दलील का हम अनुमोदन करते हैं और रिट आवेदन को मंजूर करते हैं तथा

उपाबंध-5 और 8 को अभिखण्डित करते हैं। इस कार्यवाही के खर्चे पक्षकार स्वयं वहन करेंगे।

न्या० आर० सी० पटनायक :

मैं सहमत हूं।

बंसल रिट आवेदन मंजूर किया गया।

नि० प० 1984 : उड़ीसा—10

ओरियंटल फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंस कं० लि० और इत्यादि बनाम श्रीमती नारायणीबाई और अन्य

Oriental Fire & General Insurance Co. Ltd. & etc. *Vs.* Smt. Narayanibai and others)

तारीख 10 अगस्त, 1983

[का० मु० न्या० पी० के० महन्ती और न्या० जी० बी० पटनायक]

1. मोटर-यान अधिनियम, 1939 धारा 95(1) के परन्तुक का खण्ड (II)—उक्त धारा के खण्ड (II) के अंतर्गत ऐसा व्यक्ति यात्री समझा जाएगा जो माल का स्वामी है या माल के स्वामी द्वारा अधिकृत ऐसा व्यक्ति है जो माल के साथ माल-यान में यात्रा कर रहा है और यदि ऐसे व्यक्ति की दुर्घटना के कारण मृत्यु हो जाती है या उसे क्षतियां कारित होती हैं तो यान का स्वामी उसकी क्षतिपूर्ति करने के दायित्वाधीन होगा।

2. मोटर-यान अधिनियम, 1939, धारा 110-ख—यदि साधारण अनुक्रम में यान सड़क से हटकर पेड़ से टकरा गया है और अभिलेख पर यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं है कि यान के चालक ने युक्तियुक्त सतर्कता और सावधानी बरती है तो ऐसी स्थिति में "स्वयं प्रमाण" का सिद्धांत लागू होगा और सबूत का भार यान के चालक पर होगा कि उसने यान चलाने में उपेक्षा नहीं की है।

3. मोटर-यान अधिनियम, 1939, धारा 110(4)—यदि मामले का अन्य अधिकरण को अन्तरण करने के लिए सरकारी अधिसूचना के जारी किए जाने से पूर्व घटनास्थल पर अधिकारिता रखने वाले अधिकरण द्वारा कोई भी कार्यवाही प्रारम्भ न की गई हो तो ऐसी स्थिति में मामले का निपटारा करने के लिए उसे जिले के लिए नियुक्त किए गए अतिरिक्त अधिकरण को अंतरित करने में कोई विधिक वर्जन नहीं है।

4. मोटर-यान अधिनियम, 1939—यान दुर्घटना के कारण यदि किसी यात्री की मृत्यु हो जाती है तो उसकी क्षतिपूर्ति के लिए मृतक की उस आय की, जो वह अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए व्यय करता था, उतने वर्षों के लिए जब तक कि उसके बच्चे बालिग न हो जायें और पत्नी के लिए और आगे तक तथा जीवन की अनिश्चितताओं के कारण 1/6 भाग को घटाने के पश्चात् संगणना करना उचित और समीचीन है।

प्रत्यर्थियों ने अपने माल का वहन करने के लिए अपीलार्थी के यान को भाड़े पर लिया। अपने माल की देखभाल करने और उसकी सुरक्षा के लिए वह माल ले जाने वाले यान के साथ हो गया। यह माल कलकत्ते से करंजिया ले जाया जा रहा था। जब यान कालिकापुर के निकट करंजिया-जसीपुर सड़क पर जा रहा था तब भारी वर्षा के कारण सड़क पर काफी कीचड़ हो गई थी और फिसलन भी हो गई थी जिसके कारण यान सड़क से हट गया और एक पेड़ से टकरा गया। यान पूर्ण रूप से क्षतिग्रस्त हो गया तथा माल के स्वामी की भी, जो अगली सीट पर चालक के केबिन में बैठा हुआ था, घटनास्थल पर ही तुरन्त मृत्यु हो गई तथा चालक की भी दो दिन बाद मृत्यु हो गई और उसमें बैठे हुए अन्य व्यक्तियों को काफी क्षतियां लगीं। मृतक की ओर से यह अभि-कथन किया गया कि यदि चालक ने ऐसी स्थिति में जबकि सड़क पर काफी कीच हो गई थी और सड़क पर फिसलन भी थी, यान चलाने में सतर्कता और सावधानी बरती होती तो यह दुर्घटना न होती। यह कहा गया कि मृतक 40 वर्षीय स्वस्थ पुरुष था। उसकी आय लगभग 700 रुपये प्रतिमास थी जिसमें से वह 500 रुपये प्रतिमास अपने परिवार के सदस्यों पर व्यय करता था। यह भी कहा गया कि वह कम से कम 70 वर्ष तक जीवित रहता यदि दुर्घटनाग्रस्त होकर उसकी मृत्यु न हुई होती। इसके विपरीत अपीलार्थी ने यह दलील दी कि दुर्घटना के लिए चालक किसी प्रकार भी जिम्मेदार नहीं है क्योंकि उस दिन काफी वर्षा होने के कारण सड़क पर काफी कीच जमा हो गई थी और फिसलन भी हो गई थी तथा सड़क ढलान पर थी। अतः उसने प्रतिकर देने के दायित्वाधीन होने से इनकार किया। किन्तु अधिकरण ने प्रस्तुत किए गए साक्ष्य के आधार पर यह अभिनिर्धारित किया कि दुर्घटना चालक की असावधानी और उपेक्षा के कारण हुई है अतः उसने 1,01,200 रुपये का प्रतिकर अधिनिर्णीत किया। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ मुख्य प्रश्न यह है कि क्या बीमाकर्ता माल के उस स्वामी की, जो दुर्घटना के समय माल की सुरक्षा हेतु यान में यात्रा कर रहा था, मृत्यु के कारण उसे देय प्रतिकर के लिए यान के स्वामी की क्षतिपूर्ति करने के दायित्वाधीन है?

अभिनिर्धारित—अपीलें खारिज की गईं।

जहां यान सड़क से हट कर पेड़ से टकरा जाता है वहां स्वयं प्रमाण का सिद्धान्त लागू होता है। जब एक बार यह सिद्धान्त लागू हो जाता है तब सबूत का भार यह दर्शित करने के लिए स्वामी और चालक पर आ जाता है कि यान का उचित रूप से रख-रखाव किया गया था तथा यान को चलाने में सम्यक् तत्परता बरती गई थी। यह दर्शित नहीं किया गया है कि सड़क पर किसी प्रकार की बाधा थी या सामने से कोई आसन्न खतरा था जिसे चालक को टालना था। मामले की इन परिस्थितियों में यह उपधारणा की जाती है कि यान ऐसी तेजी से चलाया जा रहा था कि यान चालक के नियंत्रण में नहीं था। जब तक स्वामी इस उपधारणा का खण्डन नहीं करता तब तक दावेदार सफल होंगे। यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं कही गई है कि यान को चलाने में चालक द्वारा युक्तियुक्त सतर्कता और सावधानी बरतने के बावजूद भी दुर्घटना हो गई। अत: अधिकरण ने सही रूप से ही यह अभिनिर्धारित किया है कि ट्रक का स्वामी उपेक्षा के अभाव को साबित करने के अपने भार का निर्मोचन करने में असफल रहा है। (पैरा 12)

अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि मृतक कम से कम 700 रुपये प्रतिमास उपार्जित करता था और यह कि वह अपने परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के लिए 500 रुपये से अन्यून नहीं देता था और यह कि परिवार के सदस्यों को इस अभिदाय का दिया जाना कम से कम 15 वर्ष तक चालू रहता जब तक कि बच्चे अपने जीवन में व्यवस्थित न हो जाते और अपने जीवन के शेष 10 वर्षों तक वह अपनी पत्नी के भरण-पोषण के लिए कम से कम अपनी आधी आय का अर्थात् 350 रुपये का अभिदाय करता। इस तरह 15 वर्षों के लिए उसके परिवार को दिए जाने वाले अभिदाय की कुल राशि 90,000 रुपये से कम न होती तथा 10 वर्षों के लिए अपनी पत्नी को अभिदाय 42,000 रुपये से कम न होता। इस तरह अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अपने जीवन की शेष अवधि के दौरान उसके द्वारा दिया जाने वाला कुल अभिदाय 1,32,000 रुपये आता है। इसमें से विभिन्न संभाव्य घटनाओं और जीवन की अनिश्चितताओं के लिए 1/6 राशि को घटा कर कुल रकम 1,10,000 रुपये आती है तथा मृतक की सम्पदा में उसकी पत्नी के हित को त्वरित करने से तथा पत्नी के अपने पति से पूर्व मरने की संभाव्यता से, यदि पति अपने पूरे जीवन जीता, विधवा को प्रोद्भूत फायदे के लिए रकम की 1/15 राशि को और घटा कर प्रतिकर 1,01,200 रुपये निर्धारित किया गया है। यह न्यायालय यह नहीं समझते कि प्रतिकर की इस राशि को कम करने के लिए और कोई प्रबल आधार है। (पैरा 14)

पैरा

[1982] ए० आई० आर० 1982 कर्नाटक 261 : यूनाइटेड इण्डिया इंश्योरेंस कं० लि०, बंगलौर **बनाम** गंगम्मा (United India Insurance Co. Ltd., Bangalore *Vs.* Gangamma); 7

[1980] ए० आई० आर० 1980 कर्नाटक 25 : टी० एम० रेणुकप्पा **बनाम** श्रीमती फाहमोदा (T. M. Renukappa *Vs.* Smt. Fahmida); 7

[1979] ए० आई० आर० 1979 कर्नाटक 93 : चन्नप्पा चनाविरन्ना कट्टी **बनाम** लक्ष्मण भीमप्पा बजन्त्री (Channappa Chanaviranna Katti *Vs.* Laxman Bhimappa Bajantri) 7

से **सहमति** व्यक्त की गई।

[1977] 1977 एसीसी सी० जे० 85 : (ए० आई० आर० 1977 कलकत्ता 34) : इण्डियन मुचुयल जनरल इंश्योरेंस सोसाइटी लि० **बनाम** मंजूर अहसन (Indian Mutual General Insurance Society Ltd. *Vs.* Manzoor Ahsan); 10

[1972] 1972 एसीसी सी० जे० 439 : (ए० आई० आर० 1972 मद्रास 49) : साउथ इण्डिया इंश्योरेंस कं० लि० **बनाम** पी० सुब्रामण्यम् (South India Ins. Co. Ltd. *Vs.* P. Subramanium); 10

[1967] 1967 एसीसी सी० जे० 65 (मध्य प्रदेश) : साउथ इण्डिया इंश्योरेंस कं० लि०, इंदौर **बनाम** हीराबाई (South India Insurance Co. Ltd., Indore *Vs.* Heerabai); 10

[1967] 1967 एसीसी सी० जे० 82 (पंजाब) : प्रकाश वती **बनाम** दिल्ली दयाल बाग डेरी लि० (Prakash Vati *Vs.* Delhi Dayal Bagh Dairy Ltd.); 10

[1967] 1967 एसीसी सी० जे० 158 : (ए० आई० आर० 1967 पंजाब 486) : ओरियंटल फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंस कं० लि० **बनाम** गुरुदेव कौर (Oriental Fire & General Ins. Co. Ltd. *Vs.* Gurudev Kaur) 10

से **प्रभेद** बतलाया गया।

[1983] 1983 एसीसी सी० जे० 264=ए० आई० आर० 8
1984 मुम्बई 1 : नसीबदरसूबा फकीर **बनाम** मैसर्स अधिया एण्ड कं० (Nasibdarsuba Fakir *Vs.* M/s. Adhia & Co.)
निर्दिष्ट किया गया।

सिविल अपीली अधिकारिता : 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 54. इसके साथ-साथ 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 58 की भी सुनवाई की गई।

मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण, पुरी और मयूरभंज के जिला न्यायाधीश, श्री जे० एन० आचार्य के 9 दिसम्बर, 1976 को दिए गए निर्णय से की गई अपील।

अपीलार्थियों की ओर से ... सर्वश्री एस० एस० बसु, आर० मोहन्ती, आर० शर्मा और एस० सी० घोष

प्रत्यर्थियों की ओर से ... श्री पी० के० मिश्र

न्यायालय का निर्णय का० मु० न्या० पी० के० महन्ती ने दिया।

का० मु० न्या० महन्ती :

मोटर-यान अधिनियम, 1939 की (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) धारा 110-घ के अधीन ये दोनों प्रकीर्ण प्रथम अपीलें मोटर-यान दुर्घटना दावा अधिकरण (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिकरण' कहा गया है) पुरी के उस सामान्य आदेश से उद्भूत हुई हैं जिसमें उसने 1,01,200 रुपये के कुल प्रतिकर की राशि में से बीमाकर्ता का दायित्व 50,000 रुपये नियत किया तथा माल-यान, जिसकी सं० डब्ल्यू० जी० बी० 2835 है, के स्वामी पर प्रत्यर्थी सं० 1 से 7 तक को अतिशेष रकम का संदाय करने का दायित्व नियत किया। 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 54 में अपीलार्थी बीमाकर्ता है और 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 58 में अपीलार्थी यान का स्वामी है। इन दोनों अपीलों में प्रत्यर्थी सं० 1 से 7 दावाकर्ता है।

2. प्रत्यर्थी सं० 1 से 7 ने अधिनियम की धारा 110-क के अधीन राधेश्याम गुप्ता, जो कि प्रत्यर्थी सं० 1 का पति और प्रत्यर्थी सं० 2 से 7 का पिता था, की मृत्यु के लिए 1,55,000 रुपये के प्रतिकर का दावा करते हुए आवेदन फाइल किया। यह आवेदन उस मोटर दुर्घटना से उद्भूत हुआ जो 9 दिसम्बर, 1973 को उस समय हुई जबकि वह (मृतक) उक्त माल यान में कलकत्ता से करंजिया के लिए अपने माल के साथ यात्रा कर रहा था। यह दुर्घटना कालिकापुर के पास करंजिया-जसीपुर सड़क पर रात्रि 9 बजकर 30

मिनट पर उस समय हुई जबकि यान सड़क से हटकर साल के एक बड़े पेड़ से टकरा गया। यान पूर्णतः क्षतिग्रस्त हुआ और मृतक की, जोकि सामने की सीट पर बैठा हुआ था, घटनास्थल पर तुरन्त ही मृत्यु हो गई। यान का चालक और उसमें बैठे हुए अन्य व्यक्तियों को भी क्षतियां लगीं। यान के चालक की क्षतियों के कारण 12 दिसम्बर, 1973 को मृत्यु हो गई। यह अभिकथन किया गया कि जिस सड़क पर यान की दुर्घटना हुई थी वह 20 से 25 फुट चौड़ी थी तथा करंजिया की ओर उतराई पर थी। निरन्तर वर्षा के कारण सड़क पर काफी मिट्टी जमा हो गई थी किन्तु यान के चालक ने यान को उतावलेपन से और उपेक्षापूर्ण रूप से चलाया और मिट्टीयुक्त सड़क पर यान को चलाने में आवश्यक सावधानी नहीं बरती। मृतक लगभग 40 वर्षीय एक स्वस्थ व्यक्ति था। वह लेखन सामग्री और मसाले की दुकान चला रहा था तथा उसके पास छिलका उतारने की मशीन भी थी। उसकी मासिक आय लगभग 700 रुपये थी तथा वह अपने कारबार में धीरे-धीरे उन्नति कर रहा था। उसका व्यक्तिगत व्यय कभी भी 150 रुपये मासिक से अधिक नहीं हुआ और वह अपनी आय की अतिशेष रकम अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए व्यय किया करता था। मृतक का पिता और दादा वृद्धावस्था व्यतीत कर रहे थे तथा मृतक के बारे में यह आशा की जाती थी कि वह कम से कम, यदि अधिक नहीं तो 70 वर्ष की आयु तक जीवित रहेगा। इस तरह वह अपने परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के लिए लगभग 30 वर्ष तक अभिदाय करता रहता।

3. 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 58 में अपीलार्थी, जो कि यान का स्वामी है, ने अन्य बातों के साथ-साथ इस दावे का खण्डन करते हुए इस बात का प्रतिरोध किया कि यान को चलाने में चालक की ओर से किसी प्रकार का उतावलापन या उपेक्षा नहीं की गई थी। किन्तु सारे दिन निरन्तर भारी वर्षा के कारण सड़क बुरी तरह से फिसलनी हो गई थी और घटना के समय सड़क का अधिकतर भाग उतराई वाला था जिसके कारण उसने यान को सड़क से परे धकेल दिया और इस तरह चालक दुर्घटना के लिए किसी भी प्रकार जिम्मेवार नहीं है।

4. 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 54 में अपीलार्थी ने, जोकि बीमाकर्ता है, चालक की ओर से उतावलेपन और उपेक्षापूर्ण रूप से चलाए जाने के अभिकथन से इनकार करते हुए एक पृथक् लिखित कथन फाइल किया और मृतक की मृत्यु के सम्बन्ध में किए गए प्रतिकर के दावे के लिए अपने दायित्व से भी इनकार किया।

5. पक्षकारों की ओर से प्रस्तुत किए गए साक्ष्य पर विचार करने के पश्चात् अधिकरण ने यह निष्कर्ष निकाला कि यह दुर्घटना प्रश्नगत ट्रक के चालक द्वारा असावधानी से और उपेक्षापूर्ण रूप से ट्रक के चलाने के कारण हुई है और यह कि दावेदार 1,01,200 रुपये के प्रतिकर के हकदार हैं।

6. 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 54 में विचारार्थ जो प्रश्न उद्भूत हुआ है वह यह है कि क्या बीमाकर्ता माल के स्वामी की मृत्यु के सम्बन्ध में, जो कि दुर्घटना के समय अपने माल को ले जाने वाले यान में यात्रा कर रहा था उसे देय प्रतिकर के लिए यान के स्वामी की क्षतिपूर्ति करने के लिए दायी है। इस सम्बन्ध में विधि सम्बन्धी उपबंध मोटर-यान अधिनियम, 1939 की धारा 95 में अन्तर्विष्ट हैं। इस धारा के सुसंगत भाग को नीचे प्रोद्धृत किया जाता है :—

"95. (1) इस अध्याय की अपेक्षाओं का अनुपालन करने के लिए बीमा पालिसी ऐसी पालिसी होनी चाहिए, जो : (क) ऐसे व्यक्ति द्वारा, जो प्राधिकृत बीमाकर्ता है, या बीमाकर्ता का कारबार करने के लिए धारा 108 के अधीन अनुज्ञात सहकारी सोसाइटी द्वारा दी गई है, और (ख) पालिसी में विनिर्दिष्ट व्यक्ति या वर्ग के व्यक्तियों का उपधारा (2) में विनिर्दिष्ट विस्तार तक किसी ऐसे दायित्व के प्रति बीमा करती है जो उस यान या किसी सार्वजनिक स्थान में उपयोग करने से किसी व्यक्ति की मृत्यु या शारीरिक क्षति होने से उद्भूत हुई हो :—

परन्तु किसी पालिसी से यह अपेक्षित न होगा कि वह—

(i) उस पालिसी द्वारा बीमाकृत किसी व्यक्ति के कर्मचारी को उसके नियोजन से और उसके दौरान हुई मृत्यु के सम्बन्ध में अथवा ऐसे कर्मचारी की उसके नियोजन से और उसके दौरान हुई शारीरिक क्षति कें सम्बन्ध में ऐसे दायित्व को पूरा करे जो किसी ऐसे कर्मचारी की मृत्यु या उसकी शारीरिक क्षति की बाबत कर्मकार प्रतिकर अधिनियम, 1923 के अधीन होने वाले दायित्व से भिन्न है जो—

(क) यान चलाने में नियोजित है, या

(ख) सार्वजनिक सेवा यान की दशा में उस यान के कण्डक्टर के रूप में, अथवा उस यान पर टिकटों की जांच करने में नियोजित है, या

(ग) माल यान की दशा में उस यान में वहन किया जा रहा है, या

(ii) उस दशा को छोड़ कर जहां यान ऐसा यान है कि उसमें यात्रियों का वहन भाड़े या पारिश्रमिक पर, अथवा नियोजन की संविदा के कारण या उसके अनुसरण में किया जाता है, ऐसे व्यक्तियों की मृत्यु अथवा शारीरिक क्षति की बाबत ऐसे दायित्व को पूरा करे जो उस घटना के होने के समय, जिससे दावा पैदा होता है, यान में या उस पर वहन किये जा रहे हों या उसमें प्रवेश कर रहे हैं या उस पर चढ़ रहे हैं या उससे उतर रहे हैं, या

(iii) किसी संविदात्मक दायित्व को पूरा करे।

× × × ×"

दावाकर्ताओं की ओर से धारा 95 की उपधारा (1) के परन्तुक के खण्ड (ii) का अवलम्ब लिया गया। इस खण्ड में यह उपबन्ध किया गया है कि जब तक कि यान ऐसा यान नहीं है जिसमें कि यात्री भाड़े पर या पारिश्रमिक पर या नियोजन की संविदा के अनुसरण में वहन न किये जा रहे हों यान में किसी यात्री की मृत्यु या शारीरिक क्षति के विरुद्ध बीमा किया जाना आवश्यक नहीं है। यह दलील दी गई कि उसके द्वारा किराए पर लिए गए माल यान में माल के साथ जा रहा स्वामी एक ऐसा यात्री है जो किराए पर या पारिश्रमिक के लिए यात्रा कर रहा है। यह प्रश्न अनिर्णीत विषय नहीं है यद्यपि निस्संदेह रूप से इस विषय में न्यायिक राय में मतभेद है। तदुपि जो मत हमने अपनाया है उसके बारे में ऐसा प्रतीत होता है कि यह मत कर्नाटक और मुम्बई उच्च न्यायालयों द्वारा दिए गए विनिश्चयों से समर्थित है जिनमें कि विधि की विस्तृत और संक्षिप्त प्रतिपादना की गई है।

7. **चन्नप्पा चनाविरन्ना कट्टी** बनाम **लक्षमण भीमप्पा बजन्त्री**[1] वाले मामले में यान के स्वामी द्वारा यान का माल वहन करने के लिए प्रयोग किया गया था। 3 मार्च, 1973 को जिस समय कि उक्त यान माल का वहन कर रहा था इसकी दुर्घटना हो गई जिसके परिणामस्वरूप माल के स्वामी को, जिसने माल का वहन करने के लिए यान को किराए पर लिया था, घातक क्षतियां लगीं और उसकी मृत्यु हो गई। उसके विधिक प्रतिनिधि ने प्रतिकर का दावा किया तथा बीमाकर्ता ने प्रतिकर के लिए दावे के दायित्वाधीन न होने का इस आधार पर विरोध किया कि इस प्रकार के व्यक्ति की जोखिम यान की बाबत जारी की गई बीमा पालिसी के अन्तर्गत नहीं आती क्योंकि अधिनियम के अधीन इस प्रकार की जोखिम का बीमा किया जाना अपेक्षित नहीं है। मोटर-यान अधिनियम की धारा 95 के सुसंगत उपबंधों की सावधानीपूर्वक परीक्षा करने के पश्चात् खण्ड न्यायपीठ ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

---

[1] ए० आई० आर० 1979 कर्नाटक 93.

"प्रारम्भ में ही इस बात का उल्लेख कर दिया जाना चाहिए कि यान के अनिवार्य बीमे के लिए उपबंध करने में विधि की पालिसी निर्दोष परव्यक्तियों की जोखिम उठाने के लिए है। यदि हम उस माल के स्वामी (माल यान को किराए पर लेने वाले व्यक्ति) के बारे में विचार करें जो अपने माल को सार्वजनिक माल यान से वहन करना चाहता है तो क्या वह उस समय निर्दोष परव्यक्ति होगा जबकि उसकी सार्वजनिक माल यान द्वारा उसके माल को वहन करते समय यान के प्रयोग के दौरान मृत्यु हो जाती है या क्षतियां कारित होती हैं। इस प्रश्न का हमारा उत्तर केवल सकारात्मक होगा जिसका मात्र कारण यह है कि जब माल का स्वामी अपने माल को सार्वजनिक माल यान में, जो उसके द्वारा किराए पर लिया गया है, वहन करता है और उस माल की सुरक्षा के लिए माल के साथ जाता है तो सामान्य अनुक्रम में उसके लिए यह सम्भव नहीं है कि वह पहले ही यान के प्रयोगकर्त्ता की आर्थिक स्थिति को, यान को चलाने में यान के चालक की निपुणता को या यान की सड़क पर चलाए जाने की दशा को अपनी सुरक्षा को सुनिश्चित करने के लिए पहले ही अभिनिश्चित कर ले। जब ऐसा व्यक्ति उस माल यान में यात्री के रूप में यात्रा करता है जिसका इसके स्वामी के कारबारी हितों को अग्रसर करने में प्रयोग किया जाता है और जो विधि द्वारा अनुज्ञात है तो यह नहीं कहा जा सकता कि यह ऐसा यान नहीं है जो किराए पर या पारिश्रमिक पर यात्रियों का वहन नहीं कर रहा है जैसा कि परन्तुक के प्रथम भाग में अपवाद के तौर पर उपबंधित है। वस्तुतः हमारी राय में माल का वहन करने के लिए दिए जाने वाले किराए के बारे में यह समझा जाना चाहिए कि इसके अन्तर्गत माल के स्वामी को या उसके अभिकर्ता को या उसके सेवक को जो अपने माल की सुरक्षा के लिए यान के साथ यात्रा कर रहा है, अन्तर्गत है क्योंकि हमारे लिए इस बात पर विचार करना असंभव है कि यह माल के स्वामी को जो माल का वहन करने के लिए माल यान को किराए पर लेता है इसमें माल के स्वामी की ओर से आबद्धकर बाध्यता है। इसके अतिरिक्त किसी माल के यान में माल के साथ माल के स्वामी को ले जाने के लिए बाध्यता कारबारी प्रस्थापना के रूप में हो सकती है जो कि अनुरोध प्रस्थापना के विरुद्ध है। अतः हमें इस बात में कोई संदेह नहीं है कि परन्तुक के प्रथम भाग में अन्तर्विष्ट अपवाद अधिनियमित करते हुए विधानमण्डल ने इस बात पर विचार किया है

कि माल के उस स्वामी का बीमा को, जो अपने माल के साथ माल यान में यात्रा करने के हकदार हैं, यान का प्रयोग करने के दौरान उत्पन्न हुई किसी जोखिम के समय अनिवार्य रूप से उसके अन्तर्गत है।

इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि माल-यान, जिससे हमारा सम्बन्ध है, ऐसा माल-यान है जो माल के साथ किराए पर या पारिश्रमिक के लिए यात्रियों को ले जाता है तथा यह परन्तुक के प्रथम भाग में अन्तर्विष्ट अपवाद के अन्तर्गत आता है जिससे कि अधिनियम के अध्याय 8 के अधीन यान की बाबत अपेक्षित अनिवार्य बीमा द्वारा यात्रियों के रूप में यात्रा कर रहे माल के स्वामी की जोखिम को अन्तर्गत लेने के लिए अपेक्षित हो सके और प्रदर्श डी-1 बीमा की पालिसी है जो तदनुसार ली गई है।"

उपरोक्त मत की **टी० एम० रेणुकप्पा** बनाम **श्रीमती फाहमीदा**[1] और **यूनाइटेड इण्डिया इंश्योरेंस कं० लि०, बंगलौर** बनाम **गंगम्मा**[2] वाले मामलों में उसी उच्च न्यायालय के पश्चात्वर्ती विनिश्चयों द्वारा पुष्टि की गई है।

8. **नसीबदरसूबा फकीर** बनाम **मैसर्स अधिया एण्ड कं०**[3] वाले मामले में मुम्बई उच्च न्यायालय की खण्ड न्यायपीठ ने अधिनियम की धारा 95 की उपधारा (i) के खण्ड (ख) के परन्तुक के खण्ड (ii) में आई हुई "जहां यान ऐसा यान है कि उसमें यात्रियों का वहन भाड़े या पारिश्रमिक पर किया जा रहा है" अभिव्यक्ति का निर्वचन किया और यह अभिनिर्धारित किया कि जब माल का स्वामी माल के वहन के विषय में संविदा करता है तब यह संविदा मिश्रित स्वभाव की होती है। संविदा न केवल माल के वहन के लिए होती है वरन् संविदा प्रारम्भ से लेकर अन्त तक माल के सुरक्षापूर्ण और सावधानीपूर्ण रूप से ले जाए जाने के लिए होती है तथा संविदा की प्रक्रिया में माल का लदान, उसका उतारा जाना और सुरक्षित वहन सम्मिलित है। माल के स्वामी द्वारा माल के वहन के लिए जो प्रतिफल संदत्त किया जाता है वह मिला जुला प्रतिफल होता है। यह प्रतिफल माल के वहन के लिए और साथ ही साथ माल के साथ जाने वाले यात्रियों के आनुषंगिक यात्रा के लिए होता है। जब एक बार यह स्वीकार कर लिया जाता है कि माल के स्वामी द्वारा संदत्त प्रतिफल के अन्तर्गत स्वयं के परिवहन के लिए प्रतिफल भी है तो यह नहीं कहा जा सकता कि उसे यान में सुसंगत समय पर पारिश्रमिक के लिए ले जाया जा रहा था। इन निष्कर्षों के आधार पर माननीय न्यायमूर्तियों ने निम्नलिखित अभिनिर्धारित किया :—

---

1 ए० आई० आर० 1980 कर्नाटक 25.

2 ए० आई० आर० 1982 कर्नाटक 261.

3 1983 एसीसी सी० जे० 264=ए० आई० आर० 1984 मुम्बई 1.

"....हमारा यह मत है कि जब माल के यान को अपना माल ले जाने के लिए किराए पर लेते हुए माल का स्वामी प्रश्नगत माल यान के चालक या स्वामी की सहमति से माल के ले जाए जाने के सम्बन्ध में उक्त यान के साथ यात्रा करता है तब उसके बारे में यह समझा जाना चाहिए कि वह अधिनियम की धारा 95(1) के परन्तुक के खण्ड (ii) के अर्थान्तर्गत उस यान पर पारिश्रमिक के लिए यात्री है अतः उसके प्रति यान के स्वामी का दुष्कृतिपूर्ण दायित्व उक्त धारा द्वारा अनुध्यात बीमा पालिसी के अन्तर्गत आना चाहिए ।"

9. कर्नाटक और मुम्बई उच्च न्यायालयों द्वारा पूर्वोक्त विनिश्चयों में अपनाए गए मत से हम ससम्मानपूर्वक सहमत हैं ।

10. बीमाकर्ता की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेल श्री एस० एस० बसु ने हमारे समक्ष निम्नलिखित विनिश्चयों को प्रोद्धृत किया है जिनमें प्रतिकूल मत अपनाया गया है । **साउथ इण्डिया इंश्योरेंस कं० लि०** बनाम **पी० सुब्रामण्यम**[1], **साउथ इण्डिया इंश्योरेंस कं० लि०, इंदौर** बनाम **हीराबाई**[2], **प्रकाश वती** बनाम **दिल्ली दयाल बाग डेरी लि०**[3], **ओरियंटल फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंस कं० लि०** बनाम **गुरुदेव कौर**[4] और **इण्डियन मुचुयल जनरल इंश्योरेंस सोसाइटी लि०** बनाम **मंजूर अहसन**[5] । इन विनिश्चयों में अपनाया गया मत यह है कि किसी ट्रक में माल के साथ जाने वाले माल के स्वामी के बारे में यह नहीं कहा जा सकता कि वह नियोजन की किसी संविदा के आधार पर ट्रक में यात्रा कर रहा है । लेकिन यह प्रश्न कि माल के स्वामी द्वारा किराए पर लिए गए ट्रक में माल के साथ जाने वाला स्वामी उस यात्री का वर्णन देता है जो किराए के लिए या पारिश्रमिक के लिए ले जाया जा रहा हो, इस बात पर इन मामलों में जोर नहीं दिया गया है ।

11. अब हम 1977 की प्रकीर्ण अपील सं० 58 में अपीलार्थी की ओर से दी गई दलील पर विचार करेंगे । इस सम्बन्ध में जो प्रथम प्रश्न विचारण के लिए उद्भूत होता है वह यह है कि क्या सुसंगत समय पर यान के चालक की ओर से यान चलाने में उतावलापन या उपेक्षा हुई है । इस घटना के सम्बन्ध में कोई प्रत्यक्षदर्शी साक्ष्य प्रस्तुत नहीं किया गया है । किन्तु हमारे समक्ष इस बात

---

[1] 1972 एसीसी सी० जे० 439=ए० आई० आर० 1972 मद्रास 49.

[2] 1967 एसीसी सी० जे० 65 (मध्य प्रदेश).

[3] 1967 एसीसी सी० जे० 82 (पंजाब).

[4] 1967 एसीसी सी० जे० 158=ए० आई० आर० 1967 पंजाब 486.

[5] 1977 एसीसी सी० जे० 85=ए० आई० आर० 1977 कलकत्ता 34.

पर भी विवाद नहीं किया गया है कि निरन्तर वर्षा के कारण घटनास्थल की सड़क पर काफी मिट्टी जमा हो गई थी और फिसलनी हो गई थी और यह कि घटनास्थल पर यान सड़क से दूर जाकर पेड़ से टकरा गया। अभि० सा० सं० 2 और 3 ने यह साक्ष्य दिया है कि यान का सामने वाला भाग विशिष्टतया चालक का केबिन पूर्ण रूप से क्षतिग्रस्त हो गया था तथा दब गया था और माल का काफी नुकसान हुआ था। अभि० सा० सं० 3 रमेश चन्द्र अग्रवाल ने, जो कि दुर्घटना के तुरन्त पश्चात् स्थल पर पहुंच गया था, यह कहा है कि उसके पहुंचने तक मृतक राधेश्याम गुप्ता की मृत्यु हो चुकी थी और चालक केबिन से बाहर नहीं आया था तथा उसे खींच कर बाहर निकाला गया था। चालक को काफी गम्भीर क्षतियां लगी थीं जिसके परिणामस्वरूप करंजिया चिकित्सालय में 12 दिसम्बर, 1973 को उसकी मृत्यु हो गई। यह स्पष्ट है कि ट्रक पेड़ से काफी तेजी से टकराया था।

12. जहां यान सड़क से हट कर पेड़ से टकरा जाता है वहां स्वयं प्रमाण का सिद्धान्त लागू होता है। जब एक बार यह सिद्धान्त लागू हो जाता है तब सबूत का भार यह दर्शित करने के लिए स्वामी और चालक पर चला जाता है कि यान का उचित रूप से रख-रखाव किया गया था तथा यान को चलाने में सम्यक् तत्परता का प्रयोग किया गया था। यह दर्शित नहीं किया गया है कि सड़क पर किसी प्रकार की बाधा थी या सामने से कोई आसन्न खतरा था जिसे ड्राइवर को टालना था। मामले की इन परिस्थितियों में यह उपधारणा की जाती है कि यान ऐसी तेजी से चलाया जा रहा था कि यान चालक के नियंत्रण में नहीं था। जब तक स्वामी इस उपधारणा का खण्डन नहीं करता तब तक दावेदार सफल ही होंगे। यह दर्शित करने के लिए कोई बात नहीं कही गई है कि यान को चलाने में चालक द्वारा युक्तियुक्त सतर्कता और सावधानी बरतने के बावजूद भी दुर्घटना हो गई। अतः अधिकरण ने सही रूप से ही यह अभि-निर्धारित किया है कि ट्रक का स्वामी उपेक्षा के अभाव को साबित करने में अपने भार का निर्मोचन करने में असफल रहा है।

13. स्वामी-अपीलार्थी की अगली दलील यह है कि पुरी के अधिकरण को इस दावा मामले का विनिश्चय करने की अधिकारिता नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि दुर्घटना मयूरभंज जिले में हुई जिसकी अधिकारिता बारीपदा अधिकरण के अन्तर्गत आती है और यह कि दावा उसी अधिकरण के समक्ष फाइल किया गया था। लेकिन बाद में सरकारी अधिसूचना द्वारा पुरी के जिला न्यायाधीश को इस दावा मामले का विनिश्चय करने के प्रयोजन के लिए अतिरिक्त अधिकरण के रूप में गठित किया गया। यह अधिसूचना निम्न प्रकार है—

"उड़ीसा सरकार

संक्रर्म और परिवहन (परिवहन) विभाग

....

अधिसूचना

भुवनेश्वर 10 अक्तूबर, 1974

सं० टीएलसी-77/74/14947/टी० मोटर-यान अधिनियम, 1939 (1939 का अधिनियम सं० 4) की धारा 110 की उपधारा (1) और (4) के अनुसरण में तथा उड़ीसा सरकार परिवहन विभाग सं० 3411-टीएबी-4/58-टी दिनांक 4 जून, 1958 की अधिसूचना का आंशिक रूप से उपान्तरण करते हुए राज्य सरकार पुरी के जिला न्यायाधीश को श्रीमती नारायणी बाई के 1974 के मोटर दुर्घटना दावा मामला सं० 12 में प्रतिकर के लिए, जो मयूरभंज के जिला न्यायाधीश के न्यायालय में लम्बित है, दावे का न्यायनिर्णयन करने के लिए मयूरभंज जिले के लिए अतिरिक्त मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण नियुक्त किया जाता है और यह निदेश दिया जाता है कि उक्त मामला मयूरभंज के जिला न्यायाधीश के न्यायालय से पुरी के जिला न्यायाधीश के न्यायालय में विचारण और निपटारे के लिए अन्तरित किया जाए।

राज्यपाल के आदेश से
ह० जे० बी० सिंह
सरकारी उप-सचिव"

अधिनियम की धारा 110(4) के उपबंधों का अवलम्ब लेते हुए यह दलील दी गई कि राज्य सरकार किसी विशिष्ट दावे के मामले का न्याय-निर्णयन करने के प्रयोजन के लिए अधिकरण गठित करने के लिए सशक्त नहीं है और यह ऐसा केवल वहीं कर सकती है जहां कि दो या दो से अधिक दावा अधिकरण किसी क्षेत्र के लिए गठित किए गए हों और राज्य सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा उनके बीच कारबार के वितरण को विनियमित कर सकती है। हमारी राय में सरकारी अधिसूचना मिले-जुले स्वभाव की है। अधिसूचना के अन्तर्गत राज्य सरकार ने पुरी के जिला न्यायाधीश को मयूरभंज जिले के लिए अतिरिक्त अधिकरण गठित किया है और दावा मामले को निपटाने के लिए उसे अन्तरित किया है। हमारा यह मत है कि ऐसा किया जाना धारा 110(4) के उपबंधों से संगत है और यह कि यह मामला पुरी के अतिरिक्त अधिकरण के न्यायालय में निपटारे के लिए अन्तरित किया गया है। इस बात का उल्लेख किया जा सकता है कि अधिसूचना जारी किए जाने से पूर्व मयूरभंज के अधिकरण द्वारा कार्यवाहियों में कोई साक्ष्य अभिलिखित नहीं

किया गया है। ऐसी स्थिति में जबकि पुरी के जिला न्यायाधीश को मयूरभंज जिले के लिए अतिरिक्त अधिकरण के रूप में नियुक्त किया गया है उसे इस दावे का विनिश्चय करने की अधिकारिता है और उसके द्वारा इस मामले का निपटारा करने के लिए कोई विधिक वर्जन नहीं हो सकता। वास्तव में अधिकारिता के प्रश्न पर कोई विवाद्यक नहीं उठाया गया है तथा कार्यवाहियों के किसी भी प्रक्रम पर यह सुझाव नहीं दिया गया है कि इस मामले का विचारण मयूरभंज में किया जाना चाहिए न कि पुरी में। हमारे उपरोक्त निष्कर्षों के आधार पर हम यह अभिनिर्धारित करते हैं कि इस दलील में कोई बल नहीं है।

14. अपीलार्थियों की ओर से जो अगली दलील दी गई है वह यह है कि अधिकरण द्वारा दिया गया प्रतिकर बहुत और अत्यधिक है। दावेदारों की ओर से दिए गए इस साक्ष्य का कि मृतक अपने कारबार से 700 रुपये प्रतिमास उपार्जित करता था प्रतिपरीक्षा में तात्विक रूप से खण्डन नहीं किया गया है। अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया कि मृतक कम से कम 700 रुपये प्रतिमास उपार्जित करता था और यह कि वह अपने परिवार के सदस्यों के भरण-पोषण के लिए 500 रुपये से अन्यून नहीं देता था और यह कि परिवार के सदस्यों को इस अभिदाय का दिया जाना कम से कम 15 वर्ष तक चालू रहता जब तक कि बच्चे अपने जीवन में व्यवस्थित नहीं हो जाते और अपने जीवन के शेष 10 वर्षों तक वह अपनी पत्नी के भरण-पोषण के लिए कम से कम अपनी आधी आय का अर्थात् 350 रुपये का अभिदाय करता। इस तरह 15 वर्षों के लिए उसके परिवार को दिए जाने वाले अभिदाय की कुल राशि 90,000 रुपये से कम न होती तथा 10 वर्ष के लिए अपनी पत्नी को अभिदाय की राशि 42,000 रुपये से कम न होती। इस तरह अपने परिवार के भरण-पोषण के लिए अपने जीवन की शेष अवधि में उसके द्वारा दिया जाने वाला कुल अभिदाय 1,32,000 रुपये आता है। इसमें से विभिन्न संभाव्य घटनाओं और जीवन की अनिश्चितताओं के लिए 1/6 राशि को घटा कर कुल रकम 1,10,000 रुपये आती है तथा मृतक की सम्पदा में उसकी पत्नी के हित को त्वरित करने से तथा पत्नी के अपने पति से पूर्व मरने की संभाव्यता से, यदि पति अपने पूरे जीवन भर जीता, विधवा को प्रोद्भूत फायदे के लिए रकम की 1/15 राशि को और घटाकर प्रतिकर 1,01,200 रुपये निर्धारित किया गया है। हम यह नहीं समझते कि प्रतिकर की इस राशि को कम करने के लिए भी और कोई प्रबल आधार है।

15. अतः इन अपीलों में कोई गुणता नहीं है। हम इन अपीलों को खारिज करते हैं किन्तु खर्चे के लिए कोई आदेश नहीं दिया जाता है। अधिकरण के

विनिश्चय की पुष्टि की जाती है ।

न्या० जी० बी० पटनायक :

मैं सहमत हूं ।

बंसल अपीलें खारिज की गईं ।

नि० प० 1984 : उड़ीसा—24

प्रदीप कुमार साहू बनाम शोभारानी समंतरे

(Pradip Kumar Sahu *Vs.* Sobharani Samantaray)

तारीख 30 अगस्त, 1983

[मु० न्या० पाठक, न्या० पी० के० महन्ती और न्या० जे० के० महन्ती]

भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869, धारा 22 और 23 सपठित धारा 10—विवाह के पश्चात् यदि पत्नी पति से अलग रहती हो और पति के साथ रहने के लिए तैयार न हो तो ऐसी स्थिति पत्नी की ओर से अभित्यजन और क्रूरता की होगी और इस स्थिति में पति को विवाह के विघटन का आधार उक्त अधिनियम की धारा 22 और 23 के अन्तर्गत उपलब्ध होगा न कि धारा 10 के अधीन—परिणामतः धारा 10 के अधीन जिला न्यायाधीश द्वारा पारित विवाह के विघटन की डिक्री की पुष्टि नहीं की जा सकती ।

पिटीशनर का विरोधी पक्षकार के साथ विवाह ईसाई धर्म में विहित धार्मिक अनुष्ठानों के अनुसार 1974 में हुआ था । विवाह के बाद से दोनों पति-पत्नी पिटीशनर के घर में ही रहते थे । उनके एक पुत्र भी उत्पन्न हुआ । पुत्र के जन्म के कुछ ही समय पश्चात् पत्नी ने मैडिकल कालिज हॉस्टिल में, जहां कि वह सेवारत थी, यह कहते हुए रहने की इच्छा व्यक्त की कि उसे कार्यालय आने-जाने में काफी असुविधा होती है । यद्यपि सभी अन्य संबंधियों ने उसे समझाने और हॉस्टिल में न रहने के लिए कहा किन्तु उसने किसी की बात न मानी और हॉस्टिल में रहना प्रारम्भ कर दिया । यही नहीं जब एक बार पिटीशनर उसके पास गया तो उसने उसे अपने कमरे के पास बरांडे में एक रात्रि के लिए ठहरने तक के लिए मना कर दिया और उसके साथ अच्छा व्यवहार नहीं किया, जिसके कारण पिटीशनर को कांफी मानसिक यातना भुगतनी पड़ी और उसका स्वास्थ्य भी गिर गया । पिटीशनर ने पुनः सम्बन्ध स्थापित करने का काफी प्रयत्न किया किन्तु इसका कोई प्रभाव न पड़ा । परिणामस्वरूप पिटीशनर ने अधिनियम की धारा 10 के अधीन विवाह-विच्छेद के लिए पिटीशन फाइल किया । जिसमें जिला न्यायाधीश ने पिटीशनर के एकमात्र

साक्ष्य के आधार पर पक्षकारों के विवाह संबंध को विघटित करते हुए प्रारम्भिक डिक्री पारित की। किन्तु धारा 10 के अधीन पति को विवाह के विघटन के लिए केवल पत्नी द्वारा किए गए जार-कर्म का आधार ही उपलब्ध है और यह मामला स्पष्ट रूप से पत्नी द्वारा क्रूरता का है। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि यदि यह साबित हो जाए कि मामला स्पष्ट रूप से क्रूरता और अभित्यजन का है तो क्या विवाह के विघटन के लिए प्रारम्भिक डिक्री धारा 10 के अधीन दी जा सकती है?

अभिनिर्धारित—निर्देश का उत्तर दिया गया।

जिला न्यायाधीश ने अधिनियम की धारा 10 के उपबंध को नजर-अंदाज किया है क्योंकि इस उपबन्ध में विवाह के विघटन के लिए इस प्रकार पिटीशन फाइल करने हेतु पति को केवल एक ही आधार उपलब्ध है जो कि जार-कर्म है। न तो पिटीशन से और न ही पिटीशनर द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य से लेशमात्र भी ऐसी किसी सामग्री को दर्शित किया गया है जो पत्नी की ओर से जारकर्म को दर्शित करती हो। पिटीशन और साथ ही साथ पिटीशनर के अभिसाक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात् न्यायालय को यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचक नहीं है कि पिटीशन ने विरोधी पक्षकार द्वारा क्रूरता और अभित्यजन का मामला साबित कर दिया है। (पैरा 4)

पिटीशनर, पति के लिए एकमात्र उपलब्ध आधार जारकर्म है और चूंकि अभित्यजन और क्रूरता आधार नहीं है अतः विद्वान् जिला न्यायाधीश पक्षकारों के बीच विवाह के विघटन के लिए प्रारम्भिक डिक्री पारित करने में न्यायोचित नहीं है। (पैरा 5)

पिटीशन का परिशीलन करने और पिटीशनर द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य की संवीक्षा करने के पश्चात् न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि यह मामला एक ऐसा स्पष्ट मामला है जिसमें विरोधी पक्षकार को पिटीशनर के प्रति अभित्यजन और क्रूरता का दोषी माना जाना चाहिए। (पैरा 6)

सिविल (निर्देश) अधिकारिता : 1982 का विवाह संबंधी निर्देश सं० 1.

भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 की धारा 17 के अधीन किए गए निर्देश के मामले में।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री एल० महापात्रा और जे० आर० बहेरा

विरोधी पक्षकार की ओर से ... कोई नहीं

न्यायालय का निर्णय मु० न्या० पाठक ने दिया ।

मु० न्या० पाठक :

यह निर्देश, जोकि भारतीय विवाह-विच्छेद अधिनियम, 1869 (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'अधिनियम' कहा गया है) की धारा 17 के अधीन सम्बलपुर के विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा किया गया है, अधिनियम की धारा 10 के अधीन किए गए तात्पयित पिटीशन से उद्भूत हुआ है ।

2. विद्वान् जिला न्यायाधीश ने पिटीशनर के एक मात्र साक्ष्य के परिशीलन के आधार पर पक्षकारों के विवाह सम्बन्ध को विघटित करते हुए प्रारम्भिक डिक्री पारित की जिसके कारण यह निर्देश किया गया है ।

3. पति द्वारा फाइल किए गए पिटीशन के परिशीलन से यह बात अधिकांश रूप से स्पष्ट हो जाती है कि यह मामला अधिनियम की धारा 10 के अधीन पति को उपलब्ध आधार के अन्तर्गत नहीं आता । धारा 10 के उपबंध के अनुसार, मात्र आधार जिस पर पति विवाह के विघटन के लिए आवेदन कर सकता है पत्नी द्वारा किया गया जारकर्म है । पिटीशन के पढ़ने मात्र से ही हम इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि यह मामला क्रूरता का है जो कि ऐसा आधार है जो पति को विवाह के विघटन के लिए आवेदन करने हेतु अधिनियम की धारा 10 के अन्तर्गत उपलब्ध नहीं है ।

4. विद्वान् जिला न्यायाधीश ने अधिनियम की धारा 10 के उपबंध को नजरअंदाज किया है क्योंकि इस उपबंध में विवाह के विघटन के लिए इस प्रकार पिटीशन फाइल करने हेतु पति को केवल एक ही आधार उपलब्ध है जो कि जारकर्म है । न तो पिटीशन से और न ही पिटीशनर द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य से लेशमात्र भी ऐसी किसी सामग्री को दर्शित किया गया है जो पत्नी की ओर से जारकर्म को दर्शित करती हो । पिटीशन और साक्ष्य में जो कुछ कहा गया है वह यह है कि पक्षकारों का विवाह ईसाई धर्म के अन्तर्गत विवाह के लिए विहित धार्मिक अनुष्ठान के अनुसार 23 अप्रैल, 1974 को हुआ था । विवाह के बाद से दोनों ही पति और पत्नी के रूप में पिटीशनर के घर में रह रहे थे और उनके उक्त विवाह से उन्हें 13 फरवरी, 1975 को एक पुत्र उत्पन्न हुआ था । पुत्र के जन्म के कुछ समय पश्चात् ही विरोधी पक्षकार, जो कि वी० एस० एस० मैडिकल कालेज हास्पिटल, बरला में सेवारत थी, ने बरला स्थित नर्सिंग हॉस्टिल में रहने की इस मिथ्या बहाने के आधार पर इच्छा व्यक्त की कि उसे आने जाने में बहुत असुविधा होती है । सभी संबंधित व्यक्तियों ने उससे ऐसा न करने के लिए कहा किन्तु उस पर इस बात का कोई प्रभाव नहीं हुआ । अन्ततोगत्वा वह बरला स्थित नर्सिंग हॉस्टिल में निवास करने चली गई । इस हॉस्टिल में पुरुषों को प्रवेश की आज्ञा नहीं दी

जाती। इसलिए पिटीशनर गेट पर ही चौकीदार के माध्यम से विरोधी पक्षकार को उस समय बुलवाता था जबकि वह विरोधी पक्षकार से मिलने के लिए नर्सिंग हॉस्टिल जाता था। पिटीशनर ने उसे घर लाने के लिए काफी प्रयत्न किया किन्तु उसका यह प्रयत्न व्यर्थ ही रहा। 15 मार्च, 1978 को एक दिन पिटीशनर तेरुबली से बरला स्थित नर्सिंग हॉस्टिल गया और उसने विरोधी पक्षकार को तेरुबली आने के लिए कहा। बस स्टैण्ड पर उसे उसका साला प्रशांत कुमार समन्तरे मिला जिसने उसे लोक स्थान पर यह धमकी दी कि यदि वह विरोधी पक्षकार को अपने साथ रहने के लिए बाध्य करेगा तो विरोधी पक्षकार उससे विवाह विच्छेद कर लेगी। सितम्बर, 1976 में पिटीशनर उसके पास गया हुआ था। शाम का समय था। विरोधी पक्षकार ड्यूटी पर थी। उस समय उसने उससे यह कहा कि वह ड्यूटी के समय के पश्चात् उसके कमरे में आए। उसकी ड्यूटी का समय रात्रि 9 बजे तक था। अतः पिटीशनर लगभग साढ़े नौ बजे उसके पास गया और उस रात्रि को वह उसके साथ रहना चाहता था किन्तु विरोधी पक्षकार ने उसे अपने साथ रहने के लिए अनुज्ञात नहीं किया और उससे यह कहा कि वह यहां से निकल जाए। पिटीशनर ने यह भी कहा कि चूंकि रात्रि हो गई है अतः वह बरामदे में ही सो जाएगा किन्तु विरोधी पक्षकार इस बात पर भी सहमत नहीं हुई। पिटीशनर ने यह कहा कि विरोधी पक्षकार द्वारा किए गए इस व्यवहार के परिणामस्वरूप उसे मानसिक रूप से बहुत यातना हुई और उसका स्वास्थ्य काफी गिर गया है। पिटीशनर ने पुनः सम्बन्ध बनाने के सर्वोत्तम प्रयत्न किए किन्तु इसका कोई प्रभाव न हुआ। पिटीशन और साथ ही साथ पिटीशनर के अभिसाक्ष्य का परिशीलन करने के पश्चात् हमें यह अभिनिर्धारित करने में कोई हिचक नहीं है कि पिटीशन ने विरोधी पक्षकार द्वारा क्रूरता और अभित्यजन का मामला साबित कर दिया है।

5. विद्वान् जिला न्यायाधीश ने यह निष्कर्ष अभिलिखित किया कि विरोधी पक्षकार अभित्यजन और क्रूरता की दोषी है। तदनुसार उसने पक्षकारों के बीच विवाह के विघटन के लिए प्रारम्भिक डिक्री पारित की। जैसा कि हम पहले ही इस बात का उल्लेख कर चुके हैं कि पिटीशनर, पति के लिए एकमात्र उपलब्ध आधार जारकर्म है और चूंकि अभित्यजन और क्रूरता आधार नहीं हैं अतः विद्वान् जिला न्यायाधीश पक्षकारों के बीच विवाह के विघटन के लिए प्रारम्भिक डिक्री पारित करने में न्यायोचित नहीं है।

6. यदि यह मान लिया जाए कि यह ऐसा ही है तो यह एक ऐसा मामला है जो अधिनियम की धारा 22 और 23 के अन्तर्गत आता है।

अधिनियम की धारा 22 और 23 के अनुसार बिना किसी प्रति हेतु के दो वर्ष और उससे अधिक क्रूरता और अभित्यजन न्यायिक पृथक्करण के आधार हैं। पिटीशन का परिशीलन करने और पिटीशनर द्वारा प्रस्तुत किए गए साक्ष्य की संवीक्षा करने के पश्चात् हम इस निष्कर्ष पर पहुंचे हैं कि यह मामला एक ऐसा स्पष्ट मामला है जिसमें विरोधी पक्षकार को पिटीशनर के प्रति अभित्यजन और क्रूरता का दोषी माना जाना चाहिए।

7. परिणामतः, हम विद्वान् जिला न्यायाधीश द्वारा पारित विघटन की डिक्री की पुष्टि नहीं कर सकते। किन्तु, हम उन तथ्यों के आधार पर जिनकी ऊपर अवेक्षा की गई है, न्यायिक पृथक्करण की डिक्री पारित करते हैं।

न्या० पी० के० महन्ती :

मैं सहमत हूं।

न्या० जे० के० महन्ती :

मैं सहमत हूं।

बंसल — निर्देश का उत्तर दिया गया।

नि० प० 1984 : उड़ीसा—28

अनाम स्वेन और अन्य बनाम जानकीनाथ मित्र

(Anama Swain & others *Vs*. Janakinath Mitra)

तारीख 7 सितम्बर, 1983

[न्या० आर० सी० पटनायक]

भारतीय दण्ड संहिता, 1860 धारा 504—उक्त धारा के अधीन अच्छे व्यवहार का भंग अपराध गठित नहीं करता—यदि उक्त धारा के अधीन के अपराध के लिए एक से अधिक व्यक्ति अपराधी हैं तो ऐसी स्थिति में उक्त धारा के अधीन उन्हें अपराधी मानने से पूर्व यह साबित करना अनिवार्य है कि किस व्यक्ति ने किन-किन विशिष्ट शब्दों का प्रयोग किया है क्योंकि किसी भी व्यक्ति को अन्य व्यक्ति द्वारा बोले गए शब्दों के लिए प्रतिनिधायी रूप से दोषी नहीं माना जा सकता।

पिटीशनरों को, जिनकी सं० 5 है, भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 352 और 504 के अधीन दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट किया गया। अभियोजन पक्ष का पक्षकथन यह है कि परिवादी-विरोधी पक्षकार जब

3 जनवरी, 1978 को दोपहर के समय एक व्यक्ति के घर के सामने खड़ा हुआ था पिटीशनर एकत्रित और सशस्त्र होकर आए और उन्होंने गन्दी भाषा का प्रयोग करते हुए उससे गाली गलौच की। उसने यह भी कहा है कि यदि उसने स्वयं को संयत न किया होता और गांव वालों ने बीचबचाव न किया होता तो लोकशांति भंग हो गई होती। पिटीशनरों के इनकार किए जाने पर और अन्यत्र उपस्थित होने का अभिवाक् दिए जाने के बावजूद भी निचले न्यायालयों न उन्हें दोषसिद्ध ठहराया। इस बात पर जोर दिया गया कि अभि० सा० 3 चूंकि संयोगी साक्षी है, अतः उसके साक्ष्य पर विश्वास नहीं किया जाना चाहिए। प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन जब एक से अधिक व्यक्तियों पर अपमानजनक शब्दों के उच्चारण का आरोप लगाया गया हो तब क्या प्रत्येक व्यक्ति द्वारा बोले गए शब्दों को साबित करना अनिवार्य है?

अभिनिर्धारित—पुनरीक्षण भागतः मंजूर किया गया।

इस धारा में शब्दों की ऐसी अभिव्यक्ति को, जिसमें केवल गंदे शब्दों का प्रयोग किया हो, दण्डित नहीं किया गया है। 'अपमान' शब्द से आपराधिक अपमान और/या किसी व्यक्ति को अपमानित करना अभिप्रेत है। अपमान चाहे घोर अपमान हो इस धारा के अधीन स्वयं में कोई अपराध नहीं है। अच्छे व्यवहार का मात्र भंग किया जाना धारा 504 के अधीन अपराध गठित नहीं करता। (पैरा 4)

जहां भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन के अपराध के लिए एक से अधिक व्यक्ति अभियुक्त हों वहां यह बहुत ही अत्यधिसंभाव्य है कि वे एक साथ ही कोरस की तरह भद्दे शब्दों का प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त यह भी संभव नहीं है कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति ने समान शब्दों का उच्चारण किया हो। यदि यह संभाव्य मानव आचरण नहीं है तो उनमें से प्रत्येक द्वारा बोले गए यथावत् शब्दों की या यदि उनमें से सभी व्यक्तियों ने एक ही समान शब्दों का उच्चारण किया है तो इनकी सावधानीपूर्वक संवीक्षा की जानी चाहिए। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि पांचों पिटीशनरों में से प्रत्येक व्यक्ति ने परिवाद पिटीशन में यथा अभिकथित समान शब्दों का उच्चारण किया हो। निचले न्यायालयों ने इस बात का उल्लेख किया है कि परिवादी-विरोधी पक्षकार की संपुष्टि करते हुए साक्षियों ने यह स्वीकार किया है कि वे इस बात को नहीं कह सकते कि पृथक् रूप से पिटीशनरों ने किन-किन शब्दों का उच्चारण किया है। चूंकि, प्रत्येक पिटीशनर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन के अपराध का दोषी है, अतः ये आरोप प्रत्येक अभियुक्त

की दशा में उसके अपने कृत्यों के साबित किए जाने या साबित न किए जाने पर बने रहेंगे या नहीं बने रहेंगे। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चारण किए गए शब्दों के लिए प्रतिनिधायी रूप में दायित्वाधीन नहीं हो सकता। प्रतिनिधायी दायित्व को लागू करने वाला कोई अभिकथन नहीं किया गया है। (पैरा 6)

		पैरा
[1983]	ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 680 : राणा प्रताप बनाम हरियाणा राज्य (Rana Pratap *Vs.* State of Haryana);	3
[1982]	ए० आई० आर० 1982 मुम्बई 193 : फिलिप बनाम एम्परर (Philip *Vs.* Emperor)	4

निर्दिष्ट किए गए।

दाण्डिक पुनरीक्षण अधिकारिता : 1981 का दाण्डिक पुनरीक्षण सं० 100.

1978 के आई० सी० मामले सं० 16 में कटक के न्यायिक मजिस्ट्रेट, द्वितीय वर्ग, श्री एस० के० दास द्वारा 10 नवम्बर, 1978 को दिए गए आदेश की पुष्टि करते हुए 1978 की दाण्डिक अपील सं० 268 में कटक के अपर सेशन न्यायाधीश द्वारा 3 दिसम्बर, 1980 को दिए गए आदेश से किया गया दाण्डिक पुनरीक्षण।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री जी० बोहेदर, एस० के० मुण्ड, यू० सी० महन्ती और जी० एन० महापात्रा

विरोधी पक्षकार की ओर से ... सर्वश्री बी० पण्डा और एस० सी० महापात्रा

न्या० आर० सी० पटनायक :

पिटीशनरों को, जिनकी सं० 5 है, भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 352 और 504 के अधीन दोषसिद्ध ठहराया गया। प्रत्येक पिटीशनर को 150 रुपये के जुर्माने से दण्डादिष्ट किया गया और इस जुर्माने के संदाय में व्यतिक्रम किए जाने पर प्रत्येक मुद्दे पर एक मास के कठोर कारावास का दण्ड भोगने का दण्डादेश दिया गया।

2. अभियोजन पक्ष का पक्षकथन यह है कि 3 जनवरी, 1978 को दोपहर के समय परिवादी-विरोधी पक्षकार कपिला राउत के घर के सामने खड़ा हुआ था, जहां पिटीशनर एकत्रित और सशस्त्र होकर आए तथा उन्होंने उसे धक्का दिया और गन्दी भाषा का प्रयोग करते हुए गाली-गलौच की। विरोधी पक्षकार ने यह अभिकथन किया कि यदि उन्होंने स्वयं को न रोका

होता और यदि गांव वालों ने बीच-बचाव न किया होता तो लोक शांति भंग हो गई होती। पिटीशनरों के इनकार किए जाने और उनके द्वारा अन्यत्र उपस्थित होने का अभिवाक् दिए जाने के बावजूद भी निचले न्यायालयों ने उन्हे दोषसिद्ध ठहराया और ऊपरकथित अपराधों के लिए दण्डादिष्ट किया।

3. निचले न्यायालयों ने पिटीशनरों के इन कृत्यों के सम्बन्ध में साक्षियों का यह विश्वास किया कि उनका कार्य भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 352 के अधीन अपराध गठित करता है। इस बात पर जोर दिया गया कि अभियोजन साक्षी सं० 3 संयोगी (चान्स) साक्षी था अतः उसके साक्ष्य का अवलम्ब नहीं लिया जाना चाहिए। 'संयोगी साक्षी' अभिव्यक्ति में कोई जादू नहीं है। **राणा प्रताप बनाम हरियाणा राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के माननीय न्यायाधिपति चिनप्पा रेड्डी को इस पहलू पर विचार करने का अवसर प्राप्त हुआ था जिसमें उन्होंने निम्नलिखित मत व्यक्त किया है :—

> "...यदि कोई अपराध (हत्या) किसी गली में हुई है तो केवल उस गली में आने-जाने वाले ही साक्षी होंगे। उनके साक्ष्य को नजरअंदाज नहीं किया जा सकता या इस आधार पर संदेह की दृष्टि से नहीं देखा जा सकता कि वे केवल 'संयोगी साक्षी हैं। 'संयोगी साक्षी' अभिव्यक्ति ऐसे देशों से ली गई है जहां कि प्रत्येक व्यक्ति का घर उसका महल समझा जाता है और प्रत्येक व्यक्ति को अन्यत्र किसी अन्य व्यक्ति के महल में अपनी उपस्थिति के लिए स्पष्टीकरण देना होता है। किन्तु यह अभिव्यक्ति ऐसे देश के लिए बहुत ही अनुपयुक्त अभिव्यक्ति है जहां कि व्यक्ति बहुत कम औपचारिक हैं और आकस्मिक अधिक हैं। गली के फेरी वालों और गली में बेचने वालों के साक्ष्य को इस आधार पर नामंजूर करना कि वे केवल 'संयोगी साक्षी' हैं विशेषकर वहां जहां कि अपराध (हत्या) गली में हुआ है अच्छे भाव का परित्याग करना है और साक्ष्य के मन्द विचार को स्वीकार करना है..."

उपरोक्त उद्धरण में मैंने 'हत्या' के स्थान पर 'अपराध' शब्द अन्तर्विष्ट किया है।

साक्ष्य का अध्ययन करने के पश्चात् मैंने ऐसी कोई अपवादात्मक बात नहीं पाई है जिसके आधार पर मैं निचले न्यायालयों द्वारा निकाले गए समवर्ती निष्कर्षों में हस्तक्षेप कर सकूं। अतः मैं भारतीय दण्ड संहिता की धारा 352 के अधीन की गई दोषसिद्धि को और तद्धीन अधिरोपित दण्डादेश को बहाल रखता हूं।

---

[1] ए० आई० आर० 1983 एस० सी० 680.

4. किन्तु जहां तक धारा 504 के अधीन के अपराध का सम्बन्ध है मुझे यह मत व्यक्त करते हुए खेद है कि निचले न्यायालयों ने उन अपेक्षाओं को ध्यान में नहीं रखा है जिनसे अपराध गठित हुआ है। निचले न्यायालयों के निर्णय में उस सामग्री के आधार पर विचार-विमर्श नहीं किया गया है जो पिटीशनरों के आरोप को सिद्ध करती है। इस धारा में शब्दों की अभिव्यक्ति को दण्डित नहीं किया गया है जिसमें केवल गंदे शब्दों का प्रयोग किया गया हो। 'अपमान' शब्द से घोर अपमान और/या किसी व्यक्ति को अपमानित करना अभिप्रेत है। अपमान चाहे यह घोर अपमान हो इस धारा के अधीन स्वयं में कोई अपराध नहीं है। अच्छे व्यवहार का मात्र भंग किया जाना धारा 504 के अधीन अपराध गठित नहीं करता। अपमान शब्दों या आचरण द्वारा किया जा सकता है। जब शब्दों द्वारा अपमान का आरोप लगाया जाता है तब उन शब्दों का उससे अधिक अर्थ लगाया जाना चाहिए जो आंग्ल विधि में "केवल घृणित दुरुपयोग" कहा जाता है—जैसा कि **फिलिप** बनाम एम्परर[1] वाले मामले में मु० न्या० बियोमाण्ट ने मत व्यक्त किया है—

दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन के आरोप को सिद्ध करने के लिए निम्नलिखित बातें साबित की जानी चाहिए:—

(क) साशय अपमान;

(ख) अपमान ऐसा होना चाहिए जिससे कि अपमानित व्यक्ति को प्रकोपित किया जा सके; और

(ग) यह आशय कि ऐसा प्रकोपन लोक शान्ति को भंग करेगा या यह जानकारी होना कि ऐसे प्रकोपन से इस प्रकार अपमानित व्यक्ति द्वारा लोक शान्ति का भंग किया जाना या कोई अन्य अपराध किया जाना संभाव्य हो।

इस धारा में अपमान द्वारा इस प्रकार प्रकोपित व्यक्ति से यह अपेक्षा नहीं की जाती कि वह बदला लेगा या इसमें इस प्रकार अपमानित-व्यक्ति द्वारा वास्तविक रूप से परिशांति भंग किया जाना या कोई अन्य अपराध किया जाना अपेक्षित है। कौन सी भद्दी भाषा धारा 504 के प्रतिकूल है यह बात तथ्यों और परिस्थितियों पर निर्भर करती है। शब्दों की प्रकृति, परिस्थितियां और शब्दों का विन्यास सुसंगत है।

5. मुझे इस बात का खेद है कि निचले न्यायालयों ने निर्णय में यह निष्कर्ष नहीं निकाला है कि प्रयुक्त शब्द अपमानजनक थे और पिटीशनरों ने इन शब्दों का साशय प्रयोग किया था तथा शब्द ऐसे थे जिनसे विरोधी पक्षकार को प्रकोपन हुआ, और पिटीशनरों का यह आशय था कि इस प्रकार

[1] ए० आई० आर० 1982 मुम्बई 193.

का प्रकोपन किया जाए या उन्हें इस बात की जानकारी थी कि इस प्रकार के प्रकोपन से अपमानित व्यक्ति द्वारा लोक शांति का भंग किया जाना या कोई अन्य अपराध किया जाना संभाव्य है। निचले न्यायालयों ने अपने निर्णयों में अपमानजक शब्दों के प्रति निर्देश भी नहीं किया है। यह इन निर्णयों की एक गम्भीर कमी है। इससे यह उपदर्शित होता है कि इस मामले में उचित रूप से विचार नहीं किया गया है।

6. इसमें एक अन्य कमी भी है। यह कहा गया है कि पिटीशनर एकत्रित होकर उस स्थान पर पहुंचे थे और विरोधी पक्षकार को गाली-गलौच की थी। जहां भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन के अपराध के लिए एक से अधिक व्यक्ति अभियुक्त हों वहां यह बहुत ही अनधिसंभाव्य है कि वे एक साथ ही कोरस की तरह भद्दे शब्दों का प्रयोग करें। इसके अतिरिक्त यह भी संभव नहीं है कि उनमें से प्रत्येक व्यक्ति ने समान शब्दों का उच्चारण किया हो। यदि यह संभाव्य मानव आचरण नहीं है तो उनमें से प्रत्येक द्वारा बोले गए यथावत् शब्दों की या यदि उनमें से सभी व्यक्तियों ने एक ही समान शब्दों का उच्चारण किया है तो इनकी सावधानीपूर्वक संवीक्षा की जानी चाहिए। इस बात पर विश्वास करना कठिन है कि पांचों पिटीशनरों में से प्रत्येक व्यक्ति ने परिवाद पिटीशन में यथा अभिकथित समान शब्दों का उच्चारण किया हो। निचले न्यायालयों ने इस बात का उल्लेख किया है कि परिवादी-विरोधी पक्षकार की संपुष्टि करते हुए साक्षियों ने यह स्वीकार किया है कि वे इस बात को नहीं कह सकते कि पृथक् रूप से पिटीशनरों ने किन-किन शब्दों का उच्चारण किया। चूंकि, प्रत्येक पिटीशनर भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन के अपराध का दोषी है यह आरोप प्रत्येक अभियुक्त की दशा में उसके अपने कृत्यों के साबित किए जाने या साबित न किए जाने पर बने रहेंगे या नहीं बने रहेंगे। कोई भी व्यक्ति किसी अन्य व्यक्ति द्वारा उच्चारण किए गए शब्दों के लिए प्रतिनिधायी रूप में दायित्वाधीन नहीं हो सकता। प्रतिनिधायी दायित्व को लागू करने वाला कोई अभिकथन नहीं किया गया है। निचले न्यायालयों ने कमी के कारण साक्षियों के साक्ष्य से उद्भूत होने वाले विषय के इस पहलू को नजरअंदाज कर दिया है। यदि अभियुक्त प्रश्न करता है "तब साक्षी यह नहीं कह सकता कि वास्तव में उसने क्या कहा है, तब क्या आरोप के बारे में यह कहा जा सकता है कि यह मेरे विरुद्ध साबित हो गया है" इसका उत्तर केवल नकारात्मक ही हो सकता है।

7. अतः मैं भारतीय दण्ड संहिता की धारा 504 के अधीन पिटीशनर की दोषसिद्धि को और तद्धीन अधिरोपित दण्डादेश को अपास्त करता हूं और

उन्हें उन पर लगाए गए आरोप से दोषमुक्त करता हूं।

8. परिणामतः यह पुनरीक्षण भागतः मंजूर किया जाता है।

बंसल पुनरीक्षण भागतः मंजूर किया गया।

नि० प० 1984 : उड़ीसा—34

मेलाका जोगी बनाम राज्य

(Melaka Jogi *Vs.* The State)

तारीख 23 सितम्बर, 1983

[न्या० बी० के० बेहरा और जी० बी० पटनायक]

दण्ड संहिता, 1860—धारा 302 सपठित साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 3—हत्या के मामले में, किसी ऐसे साक्षी के साक्ष्य पर जिसकी अभियुक्त के साथ शत्रुता हो, तब तक विश्वास नहीं किया जा सकता जब तक कि उसके साक्ष्य की सावधानी से और सतर्कतापूर्ण रूप से परीक्षा न कर ली गई हो—यदि ऐसे साक्ष्य की सावधानी और सतर्कता से परीक्षा नहीं की गई है तो उसके साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त को दण्डादिष्ट नहीं किया जा सकता।

2. साक्ष्य अधिनियम, 1872—धारा 3—दाण्डिक मामले में यदि ऐसा कोई साक्षी, जो घटना का प्रत्यक्षदर्शी साक्षी होने का दावा करता है, उस घटना को उसके तुरन्त पश्चात् किसी व्यक्ति से प्रकट नहीं करता या पुलिस थाने में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज नहीं कराता तो ऐसा साक्ष्य अविश्वसनीय साक्ष्य होगा और ऐसे साक्ष्य के आधार पर अभियुक्त को दोषसिद्ध और दण्डादिष्ट नहीं किया जा सकता।

अभियोजन पक्ष के इस पक्षकथन को कि अपीलार्थी ने बाजार से बैल की जोड़ी खरीद कर, लौटने पर पत्नी से हल्दी का पानी देने में विलम्ब करने पर उसकी कोरादाबदी से पिटाई की और गर्दन तथा पेट में घूंसों से पिटाई की तथा पैर से गर्दन दबाकर उसकी मृत्यु कारित की। अभियोजन पक्ष के पक्षकथन के आधार पर विचारण न्यायालय ने अपीलार्थी के विरुद्ध दण्ड संहिता, 1860 की धारा 302 और 201 के अधीन आरोपों को सिद्ध हुआ मानते हुए उसे आजीवन कारावास से दण्डादिष्ट किया। सेशन न्यायालय ने अपीलार्थी के भाई को, जिस पर दण्ड संहिता की धारा 201 के अधीन आरोप था, दोषमुक्त कर दिया। अभियोजन साक्षी संख्या 1 चिकित्सक ने यह साक्ष्य दिया कि मृतक

रक्तस्राव से पीड़ित थी और इसके लिए चिकित्सालय में उसका उपचार भी किया गया था । प्रतिरक्षा साक्षी संख्या 1 ने भी यही साक्ष्य दिया किन्तु अभियोजन साक्षी संख्या 2, 3 और 9 ने यह साक्ष्य दिया कि मृतक की मृत्यु अपीलार्थी की पिटाई से हुई है । अपीलार्थी ने यह दलील दी कि अभियोजन साक्षी संख्या 2, 3 और 9 के सिवाए ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो आरोपों की पुष्टि करता हो । अपीलार्थी के अभियोजन साक्षी संख्या 2 के साथ भूमि सम्बन्धी विवाद होने के कारण अच्छे सम्बन्ध नहीं थे । यही नहीं अभियोजन साक्षी संख्या 2, 3 और 9 के साक्ष्य को दण्ड प्रक्रिया संहिता की धारा 164 के अधीन मामले का अन्वेषण करते समय मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित भी नहीं किया गया था तथा इन साक्षियों ने घटना के तुरन्त पश्चात् इस घटना के बारे में किसी को भी नहीं बताया जो पूर्णतया अस्वाभाविक है । उन्होंने घटना के तुरन्त पश्चात् पुलिस थाने में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट तक दर्ज नहीं कराई । प्रस्तुत मामले में विचारार्थ और अवधारणार्थ प्रश्न यह है कि क्या हत्या के मामले में किसी ऐसे साक्षी के साक्ष्य पर विश्वास करते हुए किसी व्यक्ति को दोषसिद्ध किया जा सकता है या उसे दण्डादिष्ट किया जा सकता है, जिसकी अपीलार्थी से शत्रुता हो या जिसने घटना को उसके तुरन्त पश्चात् किसी भी व्यक्ति से प्रकट न किया हो ?

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई ।

साक्ष्य से यह अवेक्षित होता है कि यद्यपि अभि० सा० 2, 3 और 9 ने यह दावा किया है कि उन्होंने घटना को देखा है और जैसा कि यह न्यायालय पहले ही कह चुका है कि इनमें से दो के सम्बन्ध अपीलार्थी के साथ अच्छे नहीं थे, इनमें से किसी भी साक्षी ने घटना के तुरन्त पश्चात् घटना को किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया यहां तक कि उन्होंने ग्राम के ग्राम रखई को भी सूचित नहीं किया । इस सम्बन्ध में उनमें से किसी ने भी कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि वे क्यों चुप रहे, यदि वास्तव में उन्होंने इस प्रकार का हिंसक हमला देखा था तो जब तक कि घटनास्थल पर अन्वेषक पुलिस अधिकारी नहीं आया तब तक उन्होंने इस घटना का प्रकटीकरण क्यों नहीं किया । यदि साक्षियों सहित कुछ ग्रामवासी एक या अधिक दिन के लिए पास ही के ग्राम में विवाहोत्सव में गए थे किन्तु घटना के प्रकट न किए जाने के लिए कोई युक्तियुक्त या स्वीकार्य स्पष्टीकरण अभि० सा० 2, 3 और 9 द्वारा नहीं दिया गया । ऐसे व्यक्तियों का, जो अपने को घटना का साक्षी होने का दावा करते हैं, उनके द्वारा घटना के प्रकट करने में बिना किसी कारण के विलम्ब उनकी सद्भावना पर गम्भीर रूप से चोट करता है और निश्चित रूप से उनके साक्ष्य को प्रभावित करता है । इस प्रकार के साक्ष्य को मंजूर करना और दोषसिद्धि

को उस पर आधारित करना न तो निरापद है और न ही उचित। (पैरा 9)

अभि० सा० 2, 3 और 9 के साथ की पूर्वोक्त संदेहास्पद बातों के अतिरिक्त न्यायालय में अपने साक्ष्य में उनके द्वारा किए गए खण्डनात्मक कथन और दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन अभिलिखित किए गए उनके कथनों को निरर्थक बना देते हैं। धारा 164 के अधीन अभि० सा० 2 ने यह नहीं कहा है कि अपीलार्थी ने मृतक को नीचे गिरा दिया था और उसकी गर्दन पर सामने से लातें जमाई थीं तथा अपने पैर से उसकी गर्दन को दबा दिया था तथा मृतक चीखी थी और उसके पश्चात् एक भी शब्द नहीं बोल सकी थी। अभि० सा० 3 ने अन्वेषक अधिकारी से यह नहीं कहा है कि अपीलार्थी ने भैंसों का जोड़ा लेकर लौटने पर मृतक से हल्दी का पानी लाने के लिए कहा था तथा विलम्ब हो जाने के कारण उसने मृतक को बाहर घसीट लिया था और उस पर हमला किया था। धारा 164 के अधीन उसने यह नहीं कहा है कि अपीलार्थी के मारने के कारण कोरादाबदी के टुकड़े हो गए थे, और यह कि इसके पश्चात् अपीलार्थी ने मृतक की गर्दन और पेट पर लातें जमाई थीं और आगे यह कि मृतक यह कहते हुए चिल्लाई थी कि वह मर रही है। अभि० सा० 9 ने धारा 164 के अधीन अपीलार्थी के भैंसों का जोड़ा लेकर लौटने और यह पूछने के बारे में नहीं कहा है कि वह हल्दी का पानी लाई है या तेल। उसने यह भी नहीं कहा कि अपीलार्थी के पास कोरादाबदी था और यह कि वह मृतक को बाहर घसीट लाया था और उसने उस पर हमला किया था जिसके कारण कोरादाबदी टूट गया था और इसके पश्चात् उसने उसकी गर्दन और उस के पेट पर लातें जमाई थीं। अपीलार्थी को फंसाते हुए अभियोजन पक्ष के इस तात्विक भाग के कथन में किए गए लोप चूंकि अपराधी को अपराधी नहीं बनाते अतः इन लोपों को मामूली लोप नहीं कहा जा सकता और इन्हें इन साक्षियों के साक्ष्य में तात्विक रूप से खण्डनात्मक माना जाएगा। (पैरा 10)

यदि अपीलार्थी अपराध करने वाला है तो यह बहुत ही असम्भव है कि वह इस प्रकार की सूचना मृतक के भाई के अतिरिक्त, जिसके कि अपनी स्वयं की स्वीकृति के आधार पर अपीलार्थी के साथ अच्छे सम्बन्ध नहीं थे, अन्य व्यक्ति को भेजता। अभि० सा० 7 और उसकी मां (अभि० सा० संख्या 3) का साक्ष्य यह है कि वे दोनों ही अपीलार्थी के घर आए तथा अभि० सा० 7 ने यह अभिसाक्ष्य दिया है कि उसने मृतक के शरीर पर क्षतियां देखीं थीं। अभि० सा० 7 के अनुसार अपीलार्थी ने उसे मार डालने की धमकी दी थी और जिसके लिए उसने कोई रिपोर्ट दर्ज नहीं कराई थी। (पैरा 12)

पैरा

[1979] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 697 : पंडा नाना करे **बनाम** महाराष्ट्र राज्य (Panda Nana Kare *Vs*. State of Maharashtra); 9

[1974] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 2165 : बालक राम और एक अन्य **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य (Balak Ram and another *Vs*. State of Uttar Pradesh); 7

[1974] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 775 : बाबूली **बनाम** उड़ीसा राज्य (Babuli *Vs*. The State of Orissa) 9

निर्दिष्ट किए गए।

दाण्डिक अपीली अधिकारिता : 1980 की दाण्डिक अपील सं० 142.

1979 के सेशन मामले सं० 94 में कोरापुट, जेपोर के सेशन न्यायाधीश, श्री आर० एन० पंडा द्वारा 21 जुलाई, 1980 को पारित आदेश से की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री अच्युतानन्द राउतरे

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री ए० रथ, अपर स्थायी काउन्सेल

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० के० बेहरा ने दिया।

न्या० बेहरा :

विचारण न्यायालय ने भारतीय दण्ड संहिता, 1860 की धारा 302 और 201 के अधीन अपीलार्थी के विरुद्ध अधिरोपित आरोपों को साबित हुआ माना और इन दोनों धाराओं के अधीन अपराध के लिए अपराधी को दोषसिद्ध ठहराते हुए अन्य अपराध के लिए पृथक कोई दण्डादेश पारित किए बिना हत्या के अपराध के लिए आजीवन कारावास भोगने का दण्डादेश दिया और अभियोजन पक्ष के इस पक्षकथन को स्वीकार करते हुए कि 8 अप्रैल, 1979 को रात्रि के समय अपीलार्थी ने अभि० सा० 2 के साथ बाहर से भैंसों का जोड़ा खरीद कर लौटने के पश्चात् अपनी पत्नी (जिसे इसमें इसके पश्चात् 'मृतक' कहा गया है) हल्दी का पानी लाने के लिए कहा और चूंकि हल्दी का पानी लाने में कुछ विलम्ब हो गया वह अन्दर गया और मृतक को बाहर खींच कर ले आया तथा सर्वप्रथम उसने कोरादाबदी (एम० ओ० 1) से उस पर हमला

किया और जब इसके दो टुकड़े हो गए तब उसने मृतक की गर्दन और पेट में लातें और घूंसे जमाए तथा मृतक की गर्दन को अपने पैर से दबा दिया जिसके कारण मृतक चीखी और उस क्षति के कारण वह दूसरे दिन मर गई तथा अपीलार्थी और उसके भाई ने, जिसका कि भारतीय दण्ड संहिता की धारा 201 के अधीन आरोप के विरुद्ध विचारण किया जा रहा था, हत्या के अपराध के साक्ष्य को छुपाने और अपीलार्थी को विधिक दण्ड से बचाने के लिए उसकी अंत्येष्टि कर दी। सेशन न्यायालय ने अपीलार्थी के भाई को भारतीय दण्ड संहिता की धारा 201 के अधीन आरोप से इस साक्ष्य के अभाव में मुक्त कर दिया कि उसे हत्या के अपराध के किए जाने के बारे में जानकारी नहीं थी।

2. अपीलार्थी के आरोपों को सिद्ध करने के लिए अभियोजन पक्ष ने 12 साक्षियों की परीक्षा की जिनमें से अभि० सा० सं० 2 से 5 तक और 9 के बारे में यह कहा गया कि वे घटना के प्रत्यक्षदर्शी साक्षी हैं। मृतक का भाई अभि० सा० सं० 7 घटना के साक्ष्य के विषय में प्रथम इतिला देने वाला व्यक्ति है। अभि० सा० 4 ने अभियोजन पक्ष के पक्षकथन का समर्थन नहीं किया और साक्ष्य अधिनियम की धारा 154 के अधीन उससे महत्वपूर्ण प्रश्न किए गए। अभि० सा० 5 ने अपनी मुख्य परीक्षा में ऐसे साक्ष्य दिए हैं मानो कि उसने हमले को स्वयं देखा हो किन्तु अपनी प्रतिपरीक्षा में यह कथन करते हुए कि वास्तव में उसने घटना को नहीं देखा था किन्तु उसने केवल हमला किए जाने की आवाज सुनी थी उस बात से पलायन कर गया है। इस तरह न्यायालय के समक्ष अब विचारण के लिए केवल अभि० सा० सं० 2, 3 और 9 का साक्ष्य रह गया है जिसे विचारण न्यायालय ने मंजूर किया और दोषसिद्धि को मुख्य रूप से उस पर आधारित किया है।

3. चूंकि शव की अंत्येष्टि कर दी गई थी अतः कोई शवपरीक्षा नहीं की गई। शमशान से अन्वेषक अधिकारी द्वारा अभिगृहीत की गई कुछ हड्डियों के बारे में यह पता चला कि यह किसी महिला की हैं किन्तु उन हड्डियों में से किसी भी हड्डी पर मृत्यु-पूर्व क्षति के निशान नहीं पाए गए। इसके अतिरिक्त इस बारे में कोई चिकित्सीय या वैज्ञानिक साक्ष्य नहीं है कि मृतक की मृत्यु मानववध थी। अपीलार्थी ने ऐसा किए जाने से इनकार करने और मिथ्या दोषारोपण का अभिवचन किया। उसके अनुसार मृतक ने अपनी मृत्यु से कुछ दिन पूर्व एक बच्चे को जन्म दिया था तथा उसके रक्त की कमी हो गई थी और यह कि उसकी स्वाभाविक मृत्यु हुई है।

4. बिसम कटक के मिशन चिकित्सालय के भारसाधक चिकित्सक अभि० सा० 1 ने यह साक्ष्य दिया कि मृतक रक्तस्राव से पीड़ित थी और

उसका इस सम्बन्ध में चिकित्सालय में कुछ दिन उपचार किया गया था। प्रतिरक्षा पक्ष की ओर से परीक्षित प्रतिरक्षा साक्षी सं० 1 का भी यही साक्ष्य है। अभि० सा० 2, 3 और 9 का साक्ष्य यह है कि अपीलार्थी ने मृतक पर हमला किया था और अभियोजन पक्ष ने यह अभिकथन किया कि मृतक की अपीलार्थी द्वारा हमला किए जाने के कारण ही मृत्यु हुई है।

5. अपीलार्थी की ओर से उपस्थित होने वाले श्री राउतरे ने यह दलील दी कि अभि० सा० सं० 2, 3 और 9 का साक्ष्य विश्वसनीय नहीं है। दोनों पक्षों की ओर से उपस्थित होने वाले विद्वान् काउन्सेलों ने यह दलील दी कि अभि० सा० सं० 2, 3 और 9 के सिवाय ऐसा कोई साक्ष्य नहीं है जो आरोपों को सिद्ध कर सके।

6. हम यह अनुभव करते हैं कि एक ओर अभि० सा० सं० 2 और दूसरी ओर अपीलार्थी के संबंध अच्छे नहीं थे क्योंकि उनमें भूमि के बारे में विवाद है जिसके कारण प्रतिपरीक्षा में अभि० सा० स० 2 ने झिझकते हुए कथन किए हैं तथा विवाद का यह तथ्य प्रतिरक्षा साक्षी सं० 1 के साक्ष्य से प्रकट हुआ है। अभि० सा० 9, जोकि अभि० सा० 2 की पत्नी है, भी अपीलार्थी से द्वेष भाव रखती है। इनके साक्ष्य की बहुत सावधानी से परीक्षा की जानी होगी।

7. अभि० सा० सं० 2, 3 और 9 सहित घटना के साक्षियों के कथनों को दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन अन्वेषक अभिकरण द्वारा अभिलिखित नहीं किया गया है। जैसा कि **बालक राम और एक अन्य बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित किया गया है। धारा 164 के अधीन अभिलिखित घटना के साक्षियों के कथन प्राप्त करने के लिए अन्वेषक अभिकरण में कोई त्रुटि नहीं पाई जा सकती किन्तु ऐसे साक्षियों के साक्ष्य की ऐसे साक्ष्य को स्वीकार करने से पूर्व बहुत सावधानी से परीक्षा करनी होगी क्योंकि ऐसे साक्षी मजिस्ट्रेट द्वारा अभिलिखित किए गए अपने पूर्वतर कथनों से आबद्ध होते हैं अतः उन्हें उन कथनों से विचलन करने की स्वतंत्रता नहीं होती क्योंकि इस प्रकार की स्वतंत्रता की कीमत मिथ्या साक्ष्य देने के लिए अभियोजन हो सकती है। अभियोजन साक्षी सं० 2, 3 और 9 के साक्ष्य पर विचार करते हुए विद्वान् सेशन न्यायाधीश ने इस पहलू को मद्देनजर नहीं रखा है। अभि० सा० 2, 3 और 9 के साक्ष्य की संवीक्षा और उसकी परीक्षा बहुत सावधानीपूर्वक करने की आवश्यकता है किन्तु हमारे मतानुसार विचारण न्यायालय ने उनके साक्ष्य को मंजूर करने से पूर्व उनकी सावधानीपूर्वक परीक्षा नहीं की है।

---

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 2165.

8. अभि० सा० 2 और 3 ने यह कहा है कि घर लौटने पर अपीलार्थी ने मृतक से हल्दी का पानी लाने के लिए कहा। अभि० सा० 9 ने यह साक्ष्य दिया है कि अपीलार्थी ने मृतक से यह कहा कि वह हल्दी का पानी लायी है या तेल। किन्तु इन साक्षियों ने यह साक्ष्य दिया है कि जब मृतक की ओर से कुछ विलम्ब हो गया तब अपीलार्थी अन्दर गया और यह उसे घर से बाहर घसीट कर ले आया और एम० ओ० 1 से उस पर हमला किया जिसके दो टुकड़े हो गए और उसके पश्चात् उसने उसकी गर्दन और पेट में लातें मारीं। अभि० सा० 2 ने एक कदम और आगे बढ़ते हुए यह कहा कि अपीलार्थी ने मृतक की गर्दन अपने पैर से दबा दी यद्यपि इस बात का अभि० सा० 3 और 9 ने अभिसाक्ष्य नहीं दिया है।

9. साक्ष्य से यह अवेक्षित होता है कि यद्यपि अभि० सा० 2, 3 और 9 ने यह दावा किया हैं कि उन्होंने घटना को देखा है और जैसा कि हम पहले ही कह चुके हैं कि इनमें से दो के संबंध अपीलार्थी के साथ अच्छे नहीं थे। इनमें से किसी भी साक्षी ने घटना के तुरन्त पश्चात् घटना को किसी के समक्ष प्रकट नहीं किया यहां तक कि उन्होंने ग्राम के ग्राम रखही को भी सूचित नहीं किया। इस संबंध में उनमें से किसी ने भी कोई युक्तियुक्त स्पष्टीकरण नहीं दिया है कि वे क्यों चुप रहे, यदि वास्तव में उन्होंने इस प्रकार का हिंसक हमला देखा था तो जब तक कि घटनास्थल पर अन्वेषक पुलिस अधिकारी नहीं आया तब तक उन्होंने इस घटना का प्रकटीकरण क्यों नहीं किया। यदि साक्षियों सहित कुछ ग्रामवासी एक या अधिक दिन के लिए पास ही के ग्राम में विवाहोत्सव में गए थे किन्तु घटना के प्रकट न किए जाने के लिए कोई युक्तियुक्त या स्वीकार्य स्पष्टीकरण अभि० सा० 2, 3 और 9 द्वारा नहीं दिया गया है। ऐसे व्यक्तियों का, जो अपने को घटना का साक्षी होने का दावा करते हैं, उनके द्वारा घटना के प्रकट करने में बिना किसी कारण के विलम्ब उनकी सदभावना पर गंभीर रूप से चोट करता है और निश्चित रूप से उनके साक्ष्य को प्रभावित करता है। इस प्रकार के साक्ष्य को मंजूर करना और दोषसिद्धि को उस पर आधारित करना न तो निरापद है और न ही उचित। इस संबंध में **बाबूली** बनाम **उड़ीसा राज्य**[1] और **पंडा नाना करे** बनाम **महाराष्ट्र राज्य**[2] वाले मामलों में उच्चतम न्यायालय द्वारा अधिकथित सिद्धान्तों के प्रति निर्देश किया जा सकता है।

10. अभि० सा० 2, 3 और 9 के साक्ष्य की पूर्वोक्त संदेहास्पद बातों के अतिरिक्त न्यायालय में अपने साक्ष्य में उनके द्वारा किए गए खण्डनात्मक कथन और दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 164 के अधीन अभिलिखित

[1] ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 775.

[2] ए० आई० आर० 1979 एस० सी० 697.

नि० प० 1984 : कर्नाटक—1

जे० यू० प्रभु बनाम भारत संघ और अन्य

(J. U. Prabhu *Vs.* Union of India and orhers)

तारीख 1 जुलाई, 1983

[न्या० एम० रामा जायस]

भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947—धारा 5(1)(ङ) और धारा 5(2) सपठित दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973—धारा 157—यदि लोक सेवक के अपनी आय के ज्ञात स्त्रोतों के अननुपातिक आय के बारे में समाधानप्रद-स्पष्टीकरण न दिए जाने पर पुलिस प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज करके धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के चारों आवश्यक संघटकों को साबित कर देती है तो पिटीशनर प्रतिरक्षा में यह अभिवाक् नहीं दे सकता चूंकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अननुपातिक आस्तियों के समाधानप्रद लेखा-जोखा न दिए जाने का विनिर्देश नहीं किया गया है। अतः उक्त प्रथम इत्तिला रिपोर्ट त्रुटिपूर्ण है—उक्त विनिर्देश की उपधारणा या अनुमान अपराध के अन्य चार आवश्यक संघटकों में अन्तर्निहित है।

2. भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947—धारा 5(1)(ङ) और धारा 5-क(1) का द्वितीय परन्तुक—अननुपातिक आस्तियों के लिए अन्वेषण करने की शक्ति—उक्त अन्वेषण या तो पुलिस अधीक्षक अथवा उससे ऊपर की पंक्ति के अधिकारी द्वारा अथवा पुलिस अधीक्षक द्वारा प्राधिकृत पुलिस उप-अधीक्षक द्वारा किया जा सकेगा।

पिटीशनर बैंक के अधिकारी के रूप में एक लोक सेवक है। उसके विरुद्ध केन्द्रीय अन्वेषण ब्यूरो द्वारा दो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(ङ) के अधीन रजिस्ट्रीकृत की गई। पिटीशनर के विरुद्ध अभिकथित अपराध के बारे में अन्वेषण किया गया। पुलिस द्वारा धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के सभी चारों अनिवार्य संघटक साबित किए गए। पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह दलील दी कि प्रथम इत्तिला रिपोर्टों में अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के सभी संघटक प्रकट नहीं होते हैं। उन्होंने यह दलील दी कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अपराध का पांचवां संघटक अर्थात् यह पिटीशनर अपने अननुपातिक आस्तियों के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता, विनिर्दिष्ट रूप से नहीं दिया गया है, इसलिए यह पुलिस द्वारा उसके विरुद्ध अपराध का अन्वेषण प्रारम्भ करने के

लिए आधार गठित नहीं कर सकता। इस पिटीशन में मुख्य विचारार्थ प्रश्न यह है कि यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अपराध का पांचवां संघटक, अर्थात् यह कि पिटीशनर अपनी अननुपातिक आस्तियों के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता, विनिर्दिष्ट रूप से नहीं दिया गया है तो क्या पुलिस धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध का अन्वेषण कर सकती है ?

अभिनिर्धारित—पिटीशन खारिज किया गया।

उपर्युक्त प्रतिपादना के अनुसार भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के संघटक, जिनको पुलिस से साबित करने की अपेक्षा की जाती है, इस प्रकार हैं—(1) कि अभियुक्त एक लोक सेवक है, (2) उसके कब्जे में पाए गए धन संबंधी स्रोतों या सम्पत्ति की प्रकृति और विस्तार, (3) उसकी आय से ज्ञात स्रोत अर्थात् अभियोजन को ज्ञात; (4) कि अभियुक्त के कब्जे में पाए गए ऐसे स्रोत या सम्पत्ति उसकी आय के ज्ञात स्रोतों के अननुपातिक थीं। सम्बद्ध अभियुक्त लोक सेवक की ओर से संतोषप्रद स्पष्टीकरण न देने की स्थिति में उसके द्वारा साबित करने की अपेक्षा की जाती है न कि पुलिस द्वारा। पुलिस द्वारा चारों आवश्यक संघटकों को साबित करने के पश्चात् सम्बद्ध लोक सेवक के लिए इस सुरक्षा की स्वतंत्रता हैं। जैसाकि उच्चतम न्यायालय द्वारा संकेत किया गया है यह अभियुक्त लोक सेवक की विशेष जानकारी के अन्तर्गत आता है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस तथ्य का उल्लेख न करना प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को दोषपूर्ण नहीं कर सकता जिससे अन्वेषण के लिए आधार गठित होता हो। रिपोर्ट से निम्नलिखित सूचना प्रकट होती है—(i) पिटीशनर सिंडीकेट बैंक के अधिकारी होते हुए एक लोक सेवक है और इस तथ्य के बारे में पिटीशनर द्वारा कोई विवाद नहीं किया गया है। (ii) वेतन और आय के अन्य ज्ञात स्रोतों से उसकी आय की धनराशि, जिसमें उक्त अवधि के दौरान उसका सम्भावित व्यय सम्मिलित है, दी गई है। (iii) अपने नाम में या अपने परिवार के सदस्यों के नाम में उसके द्वारा कब्जे में की गई सम्पत्तियां और उनकी आस्तियों का मूल्य दिया गया है। (iv) पिटीशनर द्वारा कब्जे में की गई अननुपातिक आस्तियों का विस्तार भी दिया गया है। इस प्रकार अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अपराध के चारों आवश्यक संघटक, जिन्हें पुलिस से साबित करने की अपेक्षा की जाती है, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में विद्यमान हैं। अतः इससे अन्वेषण का आधार गठित हो सकता है। पिटीशनर की इस दलील को स्वीकार नहीं किया जा सकता कि चूंकि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध का पांचवां संघटक विनिर्दिष्ट रूप से नहीं दिया गया है, अर्थात् यह कि पिटीशनर अपनी अननुपातिक आस्तियों

के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता, संहिता की धारा 157 के अधीन उसके विरुद्ध अपराध का अन्वेषण प्रारम्भ करने के लिए आधार गठित नहीं कर सकता। इसके अतिरिक्त इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि लोक सेवक संतोषजनक रूप से लेखा-जोखा नहीं दे सकता, भी अपराध का आवश्यक संघटक (पांचवां संघटक) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में दिया जाना चाहिए। न्यायालय को ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऊपर दिए गए चार आवश्यक संघटकों से उद्भूत अनुमान या उपधारणा है। यह धारा की शब्दावली से स्पष्ट है अर्थात् "जिसके लिए लोक सेवक संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता" जिससे अभिप्रेत है कि पुलिस की राय में सम्बद्ध लोक सेवक अपने कब्जे की अननुपातिक आस्तियों के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता और यह नहीं कि पुलिस द्वारा लोक सेवक से उसके लिए संतोषजनक लेखा-जोखा देने के लिए कहा गया था और वह ऐसा करने में असफल रहा था। अतः यदि चार संघटक दिए गए हैं, पांचवां संघटक एक उपधारणा या अनुमान है, जो कि उससे उत्पन्न होता है और जिसका पुलिस द्वारा चारों अंगों को साबित करने के पश्चात् न्यायालय के समक्ष लोक सेवक द्वारा खण्डन या बहिष्करण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में आए हुए निम्नलिखित शब्द सुसंगत हैं—"वेतन और अन्य ज्ञात स्रोतों से उनकी आय······विस्तार तक हैं।" उपर्युक्त कथन से स्पष्टतः यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक जांच के अनुक्रम में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को फाइल करने से पूर्व न केवल वेतन से पिटीशनर की केवल आय है किन्तु उसकी आय के अन्य ज्ञात स्रोतों के सम्बन्ध में भी सूचना अभिप्राप्त की गई थी और इस प्रकार प्रकट की गई कुल आय प्रश्नगत अवधि के दौरान 6,65,834 रुपये के विस्तार तक थी और उक्त अवधि के दौरान पिटीशनर के सम्भावित व्यय की कटौती करने के पश्चात् पुलिस के अनुसार उसके कब्जे में पाई गई अननुपातिक आस्तियों का मूल्य 4,85,542 रुपये है। इस प्रकार जब पिटीशनर के वेतन और उसकी आय के अन्य सभी ज्ञात स्रोतों को एकत्रित किया गया था और तब भी पिटीशनर के कब्जे की आस्तियों या उसकी ओर से ऐसी आय बहुत ही अधिक अननुपातिक पाई गई थी जिससे प्रथमदृष्ट्या यह अभिप्रेत है कि पिटीशनर ऐसी आस्तियों के कब्जे के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता। यदि केवल वेतन से पिटीशनर की आय ली गई थी और अन्य स्रोतों से उसकी आय के बारे में सूचना एकत्रित की गई थी या यह उल्लेख नहीं किया गया था कि आय का उसका दूसरा कोई स्रोत नहीं था तो पिटीशनर के लिए यह दलील देना सम्भव होता कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अपूर्ण है और अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के संघटकों को प्रकट नहीं करती है। किन्तु

इस मामले में प्रथम इतिला रिपोर्ट पिटीशनर की आय के सभी ज्ञात स्रोत और उसका सम्भावित व्यय दिए गए हैं और उस आधार पर उसके कब्जे के अननुपातिक आस्तियों का विस्तार संगणित किया जाता है। इस प्रकार प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिव्यक्त रूप से अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के चार आवश्यक संघटक दिए गए हैं जिन्हें पुलिस द्वारा साबित करने की अपेक्षा की जाती है और पांचवां संघटक अर्थात् यह कि पिटीशनर आय के सभी ज्ञात स्रोतों से अपनी अननुपातिक आस्तियों का संतोषजनक रूप से लेखा-जोखा नहीं दे सकता, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अंतर्निहित है। प्रस्तुत मामले में न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अपराध के सभी संघटक अंतर्विष्ट हैं और इसलिए अन्वेषण विधि के अनुसार है। (पैरा 8, 9, 10, 11 और 13)

यह सच है कि भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम, 1947 की धारा 5-क(1) के द्वितीय परन्तुक की दृष्टि से किसी लोक सेवक के विरुद्ध अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध का पुलिस अधीक्षक की पंक्ति के किसी अधिकारी द्वारा अन्वेषण किया जा सकता है और यदि पुलिस अधीक्षक के आदेश द्वारा प्राधिकृत किया जाता है तो केवल पुलिस उप-अधीक्षक द्वारा अन्वेषण किया जा सकता हैं। यह सच है कि पूर्वतर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट इस बात का संकेत नहीं देती है कि क्या अन्वेषण ऐसे प्राधिकारी को सौंपा गया था, जो अन्वेषण करने के लिए सक्षम था। किन्तु यह प्रश्न शैक्षणिक है क्योंकि द्वितीय प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में, जिसकी विषयवस्तु इसके पूर्व उद्धृत की गई है, पुलिस अधीक्षक के आदेश द्वारा पुलिस उप-अधीक्षक को विनिर्दिष्ट रूप से अन्वेषण करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। (पैरा 15)

		पैरा
[1983]	[1983] 1 उम० नि० प० 12 पृष्ठ 73=ए० आई० आर० 1982 एस०सी० 949 : पश्चिमी बंगाल राज्य **बनाम** स्वप्न कुमार (The State of West Bengal *Vs.* Swapan Kumar);	5
[1982]	[1982] 2 उम० नि० प० 227 पृष्ठ 239= ए० आई० आर० 1981 एस०सी० 1186 : महाराष्ट्र राज्य **बनाम** वासुदेव रामचन्द्र कैदलवार (State of Maharashtra *Vs.* Wasudev Ramchandra Kadulwar);	8

[1973] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 1 : अपर्ण जोजेफ बनाम केरल राज्य (Apren Joseph *Vs.* State of Kerala); 12

[1964] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 221 : उत्तर प्रदेश राज्य बनाम भगवन्त किशोर (State of Uttar Pradesh *Vs.* Bhagwant Kishore) 12

का अवलम्ब लिया गया।

दाण्डिक रिट अधिकारिता : 1983 का रिट पिटीशन सं० 10864.

दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 की धारा 157 के अधीन पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एन० बी० भट्ट, अधिवक्ता

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री शिव शंकर भट्ट, केन्द्रीय सरकार के ज्येष्ठ स्थायी काउन्सेल, पद्मराजैया, केन्द्रीय सरकार के कनिष्ठ स्थायी काउन्सेल और एस० वी० जगन्नाथ, उच्च न्यायालय सरकारी अभिवक्ता

न्या० एस० रामा जायस :

पिटीशनर, सिंडीकेट बैंक के उप-महाप्रबन्धक ने यह रिट पिटीशन प्रस्तुत किया है जिसमें तारीख 19 फरवरी, 1983 और 23 मार्च, 1983 की दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टों (उपा० क और ग) को अभिखंडित करने के लिए प्रार्थना की गई है और उसमें प्रत्यर्थियों को उपा० क और ग में अन्तर्विष्ट सूचना के आधार पर अन्वेषण करने से रोकने के लिए भी प्रार्थना की गई है। पिटीशनर ने प्रत्यर्थियों को यह निदेश जारी करने की भी प्रार्थना की है कि अन्वेषण के दौरान प्रत्यर्थियों द्वारा कब्जे में ली गई सभी सम्पत्तियों और दस्तावेजों को लौटाने के लिए निदेश दिया जाए।

2. संक्षेप में मामले के तथ्य इस प्रकार हैं :—

(i) पिटीशनर ने 1959 में तत्कालीन केनारा इन्डस्ट्रियल बैंकिंग सिन्डीकेट लिमिटेड के स्थापन में सेवा का कार्यभार सम्भाला था। उक्त बैंक बैंककारी कम्पनी (उपक्रमों का अर्जुन और अन्तरण) अधिनियम, 1970 के उपबन्धों के अधीन अर्जित किया गया था।

बैंक के अर्जन के पश्चात् इसका नाम सिन्डीकेट बैंक रखा गया था। सरकार द्वारा बैंक का अर्जन करने के पश्चात् यह एक लोक निकाय हो गया था और राज्य शब्द की परिभाषा, जैसा कि संविधान के अनुच्छेद 12 में परिभाषित किया गया है, के अन्तर्गत आ गया था। पिटीशनर भी एक लोक सेवक हो गया था।

(ii) 19 फरवरी, 1983 को केन्द्रीय आसूचना ब्यूरो, बंगलौर के पुलिस निरीक्षक द्वारा हस्ताक्षरित प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (उपा० क) प्रधान नगर सिविल और सेशन न्यायाधीश, बंगलौर विशेष पुलिस स्थापन (एस० पी० ई० मामलों के लिए विशेष न्यायाधीश) को भेजी गई थी जिसमें भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम (संक्षेप में अधिनियम) की धारा 5(2) और 5(1)(ङ) के अधीन अपराध किया जाना अभिकथित किया गया था। एक दूसरी रिपोर्ट 23 मार्च, 1983 (उपा० ग) को भेजी गई थी। दोनों रिपोर्टों की विषयवस्तु लगभग एक जैसी थी। पिटीशनर के विरुद्ध अभिकथित अपराध के बारे में अन्वेषण शुरू किया गया है। इस रिट पिटीशन में पिटीशनर ने प्रत्यर्थियों को दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टों के अनुसरण में किसी प्रकार का अन्वेषण करने से अवरुद्ध करने के लिए प्रार्थना की है।

3. पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल श्री एन० बी० भट्ट ने निम्नलिखित दलील पर जोर दिया है :—

> प्रथम इत्तिला रिपोर्टों से अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के सभी संघटक प्रकट नहीं होते हैं और इसलिए प्रत्यर्थियों को अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन पिटीशनर के विरुद्ध अभिकथित आरोप के सम्बन्ध में अन्वेषण करने का कोई विधिक प्राधिकार नहीं था।

4. उपर्युक्त दलील का खुलासा करते हुए पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने यह निवेदन किया : ऐसी प्रथम इत्तिला रिपोर्ट की विद्यमानता, जिसमें अपराध के सभी संघटक प्रकट किए जाते हैं, दण्ड प्रक्रिया संहिता (संक्षेप में संहिता) के उपबन्धों के अधीन अन्वेषण की शक्तियों का प्रयोग करने का आधार गठित करते हैं। प्रस्तुत मामले में पिटीशनर के विरुद्ध अभिकथित अपराध अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन आता है। उक्त धारा के अनुसार अपराध के आवश्यक संघटक इस प्रकार हैं :—

> (i) किसी लोक सेवक द्वारा ऐसी आस्तियों का कब्जा जो कि लोक सेवक की आय के ज्ञात स्रोतों के अननुपात में हों, और

(ii) लोक सेवक अपने कब्जे में की आस्तियों के अननुपात के सम्बन्ध में संतोषजनक स्पष्टीकरण न दे पाए।

दोनों प्रथम इत्तिला रिपोर्टों में आवश्यक संघटक प्रकट नहीं किए गए हैं जबकि पिटीशनर की आय के ज्ञात स्रोतों और पिटीशनर के कब्जे में की उक्त आस्तियों का मूल्य दिया गया है और इस भाव का कोई अभिकथन या कथन नहीं किया गया है कि पिटीशनर के पास अपने कब्जे की आस्तियों के लिए कोई संतोषजनक स्पष्टीकरण नहीं था। उस आवश्यक संघटक के विनिर्देश के अभाव में यह नहीं समझा जा सकता कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अपराध प्रकट किया गया है और परिणामस्वरूप प्रत्यर्थियों को अन्वेषण करने का कोई विधिक प्राधिकार नहीं था।

5. पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल की दलीलों के समर्थन में **पश्चिम बंगाल राज्य बनाम स्वप्न कुमार**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चय को निर्दिष्ट किया गया है। विशेषत: उन्होंने निर्णय के पैरा 10 और 21 का अवलम्ब लिया है और यह दलील दी है कि संहिता की धारा 157 के अधीन पुलिस को अन्वेषण प्रारम्भ करने और उसका संचालन करने की कोई शक्ति नहीं थी क्योंकि अन्वेषण करने की उनकी शक्ति किसी संज्ञेय अपराध के किए गए जाने के संदेह के कारण की विद्यमानता पर निर्भर करती है और वे इस बारे में किसी कारण से तब तक संदेह नहीं कर सकते थे कि किसी व्यक्ति द्वारा कोई अपराध किया गया है जब तक कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रथमदृष्टया अपराध के सभी आवश्यक संघटक प्रकट न किए गए हों और चूंकि पिटीशनर के विरुद्ध फाइल की गई दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टों में इस शर्त को पूरा नहीं किया गया था इसलिए प्रत्यर्थियों को अन्वेषण करने का कोई विधिक प्राधिकार नहीं था।

6. प्रत्यर्थी सं० 1 केन्द्रीय सरकार के विद्वान वरिष्ठ स्थायी काउन्सेल श्री शिव शंकर भट्ट, प्रत्यर्थी सं० 2 केन्द्रीय सरकार के विद्वान कनिष्ठ स्थायी काउन्सेल श्री पद्मराजैया और उच्च न्यायालय के विद्वान सरकारी अधिवक्ता श्री एस० वी० जगन्नाथ से न्यायालय की सहायता करने का अनुरोध किया गया जिन्होंने पिटीशनर की दलीलों के विरोध में तर्क दिए हैं।

7. उनकी दलीलों को निम्नलिखित रूप में संक्षेप में रखा जा सकता है :—

---

[1] [1983] 1 उम० नि० प० 12 पृष्ठ 73 पर = ए० आई० आर० 1982 एस० सी० 949.

(i) प्रस्तुत मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्टों में अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के सभी आवश्यक संघटकों को उपवर्णित किया गया है और यह कि उनमें सभी ज्ञात स्रोतों से पिटीशनर की कुल आय के बारे में पूरी जानकारी मिलती है और उसकी सभी आस्तियों का मूल्य भी दिया गया है और उसके कब्जे की सभी आस्तियों के अननुपात का विस्तार भी दिया गया है।

(ii) अन्य संघटक अर्थात् यह कि पिटीशनर अपने कब्जे की अननुपातिक आस्तियों के सम्बन्ध में संतोषजनक ब्यौरा नहीं दे सकता, उस अपराध का ऐसा आवश्यक संघटक नहीं है, जिसे प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिव्यक्त रूप से उल्लिखित किया जाए, क्योंकि वह तो उसकी आय के सभी ज्ञात स्रोतों की अननुपातिक आस्तियों के कब्जे से उद्भूत होने वाला अनुमान या उपधारणा है।

(iii) यदि इसे एक आवश्यक संघटक समझ भी लिया जाए तो भी इस तथ्यात्मक विवरण की सूचना एकत्रित करने के पश्चात् पिटीशनर के कब्जे में जो आस्तियां हैं वे उसकी आय के अत्यधिक अननुपात में हैं। इससे यह विवक्षित है कि पिटीशनर ऐसी आस्तियों के कब्जे के बारे में समाधानप्रद रूप से ब्यौरा नहीं दे सकता।

स्वप्न कुमार वाले मामले का सुसंगत भाग इस प्रकार है :—

माननीय न्यायाधिपति ए० एन० सेन ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

"65. जहां कोई अपराध प्रकट हुआ हो वहां वह प्रत्येक विशेष मामले के तथ्यों और परिस्थितियों पर अनिवार्य रूप से आधारित होना चाहिए। इस बात पर विचार करते समय कि क्या कोई अपराध, जिसका अन्वेषण किया जा रहा है या किया जाने वाला है, प्रकट हुआ हो या न हुआ हो, न्यायालय को मुख्यतः शिकायत या प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पर विचार करना चाहिए तथा न्यायालय समुचित मामलों में मामले के सुसंगत तथ्यों और परिस्थितियों पर विचार कर सकता है। सब सुसंगत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् न्यायालय इस निष्कर्ष पर पहुंचा है कि क्या कोई अपराध प्रकट हुआ है या नहीं। यदि सुसंगत सामग्री पर विचार करने पर न्यायालय का यह समाधान हो जाता है कि अपराध प्रकट हुआ है तो न्यायालय सामान्यतया

अपराध के अन्वेषण में हस्तक्षेप नहीं करेगा और अपराध को सिद्ध करने के लिए सामग्री संगृहीत करने हेतु अपराध में अन्वेषण पूरा होने के लिए अनुज्ञात करेगा। दूसरी ओर यदि न्यायालय का सुसंगत सामग्री पर विचार करने के पश्चात् यह समाधान हो जाता है कि कोई भी अपराध प्रकट नहीं हुआ है तो न्यायालय का किसी अन्वेषण में हस्तक्षेप करना कर्तव्य होगा तथा किसी व्यक्ति को अनावश्यक परेशानी से बचाने के लिए अन्वेषण रोकना भी कर्तव्य होगा।"

(अधो रेखांकन मैंने किया है)

न्यायाधिपति सेन द्वारा अभिव्यक्त किए गए मत (देखिए पैरा 1) से पूर्ण सहमति प्रकट करते हुए माननीय मुख्य न्यायाधिपति ने निम्नलिखित मत व्यक्त किया :—

"10. इस प्रश्न का कि क्या प्रथम इत्तिला रिपोर्ट प्रथमदृष्टया अधिनियम की धारा 3 के साथ पठित धारा 4 के अधीन अपराध दर्शाती है, विनिश्चय अधिनियम की धारा 2(ग) की अपेक्षाओं को देखते हुए किया जाना चाहिए। मैं पहले ही अन्वेषण ब्यूरो के वाणिज्यिक कर अधिकारी द्वारा की गई प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को विस्तार से उद्धृत कर चुका हूं। उसका सावधानीपूर्वक और उदारता से भी विश्लेषण करने पर वह फर्म संचयिता इनवेस्टमेंट्स और उसके तीन भागीदारों के विरुद्ध निम्नलिखित अभिकथन करती है :—

(1) फर्म अपने सदस्यों को 48 प्रतिशत वार्षिक दर से अत्यधिक ब्याज दे रही थी और तत्पश्चात् ब्याज की दर घटाकर 36 प्रतिशत प्रति वर्ष कर दी गई थी,

(2) ब्याज की इतनी ऊंची दर संदत्त की जा रही थी यद्यपि ऋण प्रमाणपत्र की रसीदें केवल यह दर्शाती हैं कि ब्याज केवल 12 प्रतिशत वार्षिक दर से संदत्त किया जाना था, और

(3) यह तथ्य कि ब्याज 12 प्रतिशत से अधिक संदत्त किया गया था स्पष्ट रूप से यह दर्शाता है कि धन परिचालन स्कीम तुरन्त या सुलभ धन उपार्जित करने के लिए संपरिवर्तित और संचालित की जा रही थी।

इन अभिकथनों के आधार पर मुझे यह अभिनिर्धारित करना असंभव प्रतीत होता है कि प्रथमदृष्टया कोई भी अपराध अधिनियम

की धारा 3 के अधीन सिद्ध किया हुआ कहा जा सकता है। प्रथमतः प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रत्यक्ष रूप से या अप्रत्यक्ष रूप से यह अभिकथन नहीं किया गया है कि फर्म सदस्यों को उस स्कीम में नामांकित करने से सम्बन्धित या उसको लागू किसी घटना या आकस्मिकता पर आश्रित तुरन्त या सुलभ धन उपार्जित करने के लिए स्कीम संप्रवर्तित या संचालित कर रही थी। द्वितीयतः प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में ऐसा किसी भी प्रकार का कोई अभिकथन नहीं है कि व्यक्ति, जिन्होंने फर्म को अपना धन अग्रिम दिया था या उसके पास जमा किया था, किसी घटना या आकस्मिकता पर आश्रित तुरन्त या सुलभ धन उपार्जित करने के लिए स्कीम में भाग लेने वाले व्यक्ति थे। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट देखते ही जल्दबाजी और असावधानी दर्शाती है। अभियोजन की ओर से श्री सोमनाथ चटर्जी द्वारा हमारे समक्ष जो बहस की गई है उससे यह उपधारणा की हुई प्रतीत होती है कि धारा 2(ग) के प्रयोजनों के लिए यह दर्शाना पर्याप्त है कि अभियुक्त तुरन्त या सुलभ धन उपार्जित करने के लिए ऐसी स्कीम संप्रवर्तित या संचालित कर रहे हैं। यह ऐसी उपधारणा है जो मुझे भ्रामक प्रतीत होती है। धारा 2(ग) का आवश्यक लक्षण यह है कि तुरन्त या सुलभ धन उपार्जित करने के लिए स्कीम सदस्यों को उस स्कीम में नामांकित करने से सम्बन्धित या उसको लागू किसी घटना या आकस्मिकता पर निर्भर होनी चाहिए। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट जो यह अभिकथित या प्रकट नहीं करती हो कि दाण्डिक उपबन्ध की अनिवार्य आवश्यकताओं को प्रथमदृष्टया पूरा कर दिया गया है, वैध अन्वेषण के आरम्भ बिन्दु का आधार नहीं हो सकती।

× × ×

21. स्थिति जो इन विनिश्चयों और अन्य विनिश्चयों से, जिन पर हमारे विद्वान बन्धु न्यायाधिपति ए० एन० सेन द्वारा चर्चा की गई है, उद्भूत होती है वह यह है कि संहिता की धारा 157 के अधीन अन्वेषण के प्रारंभ करने के लिए पुरोभाव्य शर्त यह है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से प्रथमदृष्टया यह अवश्य ही प्रकट होना चाहिए कि संज्ञेय अपराध किया गया है। यह कल्पना करना गलत है कि पुलिस को संहिता की धारा 157 के अधीन अन्वेषण प्रारम्भ करने के लिए अनियंत्रित विवेकाधिकार है। जांच के लिए उनका अधिकार संज्ञेय अपराध के किए जाने के लिए संदेह करने के कारण

के अस्तित्व द्वारा सशर्त और युक्तियुक्त रूप से उनके पास इस प्रकार संदेह करने के लिए तब तक कोई कारण नहीं हो सकता जब तक कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट प्रथमदृष्टया ऐसे अपराध का किया जाना प्रकट न करती हो। यदि उस शर्त को पूरा किया जाता है तो अन्वेषण अवश्य ही किया जाना चाहिए और ख्वाजा नजीर अहमद के मामले का नियम लागू होगा। तब न्यायालय को अन्वेषण रोकने के लिए कोई शक्ति नहीं है क्योंकि ऐसा करना संज्ञेय अपराधों में अन्वेषण करने के लिए पुलिस की वैध शक्ति को काटना होगा और दूसरी ओर यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट से संज्ञेय अपराध किया जाना प्रकट न हो तो न्यायालय पेश की गई या प्राप्त जानकारी के आधार पर अन्वेषण अभिखण्डित करने के लिए न्यायोचित होगा।" (अधोरेखांकन मेरे द्वारा किया गया)

8. ऊपर अधिकथित विनिश्चयाधार और विद्वान काउन्सेल द्वारा दी गई दलीलों को ध्यान में रखते हुए विचारार्थ निम्नलिखित दो प्रश्न उद्भूत होते हैं:—

(i) क्या यह तथ्य कि कोई लोक सेवक अपनी आय के ज्ञात स्रोतों की अननुपातिक अपनी आस्तियों का संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता एक ऐसा आवश्यक संघटक है जिसका उल्लेख प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में किया जाना चाहिए और क्या इसके अभाव में अन्वेषण करने की कोई शक्ति नहीं है? यदि ऐसा है तो क्या इस मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में विवक्षित रूप से उस संघटक को भी प्रकट नहीं किया गया है।

(ii) यदि यह कथन कि सम्बद्ध लोक सेवक अपनी आय के ज्ञात स्रोत की अपनी अननुपातिक आस्तियों हेतु संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता। प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिव्यक्त रूप से या विवक्षित रूप से प्रकट नहीं किया गया है और यदि पुलिस के कब्जे में अन्य कोई ऐसी तात्विक सूचना है जिससे अपराध के करने के संदेह का आधार मिलता है तो उन्हें अन्वेषण करने की शक्ति है भले ही प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रकट की गई सामग्री अपराध के करने के संकेत के लिए पर्याप्त नहीं है।

इस प्रक्रम पर मैं अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) की विषय-वस्तु को प्रस्तुत करता हूं। यह इस प्रकार है:—

"5. **पदीय कर्तव्यों के निर्वहन में दाण्डिक अवचार**—(1) कोई लोक सेवक आपराधिक अवचार का अपराध करने वाला कहा जाता है :—

(ङ) यदि उसके या उसकी ओर से किसी व्यक्ति के कब्जे में ऐसे धन सम्बन्धी साधन या ऐसी सम्पत्ति है जो उसकी आय के ज्ञात स्रोतों के अननुपातिक है अथवा उसके पद की कालावधि के दौरान किसी समय कब्जे में रही है जिसका वह लोक सेवक समाधानप्रद लेखा-जोखा नहीं दे सकता।" (अधो रेखांकन मेरे द्वारा किया गया)

महाराष्ट्र राज्य बनाम **वासुदेव रामचन्द्र कैदलवार**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा इस उपबन्ध का निम्नलिखित रूप में निर्वचन किया गया है :—

"......धारा 5(1)(ङ) के साथ पठित धारा 5(2) के अधीन आपराधिक अवचार के अपराध की आवश्यक बातें आय के ज्ञात स्रोतों के अननुपातिक धन सम्बन्धी स्रोतों या सम्पत्ति का कब्जा है जिसके लिए लोक सेवक समाधानप्रद रूप से लेखा-जोखा नहीं दे सकता। आरोप साबित करने के लिए अभियोजन पक्ष को धारा 5(1)(ङ) के अधीन किसी मामले को लेने के पूर्व निम्नलिखित तथ्य साबित करने चाहिए अर्थात् (1) उसे यह अवश्य ही साबित करना चाहिए कि अभियुक्त लोक सेवक है, (2) धन सम्बन्धी ऐसे और स्रोत जो कि उसके कब्जे में पाए गए हों या सम्पत्ति की प्रकृति और विस्तार, (3) यह भी साबित किया जाना चाहिए कि आय के उसके ज्ञात स्रोत क्या थे अर्थात् अभियोजन-पक्ष को ज्ञात स्रोत कौन-से थे, और (4) बिल्कुल ही वस्तुपरक रूप से यह अवश्य ही साबित किया जाना चाहिए कि अभियुक्त के कब्जे में पाए गए ऐसे स्रोत या सम्पत्ति आय के उसके ज्ञात स्रोत के अननुपातिक थे। यदि ये चारों आवश्यक बातें साबित कर दी जाती हैं तो धारा 5(1)(ङ) के अधीन आपराधिक अवचार का अपराध पूर्ण हो जाता है, जब तक कि अभियुक्त ऐसे स्रोतों या सम्पत्ति का लेखा-जोखा देने में समर्थ न हों।

---

1 [1982] 2 उम० नि० प० 227 पृष्ठ 239=ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1186.

तो फिर अननुपातिक आस्तियों का अभियुक्त के कब्जे में होने का समाधान प्रद लेखा-जोखा देने का भार अभियुक्त पर अन्तरित हो जाता है। ऐसे लोक सेवक पर जिनके कब्जे में अननुपातिक आस्तियां लाई गई हों, धारा 5(1)(ङ) के अधीन सबूत के भार का विस्तार और प्रकृति उस कसौटी से अर्थात् अधिसम्भाव्यता की अधिकता के आधार पर अपने मामले को साबित करने से, अधिक ऊंची नहीं हो सकती जो कि बी० डी० जगन **बनाम** उत्तर प्रदेश राज्य वाले मामले में इस न्यायालय ने अधिकथित की थीं। बुलमिंगटन **बनाम** डायरेक्टर आफ पब्लिक प्रासिक्यूशन वाले मामले में लार्ड चांसलर विसकाउंट सैंकी के सिद्धान्त का अनुसरण करते हुए न्यायालय ने यह कसौटी अधिकथित की थी। उच्च न्यायालय ने आय के सभी सम्भावित स्रोतों को, जो कि अभियुक्त की विशेष जानकारी के भीतर थे, न साबित करने के लिए अभियोजन पक्ष पर असम्भव भार डाला है। जैसा कि सी० एस० डी० स्वामी **बनाम** राज्य वाले मामले में अधिकथित किया गया है, जैसी कि स्थिति है, उसमें अभियोजन पक्ष से ऐसे लोक सेवक के कार्यकलाप के बारे में जानकारी रखने की आशा नहीं की जा सकती जिसके कब्जे में उसकी आय के ज्ञात स्रोतों अर्थात् उसके वेतन के अननुपातिक स्रोत या सम्पत्ति हो। वे विषय विशेषकर साक्ष्य अधिनियम, 1872 की धारा 106 के अर्थान्तर्गत लोक सेवक की जानकारी के भीतर वाले मामले होंगे। धारा 106 निम्नलिखित रूप में है :—

> "धारा 106. जबकि कोई तथ्य विशेषतः किसी व्यक्ति के ज्ञान में है, तब उस तथ्य को साबित करने का भार उस पर है।"

इस सम्बन्ध में 'साबित करने का भार' अभिव्यक्ति का उपयोग स्पष्टतः गौण अर्थ में किया गया है अर्थात् साक्ष्य पुरःस्थापित करने के कर्तव्य के अर्थ में इसका उपयोग किया गया है। अभियुक्त पर डाले गए भार की प्रकृति और सीमा सुस्थिर है। अभियुक्त सभी युक्तियुक्त सन्देह से परे अपनी निर्दोषिता साबित करने के लिए बाध्य नहीं है। उसे जो बात करने की आवश्यकता है, वह अधिसम्भाव्यता के आधिक्य को सामने लाना है।"

उपर्युक्त प्रतिपादना के अनुसार अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के संघटक, जिनको पुलिस से साबित करने की अपेक्षा की जाती है, इस प्रकार हैं :—

(1) कि अभियुक्त एक लोक सेवक है ;

(2) उसके कब्जे में पाए गए धन सम्बन्धी स्रोतों या सम्पत्ति की प्रकृति और विस्तार ;

(3) उसकी आय के ज्ञात स्रोत अर्थात् जो अभियोजन पक्ष को ज्ञात हों;

(4) कि अभियुक्त के कब्जे में पाये गये ऐसे स्रोत या सम्पत्ति उसकी आय के ज्ञात स्रोतों के अननुपातिक थीं ।

सम्बद्ध अभियुक्त लोक सेवक की ओर से समाधानप्रद स्पष्टीकरण न देने की स्थिति में उसके द्वारा साबित करने की अपेक्षा की जाती है न कि पुलिस द्वारा। पुलिस द्वारा चारों अनिवार्य संघटकों को साबित करने के पश्चात् सम्बद्ध लोक सेवक के लिए इस सुरक्षा की स्वतन्त्रता है । जैसा कि उच्चतम न्यायालय द्वारा संकेत किया गया है । यह अभियुक्त लोक सेवक की विशेष जानकारी के अंतर्गत आता है और इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि उस तथ्य का उल्लेख न करना प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को त्रुटिपूर्ण नहीं बना सकता जिससे अन्वेषण के लिए आधार गठित होता हो ।

9. अगला मुद्दा जिस पर विचार किया जाना है वह यह है कि क्या इस मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट चारों आवश्यक संघटकों को प्रकट करती हैं । जैसा कि इस मामले में पहले ही उल्लेख किया गया है । ये दो प्रथम इत्तिला रिपोर्टें हैं उनमें से दोनों लगभग समान हैं। इसलिए बाद वाली तारीख 23 मार्च, 1983 वाली प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (उपा० ग) की विषय-वस्तु का उल्लेख करना पर्याप्त होगा । यह इस प्रकार है :—

"पुलिस अधीक्षक का कार्यालय
सी० बी० आई०
एस० पी० ई०
सी० आई० यू०
लोकनायक भवन
आठवीं मंजिल, खान मार्केट,
नई दिल्ली

दिल्ली स्पेशल पुलिस एस्टेब्लिशमैंट सी० आई० यू० (1) ब्रांच

प्रथम इत्तिला रिपोर्ट

अपराध संख्या आर० सी० 2/83 (सी० आई० आर०) (1) रिपोर्ट की तारीख और समय 23 मार्च, 1983 को चार बजे अपराह्न

राज्य के साथ घटनास्थल	—	बंगलौर, कर्नाटक
घटना की तारीख और समय	—	1959 और 1982 के बीच
परिवादी या सूचना देने वाले का नाम उसके पते सहित	—	श्री एस॰ वी॰ शशिधर, पुलिस निरीक्षक, सी॰ बी॰ आई॰, एस॰ पी॰ आई॰, बंगलौर
अपराध	—	भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम (1947 का अधिनियम 2) की धारा 5(1)(ङ) के साथ पठित धारा 5(2) के अधीन
अभियुक्त का नाम और पता	—	श्री जे॰ यू प्रभु, उप-महा-प्रबंधक, जोनल कार्यालय, सिंडीकेट बैंक, गांधी नगर, बंगलौर
की गई कार्रवाई	—	आर॰ सी॰ रजिस्ट्रीकृत
अन्वेषणकर्त्ता अधिकारी	—	श्री ओम प्रकाश उप-अधीक्षक पुलिस, सी॰ बी॰ आई॰, एस॰ पी॰ ई॰, सी॰ आई॰ यू॰ (1), नई दिल्ली

सूचना

मुखयालय के आदेशों के अधीन अन्तरण पर एस॰ पी॰ ई॰ की बंगलौर शाखा का मामला आर॰ सी॰4/83 दिनांक19 फरवरी, 1983 एस॰ पी॰ ई॰, सी॰ बी॰ आई॰ की सी॰ आई॰ यू॰ (1), में पुनः दर्ज किया गया। एस॰ पी॰ ई॰ की बंगलौर शाखा के आर॰ सी॰ 4/83 में अंतर्विष्ट सूचना निम्नलिखित रूप में पुनः उद्धृत की जाती है :—

"निम्नलिखित विश्वसनीय सूचना प्राप्त की गई :

श्री जे॰ यू॰ प्रभु, उप-महा-प्रबन्धक, सिंडीकेट बैंक, गांधी नगर, बंगलौर के रूप में कार्य कर रहे हैं। उन्होंने 300 रुपये प्रति मास के वेतन पर परिवीक्षाधीन अधिकारी के रूप में बैंक में 27 अगस्त, 1959 को कार्यभार सम्भाला था। वेतन से और अन्य ज्ञात स्रोतों से उनकी आय उक्त अवधि के दौरान लगभग 6,65,834 रुपये के विस्तार तक है। उनका सम्भावित व्यय लगभग 3,90,887 रुपये 14 पैसे के विस्तार तक है। उससे उनकी सम्भावित

बचत लगभग 2,14,937 रुपये 73 पैसे के विस्तार तक है। किन्तु शेषाद्रिपुरम, 1, मैन रोड, बंगलौर-20 में मकान सं० 132/ए-3, अपनी पुत्री के नाम में लिए गए कार्ड रोड के पश्चिम में 50 × 80 फीट का एक स्थल, कोरा मंगल नक्शे में एक स्थल, हैदराबाद में एक स्थल अपने नाम में सावधि निक्षेप और अपने परिवार के सदस्यों के नामों में सावधि निक्षेप के रूप में लगभग 1,07,500 रुपये के विस्तार तक बैंक निक्षेप, शेयर सर्टीफिकेट और अन्य घरेलू सामान जैसे टेलीविजन, रैफ्रीजरेटर, कार, आभूषण आदि के रूप में उनकी कुल आस्तियां लगभग 7,00,480 रुपये 18 पैसे के विस्तार तक हैं।

इस प्रकार उसकी आस्तियां लगभग 4,84,542 रुपये के विस्तार तक उसकी आय के ज्ञात स्रोतों की अननुपातिक हैं और वह उसे अपनी पदीय स्थिति का दुरुपयोग करके भ्रष्ट या अवैध तरीकों को अपनाये बिना अर्जित नहीं कर सकता।

उपर्युक्त सूचना भ्रष्टाचार निवारण अधिनियम (1947 का अधिनियम 2) की धारा 5(1)(ङ) के साथ पठित धारा 5(2) के अधीन अपराध को प्रकट करती हैं।

इसलिए यह प्रथम इत्तिला रिपोर्ट दर्ज की गई है।

ह०

(एस० वी० शशिधर)

पुलिस निरीक्षक, सी० बी० आई,

एस० पी० ई०, बंगलौर

इस मामले का अन्वेषण सी० बी० आई०, एस० पी० ई०, नई दिल्ली की सी० आई० यू० (1) शाखा के पुलिस उप-अधीक्षक श्री ओम प्रकाश को सौंपा जाता है।

ह०

विजय शंकर

पुलिस अधीक्षक, सी० आई० यू० (1)

एस० पी० ई०, सी० बी० आई०,

नई दिल्ली।"

रिपोर्ट से निम्नलिखित सूचना प्रकट होती है :—

(i) पिटीशनर सिंडीकेट बैंक के अधिकारी होने के नाते एक

लोक सेवक है और इस तथ्य के बारे में पिटीशनर द्वारा कोई विवाद नहीं किया गया है।

(ii) वेतन और आय के अन्य ज्ञात स्रोतों से उनकी आय की धनराशि, जिसमें उक्त अवधि के दौरान उसका सम्भावित व्यय सम्मिलित है, दी गई हैं।

(iii) अपने नाम में या अपने परिवार के सदस्यों के नाम में उसके द्वारा कब्जे में की गई सम्पत्तियां और उन आस्तियों का मूल्य दिया गया है।

(iv) पिटीशनर द्वारा कब्जे में की गई अननुपातिक आस्तियों का विस्तार भी दिया गया है।

इस प्रकार अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) में के अपराध की चारों आवश्यक संघटक, जिन्हें पुलिस से साबित करने की अपेक्षा की जाती है, जैसा कि **वासुदेव रामचन्द्र वाले मामले**[1] में उच्चतम न्यायालय द्वारा संकेत किया गया है, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में विद्यमान हैं। अतः इससे अन्वेषण का आधार गठित हो सकता है। पिटीशनर की ओर से इस जोरदार दलील को स्वीकार करने में मैं कठिनाई महसूस करता हूं। चूंकि, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अधिनियम की धारा 5 (1)(ङ) के अधीन अपराध के पांचवें संघटक को विनिर्दिष्ट रूप से वर्णित नहीं किया गया है, अर्थात् यह कि पिटीशनर अपनी अननुपातिक आस्तियों के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता, अतएव संहिता की धारा 157 के अधीन उसके विरुद्ध अपराध का अन्वेषण प्रारम्भ करने के लिए आधार गठित नहीं कर सकता।

10. इसके अतिरिक्त इस तथ्य को ध्यान में रखते हुए कि लोक सेवक संतोषजनक रूप से लेखा-जोखा नहीं दे सकता, भी अपराध का आवश्यक संघटक (पांचवां संघटक) प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में दिया जाना चाहिए। मुझे ऐसा प्रतीत होता है कि यह ऊपर दिए गए चार आवश्यक संघटकों से उद्भूत अनुमान या उपधारणा है। यह धारा की शब्दावली से स्पष्ट है अर्थात् "जिसके लिए लोक सेवक संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता" जिससे अभिप्रेत है कि पुलिस की राय में सम्बद्ध लोक सेवक अपने कब्जे की अननुपातिक आस्तियों के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता और यह नहीं कि पुलिस द्वारा लोक सेवक से उसके लिए संतोषजनक लेखा-जोखा देने के लिए कहा गया था और वह ऐसा करने

---

[1] ए० आई० आर० 1981 एस० सी० 1186.

में असफल रहा था। अतः यदि चार संघटक दिए गए हैं, पांचवां संघटक एक उपधारणा या अनुमान है, जोकि उनसे उत्पन्न होता है और जिसका पुलिस द्वारा चारों संघटकों को साबित करने के पश्चात् न्यायालय के समक्ष लोक सेवक द्वारा खण्डन या बहिष्करण किया जा सकता है। इस सम्बन्ध में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में आये हुए निम्नलिखित शब्द सुसंगत हैं :—

"वेतन और अन्य ज्ञात स्रोतों से उसकी आय········विस्तार तक हैं।"

उपर्युक्त कथन से स्पष्टतः यह संकेत मिलता है कि प्रारम्भिक जांच के अनुक्रम में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट को फाइल करने से पूर्व न केवल वेतन से पिटीशनर की केवल आय है किन्तु उसकी आय के अन्य ज्ञात स्रोतों के सम्बन्ध में भी सूचना अभिप्राप्त की गई थी और इस प्रकार प्रकट की गई कुल आय प्रश्नगत अवधि के दौरान 6,65,834 रुपये के विस्तार तक थी और उक्त अवधि के दौरान पिटीशनर के सम्भावित व्यय की कटौती करने के पश्चात् पुलिस के अनुसार उसके कब्जे में पाई गई अननुपातिक आस्थियों का मूल्य 4,85,542 रुपये है। इस प्रकार जब पिटीशनर के वेतन और उसकी आय के अन्य सभी ज्ञात स्रोतों को एकत्रित किया गया था और तब भी पिटीशनर के कब्जे की आस्तियों या उसकी ओर से ऐसी आय बहुत ही अधिक अननुपातिक पाई गई थी जिससे प्रथमदृष्टया यह अभिप्रेत है कि पिटीशनर ऐसी आस्तियों के कब्जे के लिए संतोषजनक लेखा-जोखा नहीं दे सकता। यदि केवल वेतन से पिटीशनर की आय ली गई थी और अन्य स्रोतों से उसकी आय के बारे में सूचना एकत्रित की गई थी या यह उल्लेख नहीं किया गया था कि आय का उसका दूसरा कोई स्रोत नहीं था तो पिटीशनर के लिए यह दलील देना सम्भव होता कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अपूर्ण है और अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के संघटकों को प्रकट नहीं करती है। किन्तु इस मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट पिटीशनर की आय के सभी ज्ञात स्रोत और उसका सम्भावित व्यय दिए गए हैं और उस आधार पर उसके कब्जे के अननुपातिक आस्तियों का विस्तार संगणित किया जाता है। इस प्रकार प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अभिव्यक्त रूप से अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध के चार आवश्यक संघटक दिए गए हैं जिन्हें पुलिस द्वारा साबित करने की अपेक्षा की जाती है और पांचवां संघटक अर्थात् यह कि पिटीशनर आय के सभी ज्ञात स्रोतों की अननुपातिक अपनी आस्तियों का संतोषजनक रूप से लेखा-जोखा नहीं दे सकता, प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अंतर्निहित है। इन परिस्थितियों में पिटीशनर की ओर से दी गई इस जोरदार दलील में मैं कोई सार नहीं पाता।

11. द्वितीय प्रश्न यह है कि क्या यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अपराध के संघटकों को प्रकट नहीं करती है तो क्या पुलिस को अन्वेषण करने की शक्ति प्राप्त है यदि उनके पास अन्यथा सूचना प्राप्त है तो प्रथम इत्तिला रिपोर्ट जो कि उन्हें अपराध के किए जाने के संदेह के आधार का कारण देती है। मामले के इस पहलू पर पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल ने यह दलील दी कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रकट किए गए आवश्यक संघटकों के अभाव में अन्वेषण करने की कोई शक्ति नहीं है और इसके समर्थन में उन्होंने यह निवेदन किया कि इस मुद्दे पर स्वप्न कुमार वाले मामले में मुख्य न्यायाधिपति के निर्णय का पैरा 10 और 21 विधि की प्रतिपादना के बारे में स्पष्ट और असंदिग्ध है।

12. किन्तु प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन किया है कि स्वप्न कुमार वाले मामले में न्यायाधीश सेन के निर्णय के पैरा 65, जिसके साथ मुख्य न्यायाधीश ने अपनी पूर्ण सहमति प्रकट की थी, पढ़ने से यह दर्शित होता है कि पुलिस द्वारा अन्वेषण यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के अतिरिक्त या अन्य सामग्री के आधार पर उपलब्ध था, तो पुलिस द्वारा अपराध के किए जाने के बारे में संदेह करने का कारण है तो पुलिस द्वारा अन्वेषण विधिसम्मत है। विद्वान काउन्सेल ने यह निवेदन किया कि स्वप्न कुमार वाले उपरोक्त मामले में प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के मामले में उच्चतम न्यायालय ने यह पाया था कि उस अधिकारी, जिसने प्रथम इत्तिला रिपोर्ट फाइल की थी, ने इनामी चिट और धन परिचालन स्कीम (पाबन्दी) अधिनियम, 1978 की धारा 3 के अधीन अपराध के क्षेत्र को बिल्कुल नहीं समझा था और उसके परिणामस्वरूप प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अपराध प्रकट नहीं किया गया था और इसके अतिरिक्त अपराध के किए जाने के बारे में संदेह का आधार बनाने के लिए कोई अन्य सामग्री नहीं थी और इन परिस्थितियों में उच्चतम न्यायालय ने यह अभिनिर्धारित किया था कि उस मामले में अन्वेषण विधि के प्राधिकार के बिना था और यह कि वह विनिश्चय इस आत्यंतिक प्रतिपादना के लिए कोई नजीर नहीं था कि यदि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अपराध के अंगों को प्रकट नहीं करती हैं तो भी अपराध के किए जाने के बारे में संदेह करने के लिए अन्य सामग्री थी तो पुलिस को अन्वेषण करने की कोई शक्ति नहीं है। उन्होंने इस बात को कायम रखा कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट के अभाव में भी यदि पुलिस किसी व्यक्ति के बारे में किसी अपराध के किए जाने के बारे में संदेह करने की पर्याप्त जानकारी रखती है तो उन्हें अन्वेषण करने की शक्ति है। इस दलील के समर्थन में विद्वान काउन्सेल ने स्वयं संहिता की धारा 157 की भाषा का अवलम्ब लिया है। यह इस प्रकार है :—

"157. (1) यदि पुलिस थाने के भारसाधक अधिकारी को, इत्तिला प्राप्त होने पर या अन्यथा, यह सन्देह करने के कारण है कि ऐसा अपराध किया गया है जिसका अन्वेषण करने के लिए धारा 156 के अधीन वह सशक्त है तो वह उस अपराध की रिपोर्ट उस मजिस्ट्रेट को तत्काल भेजेगा जो ऐसे अपराध का पुलिस रिपोर्ट पर संज्ञान करने के लिए सशक्त है और मामले के तथ्यों और परिस्थितियों का अन्वेषण करने के लिए, और यदि आवश्यक हो तो अपराधी का पता चलाने और उसकी गिरफ्तारी के उपाय करने के लिए, उस स्थान पर या तो स्वयं जाएगा या अपने अधींनस्थ अधिकारियों में से एक को भेजेगा जो ऐसी पंक्ति से निम्नतर पंक्ति का न होगा जिसे राज्य सरकार साधारण या विशेष आदेश द्वारा इस निमित्त विहित करे। (अधो रेखांकन मेरे द्वारा किया गया)

विद्वान् काउन्सेल ने धारा में "अन्यथा" शब्द पर जोर दिया और **उत्तर प्रदेश राज्य** बनाम **भगवन्त किशोर**[1] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय के निर्णय का अवलम्ब लिया। उक्त निर्णय का सुसंगत भाग इस प्रकार है :—

"......यद्यपि सामान्यत: अन्वेषण पुलिस अधिकारी द्वारा सूचना प्राप्त करने पर किया जाता है किन्तु अन्वेषण के लिए सूचना की प्राप्ति कोई पुरोभाव्य शर्त नहीं है। ऐसे अन्वेषण, जो कि किसी सूचना या अन्यथा प्रारम्भ किया जा सकता है, के मामले में धारा 157 में प्रक्रिया विहित की गई है। उक्त उपबन्धों से यह स्पष्ट है कि किसी पुलिस थाने का प्रभारी अधिकारी या तो सूचना के आधार पर या अन्यथा अन्वेषण प्रारम्भ कर सकता है।" (अधो रेखांकन मेरे द्वारा किया गया)

विद्वान काउन्सेस ने इस बात की ओर संकेत किया कि उपर्युक्त निर्णय **अपर्ण जोजेफ** बनाम **केरल राज्य**[2] वाले मामले में उच्चतम न्यायालय द्वारा पुनः दोहराया गया था। उक्त विनिश्चय का अवलम्ब लेते हुए विद्वान काउन्सेस ने यह तर्क दिया कि यदि पुलिस के पास कोई ऐसी सूचना है, जिससे अपराध के किए जाने के बारे में संदेह का आधार गठित होता है, तो उन्हें इस तथ्य के होते

---

[1] ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 221.

[2] ए० आई० आर० 1973 एस० सी० 1.

हुए भी अन्वेषण करने का प्राधिकार है कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट अपूर्ण है या त्रुटिपूर्ण है।

13. प्रत्यर्थियों के विद्वान काउन्सेल द्वारा दी गई दलील में काफी बल है। किन्तु मेरे लिए और विस्तार से उसकी परीक्षा करना अनावश्यक है और इस कारण से अन्तिम राय अभिव्यक्त करना अनावश्यक है कि प्रस्तुत मामले में मैं इस निष्कर्ष पर पहुंचा हूं कि प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में अपराध के सभी संघटक अंतर्विष्ट हैं और इसलिए अन्वेषण विधि के अनुसार है।

14. पिटीशनर के विद्वान काउन्सेल ने एक अन्य जोरदार दलील अर्थात् यह दी कि अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन किसी अपराध का अन्वेषण पुलिस उप अधीक्षक की पंक्ति से ऊपर के अधिकारी द्वारा ही किया जा सकता था और अधिनियम की धारा 5-क(1) में विनिर्दिष्ट पंक्ति का अधिकारी ही अन्वेषण कर सकता था यदि उसे पुलिस अधीक्षक के आदेश द्वारा प्राधिकृत किया गया था और ऐसा कोई प्राधिकार पूर्वतर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट में प्रकट नहीं किया गया है।

15. यह सच है कि अधिनियम की धारा 5-क(1) के द्वितीय परन्तुक की दृष्टि से किसी लोक सेवक के विरुद्ध अधिनियम की धारा 5(1)(ङ) के अधीन अपराध का पुलिस अधीक्षक की पंक्ति के किसी अधिकारी द्वारा और पुलिस अधीक्षक से ऊपर की पंक्ति के अधिकारी द्वारा अन्वेषण किया जा सकता है और यदि पुलिस अधीक्षक के आदेश द्वारा प्राधिकृत किया जाता है तो केवल पुलिस उप-अधीक्षक द्वारा अन्वेषण किया जा सकता है। यह सच है कि पूर्वतर प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (उपा० क) इस बात के प्रति संकेत नहीं करती है कि क्या अन्वेषण ऐसे प्राधिकारी को सौंपा गया था, जो अन्वेषण करने के लिए सक्षम था। किन्तु यह प्रश्न विधा सम्बन्धी है क्योंकि द्वितीय प्रथम इत्तिला रिपोर्ट (उपा० ग), जिसकी विषय-वस्तु पूर्वतः उद्धृत की गई है, पुलिस अधीक्षक के आदेश द्वारा पुलिस उप-अधीक्षक को विनिर्दिष्ट रूप से अन्वेषण करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। इसको ध्यान में रखते हुए इस दलील में कोई बल नहीं है।

16. परिणामतः, मैं पिटीशन में कोई गुणागुण नहीं पाता हूं और निम्नलिखित आदेश करता हूं—

(i) पिटीशन खारिज किया जाता है।

(ii) खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं दिया जाता है।

केन्द्रीय सरकार के स्थायी काउन्सेल को दो सप्ताह के अन्दर प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से हाजिर होने के लिए ज्ञापन फाइल करने की अनुज्ञा दी जाती है।

पिटीशन खारिज किया गया।

चन्द/श०

नि० प० 1984 : कर्नाटक—22

मैसर्स राघवेन्द्र एण्ड कम्पनी बनाम कर्नाटक राज्य

(M/s. Sri Raghavendra & Company *Vs.* The State of Karnataka)

तारीख 14 जुलाई, 1983

[न्या० के० एस० पुत्तास्वामी]

कर्नाटक उत्पाद-शुल्क (शराब की फुटकर बिक्री के संबंध में पट्टा-अधिकार) नियम, 1969 (सपठित कर्नाटक उत्पाद-शुल्क अधिनियम, 1965)—नियम 15—सरकार नीलाम विक्रय की पुष्टि से इन्कार अन्य बातों के साथ-साथ इस आधार पर भी कर सकती है कि ऐसी पुष्टि से राजस्व की हानि होगी।

शब्द और पद—'एण्ड' (और) शब्द की प्रकृति—साधारणतया यह "संयोजक" के रूप में प्रयुक्त किया जाता है—परन्तु विधानमण्डल के आशय की पूर्ति के लिए इसका "वियोजक" के रूप में प्रयोग किया जा सकता है।

कर्नाटक उत्पाद-शुल्क आयुक्त, बंगलौर ने कर्नाटक उत्पाद-शुल्क अधिनियम, 1955 और कर्नाटक उत्पाद-शुल्क (शराब की फुटकर बिक्री के संबंध में पट्टा अधिकार) नियम, 1969 के उपबन्धों के अनुसार कर्नाटक राजपत्र में दिनांक 13-4-1983 को प्रकाशित एक अधिसूचना में अधिसूचित किया कि 30-4-1983 को उपायुक्त, जिला मैसूर, मैसूर (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् उपायुक्त कहा गया है) द्वारा तालुक पैरिया-पटना, मैसूर जिले में 1-7-1983 से 30-6-1984 तक के लिए ताड़ी की फुटकर बिक्री के अधिकार का सार्वजनिक रूप से नीलाम किया जाएगा। उस रोज हुए सार्वजनिक नीलाम में पिटीशनर, प्रत्यर्थी सं० 3 और अन्य उपयुक्त बोली देने वालों ने भाग लिया। इसमें पूर्वकथित ने 2,37,200 रुपये प्रतिमास की सबसे अधिक

बोली लगायी। जैसा कि नियमों द्वारा अपेक्षित है पिटीशनर द्वारा एक माह का किराया तुरन्त संदत्त किए जाने पर उपायुक्त ने उच्चतम बोली स्वीकार कर ली तथा नियमों के नियम 15 के अधीन कागजात को सरकार की पुष्टि के लिए आयुक्त को भेज दिए। पुष्टि की कार्यवाहियों के लम्बित रहने के दौरान ही प्रत्यर्थी संख्या 3 ने पिटीशनर से अधिक बोली की पेशकश करते हुए अधिनियम के अधीन एक पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया और यह निवेदन किया कि उसे तालुका में ताड़ी की फुटकर बिक्री का अधिकार उच्चतर दर पर दे दिया जाए। उत्पाद-शुल्क मंत्री ने 24-6-1983 को पिटीशनर तथा प्रत्यर्थी सं० 3 की सुनवाई की और बोली की पुष्टि से इन्कार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि पिटीशनर द्वारा दी गई बोली की पुष्टि करने से राजस्व की हानि होगी और यह निदेश दिया कि नीलामी फिर से की जाए। दुबारा नीलामी होने पर प्रत्यर्थी सं० 3 को पट्टाधिकार दे दिया गया। इससे व्यथित होकर पिटीशनर ने यह रिट पिटीशन फाइल किया है।

अभिनिर्धारित—रिट पिटीशन खारिज किया गया।

नीलाम विक्रय होने पर और उपायुक्त द्वारा अनन्तिम रूप से उच्चतम बोली को स्वीकार किया जाना सरकार द्वारा नियमों के नियम 15 के अधीन पुष्टि के अध्यधीन है। किन्तु सरकार को पुष्टि की शक्ति, जिसमें विवक्षित रूप से पुष्टि न करने की शक्ति भी है, नियमों द्वारा अभिव्यक्ततः प्रदत्त की गई है। सरकार द्वारा पुष्टि के अभाव में और नियमों के नियम 16 के अधीन पट्टा-करार के अभाव में उच्चतम बोली लगाने वाला अधिनियम और नियमों के अधीन शराब बेचने का हकदार नहीं बन जाता। (पैरा 14)

'राजस्व की हानि' एक ऐसा तथ्य है जिस आधार पर सुसंगत उत्पाद-शुल्क विधि के अधीन सक्षम प्राधिकारी आबकारी के नीलाम बिक्रय की पुष्टि से इंकार कर सकता है और दुबारा नीलामी का आदेश दे सकता है। उन सभी मामलों में उच्चतम न्यायालय के विनिर्णयों के विनिश्चयाधारों के अनुसार यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि सरकार का आक्षेपित आदेश किसी प्रकार की अधिकारिता की भूल या अवैधता से ग्रस्त है जो संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस न्यायालय के हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराती हो। (पैरा 18)

नियमों के उपनियम 15(1) में अपेक्षा की गई है कि उपायुक्त या खण्ड आयुक्त, जो नीलाम विक्रय का संचालन करता है, अभिलेखों को उत्पाद-शुल्क आयुक्त के माध्यम से सरकार की पुष्टि के लिए भेजेगा। उप-नियम (2)

सरकार को इस बात के लिए सशक्त करता है कि वह अभिलेखों पर विचार करने के पश्चात् तथा राजस्व के हित को ध्यान में रखते हुए नीलामी की पुष्टि कर दे या इससे इन्कार कर दे। "अभिलेख पर विचार करने के पश्चात्" के प्रति निर्देश करने वाले इस उपनियम के प्रथम भाग से प्रत्यक्ष रूप से यह अभिप्रेत है कि सरकार का यह समाधान हो जाना चाहिए कि यथास्थिति, या तो उपायुक्त द्वारा या खण्ड-आयुक्त द्वारा संचालित नीलाम विक्रय की कार्यवाहियों में किसी भी प्रकार की अवैधता या असाध्य अनियमितता नहीं हुई थी। नियम के द्वितीय भाग में सरकार से यह अपेक्षा की गई है कि उसका यह समाधान हो जाना चाहिए कि नीलाम विक्रय की पुष्टि से राजकोष को राजस्व की हानि नहीं होगी जो कि बहुत से कारणों से हो सकती है जिनका वर्णन सरकार द्वारा या इस न्यायालय द्वारा निःशेष रूप से नहीं किया जा सकता है। (पैरा 19)

नियमों के नियम 15(2) में प्रयुक्त "अभिलेख पर विचार करने पर" और "राजस्व के हित में" शब्दों के बीच में "और" शब्द का प्रयोग किया गया है। साधारणतया "और" शब्द का संयोजक के रूप में प्रयोग किया जाता है। परन्तु इससे विनिश्चायक रूप से यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उसे केवल संयोजक के रूप में प्रयोग किया गया है। इस बात का पता लगाने के लिए कि क्या "और" शब्द का प्रयोग संयोजक के रूप में या वियोजक के रूप में किया गया है, यह आवश्यक है कि न्यायालय विधायन की योजना और उद्देश्य को ध्यान में रखे। न्यायालय को ऐसा अर्थान्वयन नहीं करना चाहिए जिससे विधायन का उद्देश्य ही असफल हो जाए बल्कि उससे विधायन का उद्देश्य अग्रसर हो। (पैरा 20)

		पैरा
[1975]	ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1121 : हर शंकर और अन्य **बनाम** उत्पाद-शुल्क और कराधान उपायुक्त और अन्य (Har Shankar and others *Vs.* Dy. Excise and Taxation Commissioner and others);	10, 18
[1972]	ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1816 : उड़ीसा राज्य और अन्य **बनाम** हरीनारायण जायसवाल और अन्य (The State of Orissa and others *Vs.* Harinarayan Jaiswal and others);	10, 18

[1954]	ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 592 : गुरूस्वामी बनाम मैसूर राज्य और अन्य (Guruswamy *Vs.* The State of Mysore & Others)	18

का अवलम्ब लिया।

[1979]	ए० आई० आर० 1979 कर्नाटक 15 : मुलंगप्पा बनाम कर्नाटक राज्य (Moolanagappa *Vs.* The State of Karnataka);	10, 24
[1968]	ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1450 पृष्ठ 1454 : ईश्वर सिंह बिंदरा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य (Ishwar Singh Bindra *Vs.* State of Uttar Pradesh);	21
[1937]	1937 (1) के० बी० 305 : आर० वी० ब्रिक्सटन प्रिज़न गवर्नर वाला मामला (In Re. R. V. Brixton Prison Governor)	21

निर्दिष्ट किए गए।

आरम्भिक (सिविल रिट) अधिकारिता : 1983 का रिट पिटीशन संख्या 11601.

संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन रिट पिटीशन।

पिटीशनर की ओर से ... श्री एन० संतोष हेगडे

प्रत्यर्थियों की ओर से ... सर्वश्री एम० आर० अचार और ए० जगन्नाथ शेट्टी

न्या० के० एम० पुत्तास्वामी :

भारत के सविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन शपथपत्र पर यह रिट पिटीशन इस आशय की प्रार्थना करते हुए फाइल किया गया है कि सरकार के 24-6-1983 के आदेश (उपाबंध-क) को अभिखण्डित कर दिया जाए।

इस पिटीशन की सुनवाई 30-6-1983 को की गई और न्यायालय ने इसको खारिज करते हुए निम्नलिखित आदेश दिया था।

आदेश

1. 30-6-1983 को मैंने इस मामले की पूरी तरह से सुनवाई की थी

और उसमें वर्णित अपरिहार्य और अप्रतिरोध्य परिस्थितियों में रिट पिटीशन को खारिज करते हुए संक्षिप्त आदेश पारित किया था। अब मैं रिट पिटीशन को खारिज किए जाने के कारणों का उल्लेख करूंगा।

2. कर्नाटक उत्पाद-आयुक्त, बंगलौर (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् आयुक्त कहा गया है) ने कर्नाटक उत्पाद शुल्क अधिनियम, 1965 (1966 का कर्नाटक अधिनियम संख्या 21) (जिसे इसमें इसके पश्चात् अधिनियम कहा गया है) और कर्नाटक उत्पाद शुल्क (शराब की फुटकर बिक्री के संबंध में पट्टा-अधिकार) नियम, 1969 (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् नियम कहा गया है) के उपबन्धों के अनुसार कर्नाटक राजपत्र में दिनांक 13-4-1983 को प्रकाशित एक अधिसूचना में अधिसूचित किया कि 30-4-1983 को उपायुक्त, जिला मैसूर, मैसूर (जिन्हें इसमें इसके पश्चात् उपायुक्त कहा गया है) द्वारा तालुक पैरियापटना, मैसूर जिले में 1-7-1983 से 30-6-1984 तक के लिए ताड़ी की फुटकर बिक्री के अधिकार का सार्वजनिक रूप से नीलाम किया जाएगा। उस रोज हुए सार्वजनिक नीलाम में पिटीशनर, प्रत्यर्थी संख्या 3 और अन्य उपयुक्त बोली देने वालों ने भाग लिया। इसमें पूर्वकथित ने 2,37,200.00 रुपये प्रतिमास की सबसे अधिक बोली लगाई। जैसा कि नियमों द्वारा अपेक्षित है। पिटीशनर द्वारा एक माह का किराया तुरंत संदत्त किए जाने पर उपायुक्त ने उच्चतम बोली स्वीकार कर ली तथा नियमों के नियम 15 के अधीन कागजात सरकार की पुष्टि के लिए आयुक्त को भेज दिए।

3. पुष्टि की कार्यवाहियों के लम्बित रहने के दौरान ही प्रत्यर्थी संख्या 3 ने पिटीशनर से अधिक बोली की प्रस्थापना करते हुए अधिनियम के अधीन एक पुनरीक्षण पिटीशन फाइल किया और यह निवेदन किया कि उसे तालुक में ताड़ी की फुटकर बिक्री का अधिकार उच्चतर दर पर दे दिया जाए। उत्पाद मंत्री ने 24-6-1983 को पिटीशनर तथा प्रत्यर्थी सं० 3 की सुनवाई की और बोली की पुष्टि से इन्कार करते हुए यह मत व्यक्त किया कि पिटीशनर द्वारा दी गई बोली की पुष्टि करने से राजस्व की हानि होगी और यह निदेश दिया कि नीलामी फिर से की जाए। इसी के अनुसार नीलामी की बोली की पुष्टि से इनकार करते हुए सरकार ने 24-6-1983 को आदेश सं० एच० डी० 186 ई० डी० सी० 83 (उपाबंध-क) जारी किया। सरकार के उक्त आदेश के अनुसरण में आयुक्त ने दिनांक 24-6-83 वाली एक अधिसूचना (उपाबंध-ख) संख्या ई० एक्स० ई०, ई० एक्स० एस० 1.14/83-84 जो 25-6-83 को असाधारण

राजपत्र में प्रकाशित हुई थी, यह प्रस्ताव करते हुए जारी की कि पैरियापटना तालुक में ताड़ी की फुटकर बिक्री के अधिकार की फिर से नीलामी 28-6-1983 को पूर्वाह्न 10 बजे होगी। पिटीशनर ने संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस पिटीशन में (उपाबंध-क) सरकार के दिनांक 24-6-1983 वाले आदेश को तथा इसके पश्चात् आयुक्त द्वारा उसी तारीख को जारी की गई अधिसूचना (उपाबंध-ख) को चुनौती दी है ।

4. न्यायालय ने 27-6-1983 को प्रारम्भिक आदेश देते समय दुबारा नीलामी को रोकने का आदेश नहीं दिया बल्कि उसी दिन दिए गए एक अंतरिम आदेश में अनुध्यात निबन्धनों और शर्तों के अनुसार नीलामी किये जाने की आज्ञा दे दी। इसी के अनुसार 28-6-1983 को नीलामी फिर से की गई। इसमें पिटीशनर और प्रत्यर्थी सं० 3 ने फिर भाग लिया। दुबारा की गई नीलामी में प्रत्यर्थी सं० 3 ने 2,81,100.00 रुपये की उच्चतम बोली लगाई। परिणाम-स्वरूप 43,900.00 रुपये प्रति माह या सम्पूर्ण वर्ष के लिए 5,26,800.00 रुपये की वृद्धि हुई। 30-6-1983 को रिट पिटीशन की खारिजी के आदेश के साथ ही प्रत्यर्थी सं० 3 को पैरियापटना तालुक में 2,81,100 रुपये प्रति माह पर ताड़ी की फुटकर बिक्री का अधिकार देने में बाधा, यदि कोई थी, समाप्त कर दी गई थी।

5. पिटीशन में पिटीशनर ने आदेश को इस आधार पर चुनौती दी थी कि वह असद्भाव से दूषित है। मेरे विचार से श्री एन० संतोष हेगडे के न्यायालय में प्रत्यर्थियों द्वारा फाइल किए गए आक्षेपों के कथन को ध्यान में रखते हुए पिटीशनर के विद्वान् काउन्सेल ने आदेश को असद्भाव के कारण दूषित हो जाने के आधार पर चुनौती न देकर ठीक ही किया है। इस दृष्टिकोण से पिटीशनर द्वारा उठाए गए "असद्भावना" के प्रश्न पर पक्षकारों की दलीलों को उपवर्णित करना या उन पर विचार करना आवश्यक नहीं है।

6. पिटीशनर ने यह अभिकथन किया कि 30-4-1983 वाली नीलाम-कार्यवाहियां अधिनियम और नियमों के अनुसार की गई थीं और उन कार्यवाहियों में किसी प्रकार की अवैधता या अनियमितता नहीं हुई थी। उस नीलामी में प्रत्यर्थी सं० 3 ने उस नीलामी में उससे उच्चतर बोली नहीं लगाई थी यद्यपि उसने बाद में आयुक्त और सरकार के सम्मुख असत्य और गलत अभिकथन करते हुए इसे चुनौती दी है। इस तथ्य के होते हुए भी कि दुबारा नीलामी में प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा दी गई बोली से राजस्व में वृद्धि होगी पिटीशनर ने यह आग्रह किया कि वह अधिकारतः पुष्टि का हकदार है।

7. सरकार द्वारा दिए गए आक्षेपित आदेश और इस संबंध में आयुक्त द्वारा जारी की गई अधिसूचना को न्यायोचित ठहराने के लिए प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 ने यह स्वीकार किया कि 30-4-1983 वाली नीलाम कार्यवाहियां अधिनियम और नियमों के अनुसार की गई थीं और उनमें किसी प्रकार की अवैधता या अनियमितता नहीं थी और पिटीशनर ने सबसे अधिक बोली लगाई थी। लेकिन प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 ने फिर भी इस बात पर बल दिया है कि पिटीशनर द्वारा दी गई बोली को स्वीकार करने से राजस्व की हानि होती और यह बात दुबारा की गई नीलामी से सिद्ध हो गई है। इसलिए सरकार द्वारा पुष्टि न किए जाने का आदेश न्यायोचित था।

8. प्रत्यर्थी सं० 3 ने अलग उत्तर में सरकार के आदेश और आयुक्त द्वारा जारी की गई अधिसूचना का समर्थन किया है। प्रत्यर्थी सं० 3 ने प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 का समर्थन करते हुए यह अभिकथन भी किया कि 30-4-1983 को किया गया नीलाम विक्रय अधिनियम और नियमों के अनुरूप नहीं था।

9. श्री हेगडे ने यह दलील दी कि जब सरकार को 30-4-1983 को किए गए नीलाम विक्रय में किसी प्रकार की अवैधता या अनियमितता प्रतीत नहीं हुई तो नियमों के नियम 15 के उपबंधों के अनुसार प्रत्यर्थी सं० 3 द्वारा बाद में लगाई गई उच्चतर बोली के होते हुए भी वह पिटीशनर के हक पक्ष में नीलाम विक्रय की पुष्टि के लिए बाध्य थी।

10. प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 की ओर से उपस्थित होने वाले सरकारी अधिवक्ता श्री एम० आर० अचार ने यह दलील दी कि राजस्व की हानि होगी या राजस्व की हानि की संभावना है जो बात दुबारा की गई नीलामी से सत्य हो गयी है और यह एक ऐसा आधार है जिसमें सरकार नियमों के नियम 15 के अधीन विक्रय की पुष्टि से इनकार कर सकती है। श्री अचार ने अपनी दलील के समर्थन में उच्चतम न्यायालय के **उड़ीसा राज्य और अन्य** बनाम **हरिनारायण जायसवाल और अन्य**[1], **हर शंकर और अन्य** बनाम **उत्पाद शुल्क और कराधान उपायुक्त और अन्य**[2] और मेरे द्वारा **मुलंगप्पा** बनाम **कर्नाटक राज्य**[3] वाले मामले में दिए गए विनिश्चय पर बहुत बल दिया।

11. प्रत्यर्थी सं० 3 के विद्वान् काउन्सेल श्री ए० जगन्नाथ शेट्टी ने श्री अचार का समर्थन किया।

---

[1] ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1816.

[2] ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1121.

[3] ए० आई० आर० 1979 कर्नाटक 15.

12. प्रत्यर्थी सं० 1 और 2 ने, जो मुख्यतः इससे संबंधित थे, पिटीशनर के इस अभिकथन पर विवाद नहीं किया कि 30-4-1983 को किए गए नीलाम विक्रय की कार्यवाहियां अधिनियम और नियम के अनुसार थीं और उस नीलामी में उसने उच्चतम बोली लगाई थी और प्रत्यर्थी सं० 3 ने, जिसने इस नीलामी में भाग भी लिया था, उससे कम बोली लगाई थी, और जैसा कि नियमों में अपेक्षित हैं उसी समय एक माह का किराया संदत्त करने पर उपायुक्त ने अनन्तिम रूप से उसे स्वीकार कर लिया था और सरकार से उसको स्वीकार करने की सिफारिश की थी। इस दृष्टिकोण से न्यायालय पिटीशनर की इन सभी दलीलों को स्वीकार करके उसके मामले की इन्हीं आधारों पर परीक्षा करेगा। मेरे विचार से सुनवाई के दौरान भी श्री अचार ने पिटीशनर की इन दलीलों को सही होने के संबंध में ठीक ही कोई विवाद नहीं किया है।

13. नीलाम विक्रय की कार्यवाहियों की वैधता या अवैधता पर प्रत्यर्थी सं० 3 के, जिसने स्पष्ट रूप से नीलामी में भाग लेते समय उच्चतर बोली नहीं लगाई थी परन्तु जिसने बाद में उसे अविधिमान्य कराने के लिए उच्चतर बोली लगाई और नीलामी करवाने वाले अधिकारियों के विरुद्ध अविवेचित अभिकथनों को सत्य और सही नहीं माना जा सकता। इससे यह निष्कर्ष निकलता है कि 30-4-1983 को की गई नीलाम विक्रय अधिनियम और नियमों के अनुरूप था और उस नीलाम में पिटीशनर ने उच्चतम बोली लगाई थी और उसके द्वारा एक माह का किराया दिए जाने की अपेक्षा को पूरा करने पर, उपायुक्त द्वारा उसको अनन्तिम रूप से स्वीकार करने तथा सरकार से उसे स्वीकार करने की सिफारिश वैध तथा विधिमान्य थी।

14. नीलाम विक्रय होने पर और उपायुक्त द्वारा अनन्तिम रूप से उच्चतम बोली को स्वीकार किया जाना सरकार द्वारा नियमों के नियम 15 के अधीन पुष्टि के अध्यधीन है किन्तु सरकार को पुष्टि की शक्ति, जिसमें विवक्षित रूप से पुष्टि न करने की शक्ति भी है, नियमों द्वारा अभिव्यक्ततः प्रदत्त की गई है। सरकार द्वारा पुष्टि के अभाव में और नियमों के नियम 16 के अधीन पट्टा-करार के अभाव में उच्चतम बोली लगाने वाला अधिनियम और नियमों के अधीन शराब बेचने का हकदार नहीं बन जाता।

15. सरकार ने आक्षेपित आदेश में केवल एक ही कारण यह दिया कि पुष्टि के परिणामस्वरूप सरकार को राजस्व की हानि होगी। उत्पाद शुल्क मंत्री ने अपने 24-6-1983 वाले आदेश में, जिसके आधार पर आक्षेपित आदेश/अधिसूचना जारी की गई है, दो कारण दिए हैं, अर्थात् (i) प्रत्यर्थी सं०3

द्वारा बाद में किया गया प्रस्ताव सद्भावपूर्ण था, और (ii) पिटीशनर द्वारा लगाई गई उच्चतम बोली को स्वीकार करने से सरकार को राजस्व की हानि होगी।

16. मैंने इसके पूर्व यह अभिनिर्धारित किया है कि वह नीलाम विक्रय जिसमें पिटीशनर ने उच्चतम बोली लगाई थी और उसके द्वारा एक माह का किराया दिए जाने पर उपायुक्त ने उसे अनन्तिम रूप से ठीक ही स्वीकार किया था, अधिनियम और नियमों के अनुसार हुआ था। इस प्रक्रम पर यह अवेक्षा करना भी सुसंगत होगा कि प्रत्यर्थी सं० 3 ने भी, जिसने पहले दो लाख रुपये में ठेका लिया था, नीलामी विक्रय में भाग लिया था और उच्चतर बोली नहीं लगाई थी। इसमें कोई संदेह नहीं है कि प्रत्यर्थी सं० 3 पिटीशनर को सार्वजनिक नीलामी में मात नहीं दे सका था और अब कार्यवाही की समाप्ति पर विलम्ब से उच्चतर बोली का प्रलोभन देकर नीलामी की कार्यवाहियों पर कीचड़ उछाल कर बेकार का हो-हल्ला मचा रहा है। इन परिस्थितियों में मंत्री के निष्कर्ष पर बिना किसी प्रकार का वाद-विवाद करते हुए यह कहना कठिन है कि प्रत्यर्थी सं० 3 का प्रस्ताव सद्भावपूर्वक था परन्तु अफसोस इस बात का है कि मैं जिस भिन्न निष्कर्ष पर पहुंचा हूं वह आक्षेपित आदेश को अविधिमान्य ठहराने में पिटीशनर की सहायता नहीं कर सकता।

17. मंत्री द्वारा दिया गया दूसरा कारण, जो कि आक्षेपित आदेश में समाविष्ट है, यह है कि इससे राजकोष को राजस्व की हानि होगी। यद्यपि मंत्री का यह निष्कर्ष प्रत्यर्थी सं० 3 के प्रस्ताव पर आधारित था, तो भी यह ऐसा तथ्य था जिस पर नियमों के नियम 15 के अधीन विधिसंगत रूप से विचार किया जा सकता था। मुख्यतः सरकार को यह विनिश्चित करना था कि क्या पुष्टि के परिणामस्वरूप राजस्व की हानि होगी। तथापि सरकार के इन निष्कर्षों की शुद्धता बाद वाली घटनाओं से साबित हो गई है।

18. उच्चतम न्यायालय ने **गुरुस्वामी** बनाम **मैसूर राज्य** और अन्य[1] वाले पहले मुख्य मामले से लेकर और उसके पश्चात् विनिश्चित सभी मामलों, विशेष रूप से **हरिनारायण जायसवाल**[2] और **हर शंकर**[3] वाले मामले में यह विनिर्णय किया था कि 'राजस्व की हानि' एक ऐसा तथ्य है जिस आधार पर सुसंगत उत्पाद-शुल्क विधि के अधीन सक्षम प्राधिकारी आबकारी के नीलाम

---

1 ए० आई० आर० 1954 एस० सी० 592.

2 ए० आई० आर० 1972 एस० सी० 1816.

3 ए० आई० आर० 1975 एस० सी० 1121.

विक्रय की पुष्टि से इन्कार कर सकता है और दुबारा नीलामी का आदेश दे सकता है। उन सभी मामलों में उच्चतम न्यायालय के विनिर्णयों के विनिश्चयाधारों के अनुसार यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि सरकार द्वारा किए गए आक्षेपित आदेश में किसी प्रकार की अधिकारिता की भूल है या वह ऐसी अवैधता से ग्रस्त है जो संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन इस न्यायालय के हस्तक्षेप को न्यायोचित ठहराती हो।

19. नियमों का नियम 15, जिसका पिटीशनर के मामले का समर्थन करने के लिए बहुत अधिक अवलम्ब लिया गया है निम्न प्रकार है :—

*"पुष्टीकरण—(1) जब उपायुक्त या खण्ड-आयुक्त किसी निविदा, प्रस्थापना या बोली को अनन्तिम रूप से स्वीकार कर लेता है, तब वह इस निमित्त की गई कार्यवाहियों का अभिलेख तुरंत उत्पाद-शुल्क आयुक्त के माध्यम से राज्य सरकार को पुष्टि के लिए भेजेगा।

(2) उपनियम (1) के अधीन दिए गए अभिलेख पर विचार करने के पश्चात् और राजस्व के हित को ध्यान में रखते हुए राज्य सरकार शराब की फुटकर बिक्री के अधिकार के व्ययन की पुष्टि कर सकती है या उसकी पुष्टि से इन्कार कर सकती है। संबंधित व्यक्ति को आदेशों की संसूचना तुरंत दे दी जाएगी।"

इस नियम के उपनियम (1) में अपेक्षा की गई है कि उपायुक्त या खण्ड आयुक्त, जो नीलाम विक्रय का संचालन करता है, अभिलेखों को उत्पाद-शुल्क

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"Confirmation—(1) Whenever the Deputy Commissioner or the Divisional Commissioner has accepted provisionally a tender, offer or bid he shall, forthwith submit to the State Government through the Excise Commissioner the records of the proceedings conducted by him for confirmation.

(2) The State Government shall, on a consideration of the records under sub-rule (1), and the interest of revenue pass an order confirming the disposal of the right to retail vend of liquor or refusing to confirm it. The order shall forthwith be communicated to the person concerned."

आयुक्त के माध्यम से सरकार की पुष्टि के लिए भेजेगा। उप-नियम (2) सरकार को इस बात के लिए सशक्त करता है कि वह अभिलेखों पर विचार करने के पश्चात् तथा राजस्व के हित को ध्यान में रखते हुए नीलामी की पुष्टि कर दे या इससे इंकार कर दे। "अभिलेख पर विचार करने के पश्चात्" के प्रति निर्देश करने वाले इस उप-नियम के प्रथम भाग से प्रत्यक्ष रूप से यह अभिप्रेत है कि सरकार का यह समाधान हो जाना चाहिए कि यथास्थिति, या तो उपायुक्त द्वारा या खण्ड-आयुक्त द्वारा संचालित नीलाम विक्रय की कार्यवाहियों में किसी भी प्रकार की अवैधता या असाध्य अनियमितता नहीं हुई थी। नियम के द्वितीय भाग में सरकार से यह अपेक्षा की गई है कि उसका यह समाधान हो जाना चाहिए कि नीलाम विक्रय की पुष्टि से राजकोष को राजस्व की हानि नहीं होगी जो कि बहुत से कारणों से हो सकती है जिनका वर्णन तो सरकार द्वारा या इस न्यायालय द्वारा निःशेष रूप से नहीं किया जा सकता है। क्या ये दोनों बातें साथ-साथ हों यह बहुत ही रुचिकर और नूतन प्रश्न इस मामले में विचारणीय है। जिस पर श्री हेगडे ने इस मामले में काफी जोर दिया है।

20. नियमों के नियम 15(2) में प्रयुक्त "अभिलेख पर विचार करने पर" और "राजस्व के हित में" शब्दों के बीच "और" शब्द का प्रयोग किया गया है। साधारणतया "और" शब्द का संयोजक के रूप में प्रयोग किया जाता है। परन्तु इससे विनिश्चायक रूप से यह अभिनिर्धारित नहीं किया जा सकता कि उसका केवल संयोजक के रूप में प्रयोग किया गया है। इस बात का पता लगाने के लिए क्या "और" शब्द का प्रयोग संयोजक के रूप में या वियोजक के रूप में किया गया है यह आवश्यक है कि न्यायालय विधान की योजना और उद्देश्य को ध्यान में रखे। न्यायालय को ऐसा अर्थान्वयन नहीं करना चाहिए जिससे विधायन का उद्देश्य ही असफल हो जाए बल्कि उससे विधायन का उद्देश्य अग्रसर हो।

21. उच्चतम न्यायालय ने **ईश्वर सिंह बिंदरा बनाम उत्तर प्रदेश राज्य**[1] वाले मामले में 1962 में इसके संशोधन से पूर्व औषधि अधिनियम, 1940 की धारा 3(ख)(i) में प्रयुक्त "और" शब्द का अर्थान्वयन वियोजक के रूप में किया गया था। **आर० वी० ब्रिक्सटन प्रिज़न गवर्नर**[2] वाले मामले में अपील न्यायालय ने डिसएबल्ड सोल्जर्स ऐक्ट, 1601 में प्रयुक्त "एण्ड"

---

[1] ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 1450 पृष्ठ 1454.

[2] 1937 (1) के० बी० 305.

(और) शब्द का अर्थान्वयन वियोजक के रूप में किया था। मैक्सवेल ने "इन्टरप्रिटेशन आफ स्टेच्यूट्स" नामक पुस्तक के 11वें संस्करण में इस प्रश्न पर यह कहा है :—

> "विधानमण्डल के आशय की पूर्ति के लिए बहुधा यह आवश्यक है कि संयोजक "ऑर" (या) और "एण्ड" (और) को एक दूसरे के लिए प्रयुक्त मानना पड़ता है।"

22. इस सिद्धांत को अपनाते हुए नियमों के नियम 15(2) में प्रयुक्त "एण्ड" (और) शब्द को केवल संयोजक ही नहीं मानना चाहिए बल्कि जैसा कि मामले की परिस्थितियां हों उसे संयोजक या वियोजक मानना चाहिए। किसी मामले में अवैधता, असाध्य अनियमितता और राजस्व की हानि, सभी बातें हो सकती हैं। ऐसी हालत में "एण्ड" (और) का अर्थ संयोजक के रूप में करना चाहिए परन्तु यदि मामला वर्तमान मामले के समान है तो नीलाम विक्रय में किसी प्रकार की अवैधता या अनियमितता नहीं हो सकती किन्तु राजस्व की हानि हो सकती है। ऐसी परिस्थिति में यह उचित होगा कि "एण्ड" (और) शब्द का निर्वचन वियोजक के रूप में किया जाए। जब राजस्व की हानि हो रही है या ऐसा होने की संभावना है तो चाहे निलाम विक्रय में किसी प्रकार की अवैधता या अनियमितता न भी हो सरकार नीलाम विक्रय की पुष्टि से इंकार कर सकती है।

23. वर्तमान मामले में आक्षेपित अधिसूचना में जो एकमात्र कारण या मंत्री जी द्वारा दिए गए कारणों में से एक कारण दिया गया है वह नियमों से सुसंगत है और यह न्यायालय उसमें हस्तक्षेप नहीं कर सकता।

24. **मुलंगप्पा**[1] वाले मामले में मैंने यह अभिनिर्धारित किया था कि इस न्यायालय द्वारा नियमों के नियम 15 के अधीन सरकार द्वारा दिए गए आदेश का न्यायिक पुनर्विलोकन नहीं किया जा सकता। परन्तु उस मामले में मेरे द्वारा किया गया कथन बहुत ही व्यापक और गलत भी प्रतीत होता है। उस मामले का निष्कर्ष न्यायोचित था। नियम 15 के अधीन सरकार के किसी आदेश का न्यायिक पुनर्विलोकन संविधान के अनुच्छेद 226 के अधीन किया जा सकता है। जब सरकार राजस्व की हानि को आधार बनाकर यह निश्चित करती है कि उसे नीलाम विक्रय की पुष्टि नहीं करनी चाहिए तो साधारणतया और किसी अप्रतिरोध्य परिस्थिति के अभाव में इस न्यायालय

---

[1] ए० आई० आर० 1979 कर्नाटक 15.

को यह स्वीकार कर लेना चाहिए। वर्तमान मामले में ऐसी कोई अप्रतिरोध्य परिस्थिति नहीं है जो इस न्यायालय के हस्तक्षेप योग्य हो। मैंने इस मामले का परीक्षण इस दृष्टिकोण से किया है न कि मुलंगप्पा[1] वाले मामले में कथित व्यापक प्रतिपादना के आधार पर।

25. उपर्युक्त विचार-विमर्श से यह निष्कर्ष निकलता है कि आक्षेपित आदेश में हस्तक्षेप करने के कोई भी आधार नहीं हैं। ये वही कारण हैं जिनके आधार पर मैंने इस रिट पिटीशन को 30-6-1983 को खारिज कर दिया था।

रिट पिटीशन खारिज किया गया।

खन्ना/श०

नि० प० 1984 : कर्नाटक—34

दि न्यू इण्डिया एश्योरेंस कं० लि० बनाम मुनिरेड्डी

(The New India Assurance Company Limited *Vs.* Munireddi)

तारीख 15 जुलाई, 1983

[न्या० जे० एन० सभाहित और न्या० आर० एस० महेन्द्र]

मोटर-यान अधिनियम, 1939 की धारा 103-क—यदि कोई व्यक्ति यान का अंतरण किसी अन्य व्यक्ति को करने का प्रस्ताव करता है और उसका आशय प्रस्तावित क्रेता के पक्ष में बीमा पालिसी को भी अंतरित करने का रहा होता है तो उसे विक्रय से पूर्व बीमा कंपनी से विहित प्ररूप में यह अनुरोध करना चाहिए कि वह बीमा पालिसी का अंतरण प्रस्तावित अंतरिती के पक्ष में कर दे क्योंकि यान का एक बार विक्रय होते ही मूल बीमाकर्त्ता पालिसी का धारक नहीं रहता और पालिसी व्यपगत हो जाती है तथा विक्रय के बाद पालिसी के अंतरण का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता।

जिला न्यायाधीश तथा सदस्य, मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण बंगलूर शहर ने 15 अप्रैल, 1980 को 1979 के प्रकीर्ण (मोयादा) मामला सं० 168

---

[1] ए० आ ० आर० 1979 कर्नाटक 15.

में यह निर्णय और अधिनिर्णय किया था कि प्रत्यर्थी सं० 2 से 4 प्रतिकर के रूप में 50,000 रुपये का संदाय करें।

प्रत्यर्थी इंश्योरेंस कंपनी ने यह कथन करते हुए इस निर्णय और अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील की थी कि वह प्रतिकर का संदाय करने के लिए बाध्य नहीं थी क्योंकि संबंधित यान निश्चित रूप से मूल बीमाकर्ता (मूल प्रत्यर्थी सं० 4) से पिटीशन के प्रत्यर्थी सं० 1 को दुर्घटना की तारीख से पहले अंतरित हो चुका था।

अधिकरण के समक्ष मूल प्रत्यर्थी सं० 4 की परीक्षा प्रत्यर्थी साक्षी सं०1 के रूप में की गई थी। अपनी मुख्य परीक्षा में उसने यह कथन किया था कि उसने अपनी लारी प्रत्यर्थी सं०1 को 8 दिसम्बर, 1978 को बेच दी थी और इस संबंध में क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी को जो फार्म प्रस्तुत किये जाने थे उन पर उसने उस समय हस्ताक्षर कर दिये थे जब वे कोरे थे। प्रत्यर्थी सं०1 बाद से पृथक् रहा था और उसने कठघरे में आकर साक्ष्य नहीं दिया था। दावाकर्ता की ओर से अपील में हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने बीमा कंपनी को प्रेषित एक पत्र, जिसमें यान के अंतरण की सूचना देते हुए कंपनी से क्रेता के पक्ष में बीमा पालिसी का अंतरण करने की ईप्सा की गई थी, न्यायालय में प्रस्तुत करने की ईप्सा करते हुये एक आवेदन किया था। उस आवेदन में भी स्पष्ट रूप से यह कथन किया गया था कि यान 8 दिसम्बर, 1978 को ही बेचा गया था। अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने तथाकथित दस्तावेज के पेश किए जाने के प्रति आपत्ति की थी। इन तथ्यों के परिप्रेक्ष्य में न्यायालय के विचारार्थ उद्भूत होने वाले मुद्दे निम्नलिखित थे :—

(i) क्या प्रत्यर्थी सं० 4 का प्रत्यर्थी सं० 1 के रूप में साक्ष्य ग्रहण किया जा सकता था,

(ii) क्या दस्तावेज ग्रहण की जा सकती थी, और

(iii) बीमा कंपनी की सहमति के बिना किए जाने वाले अंतरण का क्या विधिक परिणाम होता है?

अभिनिर्धारित—अपील मंजूर की गई।

इस न्यायालय को ऐसा कोई कारण नहीं दीखता जिसके आधार पर प्रत्यर्थी सं० 4 के साक्ष्य पर विश्वास न किया जाए और विशेष रूप से तब जब प्रत्यर्थी सं० 1 ने कठघरे में आकर साक्ष्य नहीं दिया है और वह अनुपस्थित रहा है। (पैरा 4)

चूंकि, न्यायालय अपीलार्थी की ओर से पेश की गयी दस्तावेज ग्रहण कर चुका है, अतः न्यायालय यह न्याय्य और उचित समझता है कि दावाकर्ता की ओर से पेश की गई दस्तावेज भी ग्रहण की जाए तथा उस दस्तावेज के बारे में अभिलेख में यह दर्ज किया जाए कि उसे दावाकर्ता ने पेश किया है। (पैरा 7)

इस मामले के तथ्यों से यह प्रकट होता है कि वास्तविक विक्रय 8 दिसम्बर, 1978 को हुआ है और यान के अंतरण के लिए आवेदन 2 जनवरी, 1979, अर्थात् दुर्घटना की तारीख, को किया गया है अतः यह आवेदन मोटर-यान अधिनियम की धारा 103-क के अनुरूप नहीं है। यदि इस आवेदन के बारे में तनिक भी यह सिद्ध हो जाता है कि यह विक्रय के बाद किया गया है और बीमा कंपनी को दुर्घटना की तारीख के बाद मिला है तो उस प्रक्रम पर पालिसी का अंतरण प्रत्यर्थी सं० 1 के नाम में करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि पालिसी विक्रय की तारीख, अर्थात् 8 दिसम्बर, 1978 को ही व्यपगत हो चुकी थी। (पैरा 11)

		पैरा
[1981]	(1981) 1 कर्नाटक ला जर्नल 245 : यूनाइटेड इंडिया फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंस कंपनी लि० **बनाम** चेनम्मा (United India Fire and General Insurance Company Limited *Vs.* Chenamma);	10
[1983]	1983 एक्सीडेंट्स क्लेम्ज जर्नल 349 (पंजाब और हरियाणा) : दि ओरियंटल फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंस कंपनी **बनाम** भगवन्त और अन्य (The Oriental Fire and General Insurance Company *Vs.* Bhagwant and others) से **प्रभेद** बताया गया।	12
[1964]	ए० आई० आर० 1964 एस० सी० 1736 : न्यू इंश्योरेंस कंपनी लिमिटेड **बनाम** पेस्सूमल घानामल अश्वनी और अन्य (New Insurance Company Limited *Vs.* Pessumal Ghanamal Aswani and others) **निर्दिष्ट** किया गया।	14

सिविल अपीली अधिकारिता : 1980 की प्रकीर्ण प्रथम अपील सं० 967.

जिला न्यायाधीश तथा सदस्य, मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण, बंगलूर शहर द्वारा अपने समक्ष 1979 के प्रकीर्ण (मोयादा) मामला सं० 168 में दिए गए तारीख 15 अप्रैल, 1980 के निर्णय और अधिनिर्णय के विरुद्ध अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री के० सूर्यनारायण राव, अधिवक्ता

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री बी० आर० ननजुनदैया, अधिवक्ता

न्यायालय का निर्णय न्या० जी० एन० सभाहित और न्या० आर० एस० महेन्द्र ने दिया।

न्या० सभाहित :

इंश्योरेंस कंपनी ने यह अपील जिला न्यायाधीश तथा सदस्य, मोटर दुर्घटना दावा अधिकरण बंगलूर शहर द्वारा तारीख 15-4-1980 को 1979 के प्रकीर्ण (मोयादा) मामला सं० 168 में दिए गए उस निर्णय और अधिनिर्णय के विरुद्ध की है जिसके द्वारा इस पिटीशन के प्रत्यर्थी सं० 2 से 4 से 50,000 रुपये प्रतिकर के रूप में दिए जाने का आदेश दिया गया है।

2. इंश्योरेंश कंपनी का पक्षकथन यह है कि वह प्रतिकर का संदाय करने के लिए दायी नहीं है क्योंकि संबंधित यान निश्चित रूप से मूल बीमाकर्ता जयशंकर (मूल प्रत्यर्थी सं० 4) से पिटीशन के प्रत्यर्थी सं० 1, अर्थात् कालेगौडा, को दुर्घटना की तारीख से पहले अंतरित हो चुका था।

3. तथापि अधिकरण ने यह अभिनिर्धारित किया था कि कोई दस्तावेजी साक्ष्य पेश न किए जाने के कारण कंपनी अपनी देयता से मुक्त नहीं की जा सकती थी। अधिनिर्णय के इसी अंश के विरुद्ध बीमा कंपनी ने इस न्यायालय के समक्ष यह अपील की है।

4. अधिकरण के समक्ष मूल प्रत्यर्थी सं० 4 की परीक्षा प्रत्यर्थी साक्षी 1 के रूप में की गई थी। अपनी मुख्य परीक्षा में उसने स्पष्ट रूप से यह कथन किया है कि उसने अपनी लारी, जिसकी रजिस्ट्रीकरण सं० 2369 है, प्रत्यर्थी सं० 1 कालेगौडा, को 8 दिसम्बर, 1978 को बेच दी थी। उसने यह भी कथन किया है कि उसने क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी को प्रस्तुत किए जाने वाले फार्मों पर उस समय हस्ताक्षर कर दिए थे जब वे कोरे थे। कालेगौडा ने कटघरे में आकर साक्ष्य नहीं दिया है। वह वाद से पृथक् रहा है। ऐसी स्थिति में अधिकरण का यह कर्त्तव्य था कि वह प्रत्यर्थी सं० 1 के साक्ष्य को स्वीकार

करता । इस न्यायालय को ऐसा कोई कारण नहीं दीखता जिसके आधार पर उसके साक्ष्य पर विश्वास न किया जाए और विशेष रूप से तब जब कालेगौडा ने कठघरे में आकर साक्ष्य नहीं दिया है ओर यह अनुपस्थित रहा है ।

5. अपीलार्थी ने अपील ज्ञापन के साथ 'बी' रजिस्टर का सार पेश किया है । यह अंतवर्ती आवेदन सं० II से संलग्न है । उसने रजिस्ट्रीकरण संबंधी विवरणों की प्रमाणित प्रतियां पेश की हैं । तथाकथित सार से यह स्पष्ट होगा कि रजिस्ट्रीकरण सं० एम० वाई० डी० 2369 वाला यान रजिस्ट्रीकरण प्रमाणपत्र में श्री कालेगौडा के नाम में 2 जनवरी, 1979 को अंतरित किया गया था । प्रमाणित प्रतिलिपि उपलभ्य न होने के कारण यह दस्तावेज अधिकरण के समक्ष पेश नहीं की जा सकी थी । अतः वह साक्ष्य में ग्रहण की जाती है । उससे प्रत्यर्थी सं० 4, जिसकी परीक्षा प्रत्यर्थी साक्षी-1 के रूप में की गई है, के इस साक्ष्य की संपुष्टि होती है कि उसने अपना यान 8 दिसम्बर, 1978 को बेचा था और उसके बाद, जब क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी को आवेदन प्रस्तुत किए गए थे, क्रेता का नाम 2 जनवरी, 1979 को दर्ज किया गया था ।

6. इसी संदर्भ में यह स्पष्ट किया जा सकता है कि मोटर यान का विक्रय माल विक्रय अधिनियम के अधीन हुआ है, मोटर यान अधिनियम के अधीन नहीं । क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी के अभिलेखों में किए जाने वाला रजिस्ट्रीकरण केवल साक्ष्य के आधार पर किया जाता है । यान का विक्रय क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी के कार्यालय में किए जाने वाले रजिस्ट्रीकरण के आधार पर नहीं किया जाता । यान का विक्रय 8 दिसम्बर, 1978 को हो गया था ।

7. यहां यह बात भी ध्यान देने योग्य है कि दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने इस अपील में आज एक आवेदन प्रस्तुत किया है । उसने बीमा कंपनी को प्रेषित एक पत्र प्रस्तुत करने की ईप्सा की है जिसमें यान के अंतरण की सूचना दी गई है और क्रेता के पक्ष में बीमा पालिसी के अंतरण की ईप्सा की गयी है । उसमें भी स्पष्ट रूप से यह कथन किया गया है कि तथाकथित यान 8 दिसम्बर, 1978 को ही बेचा गया था । यह सच है कि अपीलार्थी की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउन्सेल ने तथाकथित दस्तावेज के पेश किये जाने के प्रति आपत्ति की है । परंतु, चूंकि हम अपीलार्थी की ओर से पेश की गई दस्तावेज को ग्रहण कर चुके हैं अतः हम यह न्याय्य और उचित समझते हैं कि दावाकर्ता की ओर से पेश की गई दस्तावेज भी ग्रहण की जाए तथा उस दस्तावेज के बारे में अभिलेख में यह दर्ज किया जाए कि उसे दावाकर्ता ने पेश किया है । जैसा कि ऊपर बताया जा चुका है, इस

दस्तावेज से भी स्पष्ट रूप से यह सिद्ध होता है कि यान का विक्रय 8 दिसम्बर, 1978 को हुआ था।

8. हमारे विचारार्थ उत्पन्न होने वाला दूसरा मुद्दा यह है कि बीमा कंपनी की सहमति के बिना किये जाने वाले अंतरण का क्या विधिक परिणाम होता है ?

9. मोटर यान अधिनियम में धारा 103-क, जिसकी भाषा निम्नलिखित है, 1969 के अधिनियम सं० 56 द्वारा 1 अक्तूबर, 1970 को सन्निविष्ट की गई थी :—

> "103-क, **बीमा प्रमाणपत्र का अन्तरण :—**
>
> जब कोई व्यक्ति, जिसके पक्ष में इस अध्याय के उपबंधों के अनुसार बीमा प्रमाणपत्र दिया गया है, उस मोटर यान का स्वामित्व, जिसके लिए वह बीमा किया गया था, उससे संबंधित बीमा पालिसी सहित अन्य व्यक्ति को अंतरित करना चाहता है तब वह उस बीमा प्रमाणपत्र का और उस प्रमाणपत्र में वर्णित बीमा पालिसी का अंतरण उस व्यक्ति के पक्ष में करने के लिए, जिसे मोटर-यान अंतरित करने का विचार है, बीमाकर्ता को विहित प्ररूप में आवेदन कर सकेगा तथा यदि ऐसा आवेदन मिलने के 15 दिन के अंदर बीमाकर्ता उस प्रमाणपत्र और उस पालिसी को अन्य व्यक्ति को अंतरित करने से इनकार की सूचना बीमाकृत व्यक्ति और ऐसे अन्य व्यक्ति को नहीं दे देता तो बीमा प्रमाणपत्र और प्रमाणपत्र में वर्णित पालिसी के बारे में यह समझा जाएगा कि जिस व्यक्ति को मोटर यान अंतरित किया गया है वह उसके पक्ष में उस अंतरण की तारीख को अंतरित हो गई है।
>
> × × × ×"

10. इस प्रकार मोटर यान अधिनियम की धारा 103-क इस बात को बहुत ही स्पष्ट कर देती है कि यदि कोई व्यक्ति यान का अंतरण किसी अन्य व्यक्ति को करने का प्रस्ताव करता है और उसका आशय प्रस्तावित क्रेता के पक्ष में बीमा पालिसी को भी अंतरित करने का रहा होता है तो उसे बीमा प्रमाणपत्र और प्रमाणपत्र में वर्णित पालिसी के उस व्यक्ति के पक्ष में अंतरण के लिए विहित फार्म में बीमाकर्ता को आवेदन करना चाहिए जिसके पक्ष में मोटर यान के अंतरण का प्रस्ताव है। इस प्रकार यह यथेष्ट रूप से स्पष्ट हो जाता है कि यदि किसी व्यक्ति का प्रस्ताव अंतरण करने का है तो उसे इस तथ्य की सूचना बीमा कंपनी को यह अनुरोध करते हुए देनी चाहिए कि वह प्रस्तावित अंतरिती के पक्ष में पालिसी का अंतरण कर दे। इस प्रकार यह बात

निश्चित हो जाती है कि बीमा कंपनी से ऐसा अनुरोध विक्रय किए जाने से पूर्व किया जाना चाहिए। इसका कारण स्पष्ट है क्योंकि यदि किसी यान का एक बार विक्रय हो जाता है तो मूल बीमाकर्ता पालिसी का धारक नहीं रहता और पालिसी व्यपगत हो जाती है और विक्रय के बाद पालिसी के अंतरण का कोई प्रश्न ही उत्पन्न नहीं होता। इस न्यायालय ने ऐसा ही मत **यूनाइटेड इण्डिया फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंश कंपनी लि० बनाम चेनम्मा**[1] वाले मामले में व्यक्त किया है।

11. इस मामले के तथ्यों से यह प्रकट होता है कि वास्तविक विक्रय 8 दिसम्बर, 1978 को हुआ है और यान के अंतरण के लिए आवेदन 2 जनवरी, 1979 को अर्थात् दुर्घटना की तारीख को किया गया है। अतः यह आवेदन मोटर यान अधिनियम की धारा 103-क के अनुरूप नहीं है। यह आवेदन उस समय नहीं किया गया था जब मूल स्वामी, अर्थात् मूल प्रत्यर्थी सं० 4 जयशंकर, ने यान को मूल प्रत्यर्थी सं० 1, कालेगौडा, को बेचने का प्रस्ताव किया था। यदि इस आवेदन के बारे में तनिक भी यह सिद्ध हो जाता है कि यह विक्रय के बाद किया गया है और बीमा कंपनी को दुर्घटना की तारीख के बाद मिला है तो उस प्रक्रम पर पालिसी का अंतरण कालेगौडा के नाम में करने का प्रश्न ही नहीं उठता क्योंकि पालिसी विक्रय की तारीख, अर्थात् 8 दिसम्बर, 1978 को ही व्यपगत हो चुकी है।

12. दावाकर्ता की ओर से हाजिर होने वाले विद्वान् काउंसेल ने इस मामले में हमारा ध्यान **दि ओरियंटल फायर एण्ड जनरल इंश्योरेंश कंपनी बनाम भगवन्त और अन्य**[2] वाले मामले में किए गए विनिश्चय की ओर आकर्षित किया है जिसमें विक्रेता ने प्रस्तावित अंतरण के बारे में बीमा कंपनी को सम्यक्रूपेण सूचित कर दिया था और उसे कंपनी से कोई उत्तर प्राप्त नहीं हुआ था। उसके पश्चात् अंतरण का तथ्य क्षेत्रीय परिवहन अधिकारी के रजिस्टर में दर्ज किया गया था और ऐसी परिस्थितियों में ही न्यायालय ने यह अधिनिर्धारित किया था कि बीमा कंपनी प्रतिकर के लिए दायी थी। इस मामले में कोई अन्य प्रश्न अंतर्वलित नहीं था।

13. प्रस्तुत मामले के तथ्य, जैसा कि ऊपर बताया गया है, पूर्ण रूप से भिन्न है।

---

1 (1981) 1 कर्नाटक ला जर्नल 245.

2 1983 एक्सीडेंट्स क्लेम्ज जर्नल 349 (पंजाब और हरियाणा).

नि० प० 1984 : कलकत्ता—1

बलाई लाल बनर्जी और अन्य बनाम देबकी कुमार गांगुली और अन्य

(Balai Lall Banerjee and others *Vs.* Debaki Kumar Ganguli and others)

तारीख 5 जुलाई, 1983

[न्या० अनिल कुमार सेन और बी० सी० चक्रवर्ती]

सक्सेशन ऐक्ट, 1925 (1925 का 39)—धारा 276, 278 और 299—प्रोबेट और प्रशासन-पत्र के अनुदान का आदेश डिक्री नहीं होता—ऐसे आदेश के संबंध में प्ररूपिक डिक्री तैयार करनी आवश्यक नहीं है—अतः ऐसे आदेश के विरुद्ध अपील-ज्ञापन के साथ डिक्री की प्रमाणित प्रति संलग्न न करने के परिणामस्वरूप अपील अविधिमान्य नहीं बनती ।

प्रशासन-पत्र के अनुदान के आदेश और प्रोबेट के अनुदान के आदेश के विरुद्ध दो अपील-ज्ञापन प्रस्तुत किए गए थे । स्टाम्प रिपोर्टर की रिपोर्ट यह थी कि इन अपील-ज्ञापनों के साथ आदेश के पारण के पश्चात् तैयार की जाने वाली डिक्री की प्रमाणित प्रति संलग्न नहीं की गई थी और इसलिए अपीलें संपोषणीय नहीं थीं । अतः इस न्यायालय के समक्ष विचारार्थ उद्भूत होने वाला प्रश्न यह था कि यथास्थिति प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र के अनुदान के आदेश के पारण के पश्चात् डिक्री तैयार करना तनिक भी आवश्यक है अथवा नहीं ।

अभिनिर्धारित—तदनुसार आदेश दिया गया ।

प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र के अनुदान की कार्यवाही सही अर्थों में वाद नहीं होती परन्तु ऐसे कुछ मामलों में वह वाद मान ली जाती है, जिनमें अनुदान का विरोध किया गया होता है । ऐसा केवल इस प्रयोजन से किया जाता है कि कार्यवाही का वर्गीकरण उसके स्वरूप को परिवर्तित किए बिना किया जा सके । ऐसी किसी कार्यवाही में पारित आदेश में डिक्री का बल हो सकता है परन्तु वह सही अर्थों में डिक्री नहीं होता क्योंकि वह किसी वाद में पारित नहीं किया जाता । अतः अनुदान के आदेश के पश्चात् प्ररूपिक डिक्री का तैयार किया जाना अपेक्षित प्रतीत नहीं होता । (पैरा 18)

स्टाम्प रिपोर्टर का यह मत सही प्रतीत नहीं होता कि चूंकि प्रोबेट और प्रशासन-पत्र के अनुदान के आदेश के विरुद्ध की गई अपीलें रूल्स आफ बिजनेस के अध्याय 4 के नियम 10 के अनुसार अपीलों के रूप में वर्गीकृत की जानी हैं

अत: उनके साथ डिक्रियों की प्रमाणित प्रतियां संलग्न की जानी चाहिए अन्यथा ऐसी प्रतियों के अभाव में अपीलें निरर्थक हैं। नियम 10 के उपरिनिर्दिष्ट उपबंध का एकमात्र आशय सांख्यिकीय प्रयोजनों के लिए अपीलों का वर्गीकरण करना है। इससे अनुदान के किसी आदेश को, जो कि वास्तव में डिक्री नहीं होता, डिक्री में परिवर्तित करने का बल नहीं है और न ही हो सकता है। (पैरा 19)

		पैरा
[1976]	ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1503 : दीवान ब्रदर्स **बनाम** सेंट्रल बैंक (Dewan Brothers *Vs.* Central Bank);	11,17
[1963]	ए० आई० आर० 1963 इला० 153 : पैंजी फरोंडीज **बनाम** एम०एफ० क्वेओरोज (Panzy Ferondes *Vs.* M. F. Queoros);	17
[1933]	ए० आई० आर० 1933 प्रि० कौ० 63 : हंसराज गुप्ता **बनाम** देहरादून-मसूरी इलेक्ट्रिक ट्रामवे कंपनी (Hans Raj Gupta *Vs.* Dehradun-Mussoorie Electric Tramway Company);	17
[1916]	ए० आई० आर० 1916 कल० 473 : 20 कल० डब्ल्यू० एन० 28 : शरत चन्द्र **बनाम** विनोद कुमारी (Sarat Chandra *Vs.* Benode Kumari); और	16
[1904]	(1904) 8 कल० डब्ल्यू० एन० 748 : शेख अजीम **बनाम** चन्द्रनाथ (Sheikh Azim *Vs.* Chandra Nath)	15

का अवलम्ब लिया गया।

निर्देश अधिकारिता : 1978 की एफ० ए० टी० सं० 1491 और 2226.

प्रोबेट और प्रशासन-पत्र के अनुदान संबंधी आदेशों के विरुद्ध डिक्री की प्रमाणित प्रति के अभाव में अपीलों की संपोषणीयता के संबंध में निर्देश।

अपीलार्थियों की ओर से ... **श्री शक्तिनाथ मुखर्जी और श्रीमती मंजुश्री दास (एफ० ए० टी० सं० 1491/1978 में) तथा श्री समीर कुमार मुखर्जी और श्री एस० के० दास (एफ० ए० टी० सं० 2226/1978 में)**

प्रत्यर्थी की ओर से ... **कोई नहीं।**

न्यायालय का निर्णय न्या० बी० सी० चक्रवर्ती ने दिया।

न्या० चक्रवर्ती :

दो अपील ज्ञापनों—एक प्रशासन-पत्र के अनुदान के आदेश के विरुद्ध और दूसरा प्रोबेट के अनुदान के आदेश के विरुद्ध—से उद्भूत होने वाले ये दो मामले हमें अपील किए गए निर्णयों के साथ लगाई जाने वाली डिक्री की प्रमाणित प्रति के बिना अपीलों की संपोषणीयता के संबंध में स्टाम्प रिपोर्टर की रिपोर्ट को ध्यान में रखकर निर्देशित किए गए हैं। हमारे विचारार्थ उद्भूत होने वाला प्रश्न यह है कि यथास्थिति प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र के अनुदान के आदेश के पारण के पश्चात् डिक्री तैयार करना तनिक भी आवश्यक है अथवा नहीं ?

2. अपील का उपबन्ध सक्सेशन ऐक्ट की धारा 299 में अंतर्विष्ट है। धारा 299 की भाषा इस प्रकार है :—

> *"299. जिला न्यायाधीश के आदेश के विरुद्ध अपील—जिला न्यायाधीश, उसे एतद्द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए, जो भी आदेश पारित करेगा वह सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के अपीलों पर लागू होने वाले उपबंधों के अनुसार उच्च न्यायालय को की जाने वाली अपील के अध्यधीन होगा।"

3. इस धारा में इस बात के स्पष्ट होने के बावजूद कि अपील किसी आवेदन की बाबत पारित किए गए आदेश के विरुद्ध की जाती है तो भी स्टाम्प रिपोर्टर के दृष्टिकोण से, जैसा कि रूल्स आफ बिजनेस आफ दी जुडीशियल डिपार्टमेंट, अपीलेट साइड, हाई कोर्ट, कलकत्ता के अध्याय 4 के नियम 10 में अंतर्विष्ट उपबंधों में अपेक्षित है, अपील ज्ञापन के साथ डिक्री फाइल की जानी चाहिए। प्रश्नगत नियम का संबंध अपीलों के वर्गीकरण से है। इस नियम के सुसंगत अंश का आशय निम्नलिखित है :—

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

> "299. Appeals from orders of District Judge—Every order made by a District Judge by virtue of the powers hereby conferred upon him shall be subject to appeal to the High Court in accordance with the provisions of the Civil P.C., 1908, applicable to appeals."

*"अपीलों का वर्गीकरण—

10. स्टाम्प रिपोर्टर का कर्त्तव्य है कि वह अपीलों को रजिस्ट्रीकरण के लिए संबंधित अपील अनुभागों को भेजने से पूर्व उनका वर्गीकरण करे।

इस न्यायालय की वर्तमान पद्धति के अनुसार अपीलों का वर्गीकरण निम्नलिखित तरीके से किया जाता है :—

मूल डिक्रियों की अपीलें

(1) से (3)........................

(4) प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र के अनुदान अथवा अनुदान से इंकार अथवा प्रतिसंहरण अथवा प्रतिसंहरण से इंकार के विरुद्ध अपीलें।"

4. विद्वान् अधिवक्ताओं का ध्यान स्टाम्प रिपोर्टर की इस रिपोर्ट की ओर आकर्षित किया गया है कि अपीलार्थी ने 1978 की एफ० ए० टी० सं० 1491 में 30 नवम्बर, 1978 को डिक्री की प्रमाणित प्रति के लिए आवेदन किया था। डिक्री 1 दिसम्बर, 1978 को तैयार करके इस न्यायालय के समक्ष 8 दिसम्बर, 1978 को फाइल की गई थी। इसके पश्चात् स्टाम्प कलक्टर ने यह रिपोर्ट की कि यदि डिक्री की प्रमाणित प्रति के फाइल किए जाने की तारीख के संदर्भ में परिसीमा अवधि का परिकलन किया जाए तो अपील परिसीमा अवधि की समाप्ति से 175 दिन बाद फाइल की गई थी।

5. दूसरी अपील में डिक्री की कोई प्रमाणित प्रति फाइल नहीं की गई थी और जिस न्यायालय के आदेश के विरुद्ध अपील की गई है उसे निर्देश किए जानें पर विद्वान् न्यायाधीश ने यह रिपोर्ट की कि प्रोबेट वाले मामले में कोई प्ररूपिक डिक्री तैयार नहीं की गई थी और प्रोबेट के तैयार, सील और हस्ताक्षरित कर दिये जाने के पश्चात् मामला समाप्त कर दिया गया था।

---

*अंग्रेजी में यह इस प्रकार है :—

"Classification of Appeals—

10. It is the duty of the Stamp Reporter to classify appeals before making them over to the Appeal Sections concerned for registration.

Under the existing practice of this court, appeals are classified in the manner indicated below :—

APPEALS FROM ORIGINAL DECREES

(1) to (3)....................

(4) Appeals against the grant or refusal to grant or revocation or refusal of revocation of probate or letters of administration."

6. श्री शक्तिनाथ मुखर्जी एफ० ए० टी० सं० 1491 के समर्थन में और श्री समीर मुखर्जी दूसरे मामले में हाजिर हुए थे। श्री शक्तिनाथ मुखर्जी ने यह तर्क प्रस्तुत किया था कि प्रशासन-पत्र के अनुदान संबंधी किसी आदेश के मामले में इंडियन सक्सेशन ऐक्ट और सिविल प्रक्रिया संहिता, दोनों, के उपबंधों के अधीन किसी प्ररूपिक डिक्री के तैयार किए जाने की आवश्यकता नहीं है। इंडियन सक्सेशन ऐक्ट की धारा 266 यह उपबंधित करती है कि जिला न्यायाधीश को प्रोबेट और प्रशासन-पत्र के अनुदान के संबंध में वे सभी शक्तियां और प्राधिकार प्राप्त होंगे जो उसमें किसी सिविल वाद के संबंध में निहित हैं।

7. धारा 288 यह अधिकथित करती है कि जिला न्यायाधीश के न्यायालय की कार्यवाही, अन्यथा यथोपबन्धित को छोड़कर, जहां तक मामले की परिस्थितियां अनुज्ञात करेंगी, सिविल प्रक्रिया संहिता द्वारा विनियमित की जाएगी। प्रोबेट के लिए कार्यवाही उसके संबंध में आवेदन प्रस्तुत करके प्रारम्भ की जानी है। धारा 276 यह उपबंधित करती है कि ऐसे आवेदन की अंतर्वस्तु क्या होनी चाहिए। इसी प्रकार, प्रशासन-पत्र के लिए कार्यवाही धारा 278 के उपबंधों के अनुसार आवेदन करके प्रारम्भ की जाती है।

8. धारा 295 यह अधिकथित करती है कि जिला न्यायाधीश के समक्ष विवाद के हर मामले में कार्यवाही यथाशक्य निकटतम रूप से किसी नियमित वाद का रूप लेगी। ऐसे किसी मामले में पिटीशनर को वादी और अनुदान का विरोध करने के लिए हाजिर होने वाले व्यक्ति को प्रतिवादी कहा जाएगा।

9. ऐक्ट की धारा 289 और 290 यह उपबन्धित करती हैं कि अनुदान का प्ररूप क्या होगा। अनुसूची 6 में दिया गया प्ररूप प्रोबेट के अनुदान के लिए और अनूसूची 7 में दिया गया प्ररूप प्रशासन-पत्र के अनुदान के लिए तात्पर्यित है।

10. अंत में, ऐक्ट की उपरिनिर्दिष्ट धारा 299 जिला न्यायाधीश द्वारा पारित ऐसे हर आदेश के विरुद्ध अपील की व्यवस्था करती है जिसे वह अधिनियम द्वारा प्रदत्त शक्तियों के अधीन पारित करता है।

11. इन सभी धाराओं का एक साथ पठन करके यह तर्क प्रस्तुत किया गया था कि प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र के अनुदान की कार्यवाही सही अर्थों में वाद नहीं है और इसलिए ऐसी किसी कार्यवाही के परिणामस्वरूप किसी डिक्री के पारित किए जाने का कोई प्रश्न उत्पन्न नहीं होगा जबकि सिविल प्रक्रिया संहिता के अधीन वादों के परिणामस्वरूप डिक्री का पारित किया जाना नितान्त

आवश्यक है। अत: ऐसे किसी मामले में, जिसमें कार्यवाही का स्वरूप विवादग्रस्त हो, कार्यवाही का वर्गीकरण किसी वाद के रूप में कर देने से कार्यवाही आवश्यक रूप से सिविल प्रक्रिया संहिता के अर्थान्तर्गत किसी वाद में परिवर्तित नहीं हो जाती। यद्यपि उच्चतम न्यायालय ने **दीवान ब्रदर्स** बनाम **सेन्ट्रल बैंक**[1] वाले मामले में एक भिन्न प्रसंग में यह मत व्यक्त किया था कि सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 2(2) में अंतर्विष्ट डिक्री की परिभाषा के अंतर्गत आने के लिए निम्नलिखित तीन अनिवार्य तत्व विद्यमान होने चाहिएं :—

(1) कि न्यायनिर्णयन किसी वाद में किया गया हो;

(2) कि वाद वाद-पत्र फाइल करके प्रारम्भ किया गया हो और उसकी परिणति किसी डिक्री में हुई हो;

(3) न्यायनिर्णयन औपचारिक और अन्तिम हो और किसी सिविल अथवा राजस्व न्यायालय द्वारा किया गया हो।

12. अत: प्रोबेट के अनुदान की किसी कार्यवाही में किए गए अन्तिम न्यायनिर्णयन को संभवत: किसी डिक्री की संज्ञा प्रदान नहीं की जा सकती क्योंकि उसमें इस अनिवार्य तत्व का अभाव है कि वाद वाद-पत्र फाइल करके प्रारम्भ किया गया हो।

13. हमारी राय में इस तथ्य से कोई अधिक अंतर नहीं पड़ता कि विवादग्रस्त कार्यवाही का वर्गीकरण वाद के रूप में किया गया है। यदि किसी कार्यवाही की परिणति निश्चित रूप से किसी डिक्री में होनी है तो किसी विवादग्रस्त अथवा अविवादग्रस्त कार्यवाही में कोई अन्तर नहीं होना चाहिए। सिविल प्रक्रिया संहिता के अर्थान्तर्गत किसी वाद के मामले में अन्तिम न्यायनिर्णयन, भले ही उसके संबंध में प्रतिवाद किया गया हो अथवा वह एकपक्षीय हो, के पश्चात् निरपवाद रूप से डिक्री पारित की जानी चाहिए। यह मान लेना सहज बुद्धि के विरुद्ध प्रतीत होता है कि प्रोबेट के अनुदान की विवादग्रस्त कार्यवाही ही वाद मानी जाएगी और इसलिए उसकी परिणति किसी डिक्री में होनी आवश्यक होगी और प्रोबेट के अनुदान की किसी ऐसी कार्यवाही की परिणति डिक्री में होनी आवश्यक नहीं होगी जिसकी समाप्ति पर प्रोबेट के अनुदान का आदेश पारित कर दिया गया होगा। यदि कार्यवाही कोई वाद है तो वह व्यावहारिक रूप से हर प्रयोजन के लिए वाद है—भले ही वह विवादग्रस्त हो अथवा अविवादग्रस्त। अत: हमारी राय में ऐक्ट की

---

[1] ए० आई० आर० सी० 1976, एस० 1503.

धारा 295 के उपबन्ध केवल वर्गीकरण के प्रयोजन के लिए हैं। सिविल प्रक्रिया संहिता की प्रयुक्ति से संबंधित उपबन्ध यथासंभव केवल उस प्रक्रिया को द्योतित करने के लिए आशयित हैं जिसका अनुपालन, यथास्थिति, किसी प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र का निपटारा करने के लिए किया जाएगा।

14. जैसा हम पहले बता चुके हैं कि धारा 299 अनुदान के आदेश को अपीलनीय बनाती है। धारा 299 में डिक्री का कोई उल्लेख नहीं है।

15. यहां यह बात महत्वपूर्ण है कि सिविल प्रक्रिया संहिता में "डिक्री" शब्द की परिभाषा में यह उपबन्धित है कि डिक्री में कोई ऐसा न्यायनिर्णयन सम्मिलित नहीं होगा जिसकी अपील किसी आदेश की अपील की भांति की जाती है। आदेशों के विरुद्ध अपील के उपबन्ध संहिता के आदेश 43 में अन्तर्विष्ट हैं। इसमें उन आदेशों की संगणना की गई है जिनके विरुद्ध अपील की जा सकेगी, इसमें प्रोबेट के अनुदान का आदेश सम्मिलित नहीं है। अतः यह प्रश्न उद्भूत हो सकता है कि ऐसे आदेश के विरुद्ध किसी आदेश के विरुद्ध की जा सकने वाली अपील की भांति तनिक भी अपील की जा सकती है अथवा नहीं। **शेख अजीम** बनाम **चन्द्रनाथ**[1] वाले मामले में प्रोबेट के प्रतिसंहरण के आवेदन को नामंजूर करने वाले एक आदेश के विरुद्ध अपील की गई थी। इसमें यह दलील दी गई थी कि आवेदन की नामंजूरी का निदेश देने वाला निर्णय केवल आदेश की कोटि में आता है और उसके विरुद्ध अपील केवल सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा 588 के अधीन की जाएगी। यह दलील प्रकटतः इस तथ्य पर आधारित थी कि प्रोबेट और प्रशासन अधिनियम, 1881 (प्रोबेट एण्ड एडमिनिस्ट्रेशन ऐक्ट, 1881) की धारा 86 में प्रत्येक आदेश आदेश के रूप में वर्णित है। यह मत व्यक्त किया गया था कि उपधारा की परिधि के अंतर्गत प्रोबेट का अनुदान करने वाले आदेश भी सम्मिलित हैं और चूंकि ये आदेश निस्संदेह डिक्रियों की कोटि में आते हैं इसलिए धारा 86 में प्रयुक्त 'आदेश' शब्द से केवल कोई ऐसा आदेश अभिप्रेत नहीं है जो सिविल प्रक्रिया संहिता की धारा में 588 निर्दिष्ट किया गया है। अतः यह निष्कर्ष निकलता है कि यद्यपि ऐक्ट की धारा 299 में निर्दिष्ट आदेश अपीलनीय बनाया गया है तो भी उसमें निर्दिष्ट सभी आदेश आवश्यक रूप से सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 43 द्वारा अनुध्यात आदेश नहीं हैं। यद्यपि प्रोबेट के अनुदान का आदेश प्रत्येक दृष्टि से डिक्री की परिभाषा के अन्तर्गत नहीं आता तो भी उसे डिक्री के समकक्ष मानते हुए उसके विरुद्ध उसी प्रकार अपील की जा सकती है जिस प्रकार किसी आदेश के विरुद्ध की जाती है।

---

[1] (1904) 8 कल० डब्ल्यू० एन० 748.

16. शरतचन्द्र बनाम बिनोद कुमारी[1] वाले मामले में यह मत व्यक्त किया गया था कि प्रोबेट और प्रशासन अधिनियम, 1881 की धारा 86 के निबन्धनों के अधीन अपील इस तथ्य के निरपेक्ष की जा सकती है कि आदेश डिक्री है अथवा नहीं। ये आदेश यह धारणा उत्पन्न कराते प्रतीत होते हैं कि प्रोबेट के अनुदान का आदेश किसी आदेश के रूप में वर्णित किए जाने के बावजूद अपील के प्रयोजनार्थ डिक्री की कोटि में आता है। यहां यह बताना समीचीन होगा कि प्रोबेट और प्रशासन अधिनियम, 1881 की धारा 86 इंडियन सक्सेशन ऐक्ट की धारा 299 के अनुरूप है।

17. श्री मुखर्जी डिक्री और डिक्री का बल रखने वाले आदेश में अन्तर करना चाहते थे। ऐसे तर्क के समर्थन में इलाहाबाद उच्च न्यायालय के पूर्ण न्यायपीठ के **पैंजी फरोंडीज** बनाम **एम० एफ० क्वेओरोज**[2] वाले मामले में विनिश्चय का अवलम्ब लिया गया था। उस मामले में विचारार्थ आत्यंतिक प्रश्न इंडियन सक्सेशन ऐक्ट की धारा 299 के अधीन अपील-ज्ञापन पर संदेय न्यायालय फीस की बाबत था। उस प्रश्न पर विचार करते समय यह अभिनिर्धारित किया गया था कि इंडियन सक्सेशन ऐक्ट की धारा 278 के अधीन प्रशासन-पत्र हेतु पिटीशन की बाबत पारित किया गया आदेश डिक्री नहीं है क्योंकि वह किसी बाद में पारित नहीं किया गया है। प्रशासन-पत्र सम्बन्धी कार्यवाही कोई वादपत्र संस्थित करके प्रारम्भ नहीं की जाती। वह किसी आवेदन अथवा पिटीशन के आधार पर प्रारम्भ की जाती है। अपील किया गया विनिश्चय ऐक्ट की धारा 299 में आदेश के रूप में वर्णित है न कि किसी डिक्री के। अतः यह अभिनिर्धारित किया गया था कि प्रशासन-पत्र संबंधी कार्यवाहियों में किसी न्यायालय का विनिश्चय डिक्री नहीं कहा जा सकता। इस विनिश्चय पर पहुंचने के लिए **हंसराज गुप्ता** बनाम **देहरादून-मसूरी इलेक्ट्रिक ट्रामवे कम्पनी**[3] वाले मामले का अवलम्ब लिया गया था जिसमें यह मत व्यक्त किया गया था कि वाद साधारणतः वाद-पत्र प्रस्तुत करके संस्थित किया जाता है। इलाहाबाद उच्च न्यायालय के इस मत का उच्चतम न्यायालय ने अनुमोदन **दीवान ब्रदर्स** बनाम **सेन्ट्रल बैंक**[4] वाले मामले में किया था।

---

[1] ए० आई० आर० 1916 कल० 473; 20 कल० डब्ल्यू० एन० 28.
[2] ए० आई० आर० 1963 इला० 153.
[3] ए० आई० आर० 1933 प्रि० कौ० 63.
[4] ए० आई० आर० 1976 एस० सी० 1503.

18. अतः इंडियन सक्सेशन ऐक्ट के सुसंगत उपबंधों और उपरनिर्दिष्ट नजीरों का पठन करने के पश्चात् हमारी राय में प्रोबेट अथवा प्रशासन-पत्र के अनुदान की कार्यवाही सही अर्थों में वाद नहीं होती परन्तु ऐसे कुछ मामलों में वह वाद मान ली जाती है जिनमें अनुदान का विरोध किया गया होता है। हमारी राय में ऐसा केवल इस प्रयोजन से किया जाता है कि कार्यवाही का वर्गीकरण उसके स्वरूप को परिवर्तित किए बिना किया जा सके। ऐसी किसी कार्यवाही में पारित आदेश में डिक्री का बल हो सकता है परन्तु वह सही अर्थों में डिक्री नहीं होता क्योंकि वह किसी वाद में पारित नहीं किया जाता। अतः हमारी राय में अनुदान के आदेश के पश्चात् प्ररूपिक डिक्री का तैयार किया जाना अपेक्षित प्रतीत नहीं होता। आदेश के परिणामस्वरूप जो कुछ प्राप्त होता है वह ऐक्ट की अनुसूची 6 और 7 में दिए गए प्ररूप में अनुदान होता है।

19. अतः स्टाम्प रिपोर्टर का यह मत सही प्रतीत नहीं होता कि चूंकि प्रोबेट और प्रशासन-पत्र के अनुदान के आदेश के विरुद्ध की गई अपीलें रूल्स आफ बिजनेस के अध्याय 4 के नियम 10 के अनुसार अपीलों के रूप में वर्गीकृत की जानी है अतः उनके साथ डिक्रियों की प्रमाणित प्रतियां संलग्न की जानी चाहिएं अन्यथा ऐसी प्रतियों के अभाव में अपीलें निरर्थक हैं। रूल्स आफ बिजनेस के आमुख में यह पर्याप्त रूप से स्पष्ट कर दिया गया है कि ये नियम प्रशासनिक अनुदेश मात्र हैं जो न्यायिक विभाग से संबद्ध हर व्यक्ति के मार्गदर्शन के लिए हैं। दूसरे शब्दों में, नियम 10 के उपरनिर्दिष्ट उपबन्ध का एकमात्र आशय सांख्यिकीय प्रयोजनों के लिए अपीलों का वर्गीकरण करना है। इसमें अनुदान के किसी आदेश को, जो कि वास्तव में डिक्री नहीं होता, डिक्री में परिवर्तित करने का बल नहीं है और न ही हो सकता है। अतः हम स्टाम्प रिपोर्टर के इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं कि डिक्रियों की प्रमाणित प्रतियों के अभाव में तथाकथित अपीलें निरर्थक हैं।

20. जहां अनुदान के आवेदन का निपटारा करते समय किसी ऐसे पक्षकार के पक्ष में खर्चा अधिनिर्णीत कर दिया जाता है वहां यह वांछनीय है कि आदेश-पत्रक में एक ऐसा आदेश तैयार किया जाए जिसमें मामले का परिणाम दर्शित किया गया हो और न्यायनिर्णयन की संक्षिप्त अभिव्यक्ति हो और यदि एक पक्षकार द्वारा दूसरे पक्षकार को खर्चे का संदाय किया जाना हो तो आदेश पत्रक में ऐसा खर्चा भी दर्शित किया जाय (सिविल रूल्स एण्ड आर्डर्स, वाल्यूम I का नियम 141 देखिए)।

21. स्टाम्प रिपोर्टर द्वारा बताए गये कारणों के आधार पर हम उसके इस मत से सहमत होने में असमर्थ हैं कि तथाकथित अपीलें निरर्थक हैं क्योंकि

हमने यह निष्कर्ष निकाला है कि अनुदान का आदेश डिक्री का बल रख सकने के बावजूद डिक्री शब्द के सही और विधिक अर्थ की दृष्टि से डिक्री नहीं होता। ऐसा आदेश डिक्री नहीं है अतः किसी प्ररूपिक डिक्री के तैयार किए जाने का प्रश्न नहीं उठता और इस तथ्य मात्र से अपील निरर्थक नहीं हो जाती कि अपील ज्ञापन के साथ डिक्री की प्रमाणित प्रति संलग्न नहीं की गई है। अतः स्टाम्प रिपोर्टर के आक्षेप के विरुद्ध निर्णय दिया जाता है और मामलों का निपटारा तदनुसार किए जाने का आदेश दिया जाता है।

न्या० अनिल कुमार सेन :

मैं सहमत हूं।

तदनुसार आदेश दिया गया।

अशोक

नि० प० 1984 : कलकत्ता—10

मैसर्स विलियम जैक्स एण्ड कंपनी (इण्डिया) लिमिटेड बनाम

श्रीमती सुमित्रा सेन

[M/s. William Jacks & Co. (India) Ltd. *Vs.* Shrimati Sumitra Sen]

तारीख 21 जुलाई, 1983

[न्या० अनिल कुमार सेन और आ० एस० एन० सान्याल]

परिसीमा अधिनियम 1963—धारा 5 और 14—सिविल प्रक्रिया संहिता 1908 के आदेश 9 नियम 13 के अधीन किसी एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध किए गए किसी आवेदन के संबंध में असफलतापूर्वक कार्यवाही करते रहने में जो अवधि व्यतीत होती है, वह ऐसी डिक्री के विरुद्ध अपील की परिसीमा अवधि की संगणना में अपवर्जित नहीं की जा सकती।

पिटीशनर के विरुद्ध 24 मई, 1979 को एक बेदखली वाद में एक एकपक्षीय डिक्री पारित की गई थी। उसने इस डिक्री के विरुद्ध एक आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन और एक आवेदन परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5 के अधीन फाइल किया था। सिविल

प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन किया गया आवेदन उसके गुणागुण तथा उसके संबंध में किए गए प्रतिवाद के आधार पर सुना तथा खारिज कर दिया गया था। इसके संबंध में भी अपील की गई थी, जो 12 दिसम्बर, 1981 को ख़ारिज कर दी गई थी। खारिजी के उपर्युक्त दोनों आदेशों के विरुद्ध एक पुनरीक्षण आवेदन भी फाइल किया गया था जो 16 मार्च, 1982 को खारिज कर दिया गया था। पिटीशनर ने 25 मार्च, 1982 को उपर्युक्त एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध एक अपील फाइल की। चूंकि यह अपील परिसीमा अवधि के काफी समय बाद, अर्थात् 1064 दिन, की गई थी, अतः पिटीशनर ने परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 5 के अधीन एक आवेदन अपील करने में विलम्ब की माफी के लिए भी किया था, जिसमें उसने यह निवेदन किया था कि उसने सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन अपने विद्वान् काउन्सेलों के त्रुटिपूर्ण परामर्श के कारण फ़ाइल किया था और वह उसके संबंध में 16 मार्च, 1982 तक सद्‌भावपूर्वक कार्यवाही करता रहा था अतः अपील की परिसीमा अवधि की संगणना करने में यह अवधि (16 मार्च, 1982 तक) अपवर्जित की जानी चाहिए। विद्वान् जिला न्यायाधीश ने इस आवेदन की साक्ष्य पर सुनवाई की थी और इसे यह निष्कर्ष निकालकर नामंजूर कर दिया था कि अपीलार्थी-पिटीशनर अपने इस पक्षकथन को सिद्ध करने में विफल रहा है कि उसने किसी त्रुटिपूर्ण परामर्श के आधार पर सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार प्राप्त करने की कार्यवाही की थी। इसके पश्चात् पिटीशनर ने उच्च न्यायालय में एक पुनरीक्षण आवेदन फाइल किया।

पुनरीक्षण-आवेदन के समर्थन में हाजिर होने वाले श्री टैंगोर ने यह निवेदन किया कि उपर्युक्त एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील करने की परिसीमा अवधि की संगणना में तथाकथित आवेदन (अर्थात् सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन) के संबंध में कार्यवाही करते रहने में व्यतीत हुई अवधि हर दशा में अपवर्जित की जानी चाहिए।

केवियट के फाइल कर दिए जाने के बाद वादी-प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले श्री बनर्जी ने श्री टैंगोर के निवेदन का प्रतिवाद करते हुए यह निवेदन किया कि अपीलार्थी पिटीशनर को उपर्युक्त एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अनुकल्पी उपचार उपलभ्य थे और यदि उसने उनमें से एक का चुनाव कर लिया था तो उसने ऐसा अपनी इच्छा से ही किया था और इसलिए उसने ऐसे उपचार को प्राप्त करने के लिए कार्यवाही करते रहने में जो अवधि व्यतीत की है, वह अपील की परिसीमा अवधि की संगणना में अपवर्जित नहीं

की जा सकती बशर्ते कि उसकी कार्यवाही अधिकारिता की कमी के कारण अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण के आधार पर विफल न हुई हो।

इस प्रकार न्यायालय के समक्ष उद्भूत होने वाला अपूर्ण प्रश्न यह था कि क्या वह अवधि, जो अपीलार्थी ने उपर्युक्त एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन के संबंध में असफलतापूर्वक कार्यवाही करते रहने में व्यतीत की है, तथाकथित डिक्री के विरुद्ध फिर से की गई अपील की परिसीमा अवधि की संगणना के लिए अपवर्जित की जा सकती है?

अभिनिर्धारित—आवेदन खारिज किया गया।

अब यह विधि का सुस्थिर सिद्धांत बन चुका है कि यद्यपि परिसीमा अधिनियम की धारा 14 वस्तुतः किसी अपील पर लागू नहीं होती तो भी उसमें निहित सिद्धांतों का अवलम्ब उक्त अधिनियम की धारा 5 में अनुध्यात पर्याप्त कारण की सहायता के लिए लिया जा सकता है। परन्तु, परिसीमा अधिनियम की धारा 14 की एक मूलभूत अपेक्षा यह है कि जिस उपचार के संबंध में कार्यवाही की गई हो वह अधिकारिता की कमी के कारण अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण के आधार पर विफल होनो चाहिए। अपने संदर्भ में पठित ये शब्द "इसी प्रकार के अन्य कारण" स्पष्ट रूप से इस बात के द्योतक हैं कि कमी इस प्रकार की होनी चाहिए जो न्यायालय को उपचार का, उसके गुणागुण के आधार पर, विनिश्चय करने से रोकती हो। अतः यदि विधि में सिविल प्रक्रिया संहिता, 1908 के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार उपलभ्य हो और वह कार्यवाही की जाने पर अपने गुणागुण के आधार पर विफल हो गया हो तो वह परिसीमा अधिनियम, 1963 की धारा 14 में निहित सिद्धांतों के अवलम्ब के लिए आधार प्रदान नहीं कर सकता। (पैरा 8)

		पैरा
[1977]	ए० आई० आर० 1977 आंध्र प्रदेश 367 : जोखम रेड्डी **बनाम** गोकर मल्लैया (Jokham Reddy *Vs.* Gokar Mallaiah);	8
[1950]	आई० एल० आर० (1950) 2 कल० 252 : अबोध बाला **बनाम** राधारानी (Abodhbala *Vs.* Radharani);	8
[1932]	ए० आई० आर० 1932 कल० 558=आई० एल० आर० 59 कल० 1057 : राजेन्द्र नाथ **बनाम** कमल कृष्ण (Rajenrda Nath *Vs.* Kamal Krishna) का **अवलम्ब** लिया गया।	8

[1917] ए० आई० आर० 1917 प्रि० कौ० 156 : 44 इंड० अपी० 218 : ब्रज इंदर सिंह **बनाम** कांशी राम (Brij Inder Singh *Vs.* Kanshi Ram) **प्रभेदित** किया गया । 4

सिविल पुनरीक्षण अधिकारिता : 21 जुलाई, 1983 को विनिश्चित किया गया सिविल पुनरीक्षण आवेदन ।

निचले अपील न्यायालय के समक्ष एक एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील करने में हुए विलम्ब की माफी के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के अधीन किए गए आवेदन के खारिज किए जाने के विरुद्ध पुनरीक्षण आवेदन ।

पिटीशनर की ओर से ... सर्वश्री एस० एन० टैगोर, एस० के० घोषाल और एस० एन० सिन्हा

विरोधी पक्षकार की ओर से ... सुभाष बनर्जी और तपन सेन

न्यायालय का निर्णय न्या० अनिल कुमार सेन ने दिया ।

न्या० सेन :

यह पुनरीक्षण आवेदन एक ऐसे प्रतिवादी-अपीलार्थी की प्रेरणा पर किया गया है जिसका एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील करने में हुए विलम्ब की माफी के लिए परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के अधीन आवेदन निचले अपील न्यायालय ने खारिज कर दिया है । आक्षेपित आदेश 11 मई, 1983 का एक ऐसा आदेश है जिसे 24-परगना के विद्वान् जिला न्यायाधीश ने पारित किया था । इस पुनरीक्षण-आवेदन के सम्बन्ध में हमारे समक्ष उद्भूत होने वाला अपूर्ण प्रश्न यह है कि क्या वह अवधि, जो अपीलार्थी ने अपीलाधीन तथाकथित डिक्री के विरुद्ध सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन, जो अपने गुणागुण के आधार पर विफल हो गया था, के संबंध में असफलतापूर्वक कार्यवाही करते रहने में व्यतीत की है, तथाकथित डिक्री के विरुद्ध फिर से की गई अपील की परिसीमा अवधि की संगणना के लिए अपवर्जित की जा सकती है ?

2. सुसंगत तथ्यों की बाबत कोई विवाद नहीं है । 1978 के बेदखली वाद सं० 87 में पिटीशनर के विरुद्ध 24 मई, 1979 को एक एकपक्षीय डिक्री पारित की गई थी, यद्यपि वह वाद में प्रतिवाद करने के लिए हाजिर हुआ था। पिटीशनर ने 2 अगस्त, 1979 को एक आवेदन सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन और एक आवेदन परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के

अधीन फाइल किया था। सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन तथाकथित आवेदन को फाइल करने में हुआ विलम्ब माफ कर दिया गया था और उसे उसके गुणागुण तथा उसके सम्बन्ध में किए गए प्रतिवाद के आधार पर सुना गया था। तथापि, वह आवेदन विफल हो गया था और 14 फरवरी, 1981 को खारिज कर दिया गया था। उसके सम्बन्ध में जो अपील की गई थी वह भी विफल हो गई और 12 दिसम्बर, 1981 को खारिज कर दी गई। उन आदेशों को आक्षेपित करने वाला पुनरीक्षण-आवेदन भी विफल हो गया और 16 मार्च, 1982 को खारिज कर दिया गया।

3. जैसा कि ऊपर बताया गया है, पिटीशनर ने इस पृष्ठभूमि में उसी एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध 25 मार्च, 1982 को एक अपील सं० 275 फाइल की। चूंकि पिटीशनर ने यह अपील परिसीमा अवधि के काफी समय बाद (अर्थात् 1064 दिन) की थी अत: उसने परिसीमा अधिनियम की धारा 5 के अधीन एक आवेदन फाइल किया। इस आवेदन में पिटीशनर का पक्षकथन यह है कि उसने अपने विद्वान् काउन्सेलों के त्रुटिपूर्ण परामर्श के कारण सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल किया था और उस पर 16 मार्च, 1982 तक सद्भावपूर्वक कार्यवाही करता रहा था अत: अपील की परिसीमा अवधि की संगणना करने में यह अवधि अपवर्जित की जानी चाहिए। इस आवेदन-पत्र की साक्ष्य पर सुनवाई करके विद्वान् जिला न्यायाधीश ने इसे यह निष्कर्ष निकाल कर नामंजूर कर दिया था कि अपीलार्थी पिटीशनर अपने इस पक्षकथन को सिद्ध करने में विफल रहा है कि उसने किसी त्रुटिपूर्ण परामर्श के आधार पर सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार प्राप्त करने की कार्यवाही की थी। उसने पिटीशनर के इस पक्षकथन पर विश्वास करने से इंकार कर दिया कि उसे भूल का पता तीन न्यायालयों में आवेदन के विफल हो जाने के बाद चला था। पिटीशनर ने विद्वान् जिला न्यायाधीश के तथाकथित आदेश से व्यथित होकर अब इस न्यायालय में आवेदन किया है।

4. पुनरीक्षण-आवेदन के समर्थन में हाजिर होने वाले श्री टैगोर ने जोरदार ढंग से यह तर्क दिया है कि विद्वान् जिला न्यायाधीश को पिटीशनर का यह पक्षकथन स्वीकार कर लेना चाहिए था कि वह एक ऐसे त्रुटिपूर्ण परामर्श के आधार पर उपचार प्राप्त करने की कार्यवाही करता रहा था जिसका पता सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9 नियम 13 के अधीन आवेदन से उद्भूत होने वाले अपील-आदेश के विरुद्ध किए गए पुनरीक्षण-आवेदन के विफल हो जाने के पश्चात् ही चल सकता था। श्री टैगोर का निवेदन है कि तथाकथित एकपक्षीय

डिक्री के विरुद्ध अपील करने की परिसीमा अवधि की संगणना में तथाकथित आवेदन के संबंध में कार्यवाही करते रहने में व्यतीत हुई अवधि हर दशा में अपवर्जित की जानी चाहिए। श्री टैगोर ने **ब्रज इंदर सिंह** बनाम **कांशी राम**[1] वाले मामले में प्रिवी कौंसिल के विनिश्चय का दृढ़तापूर्वक अवलम्ब लिया है।

5. केवियट के फाइल कर दिए जाने के बाद वादी-प्रत्यर्थी की ओर से हाजिर होने वाले श्री बनर्जी ने श्री टैगोर द्वारा उठाए गए मुद्दों का प्रतिवाद किया है। श्री बनर्जी ने निवेदन किया है कि अपीलार्थी-पिटीशनर को एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अनुकल्पी उपचार उपलभ्य थे और यदि उसने उनमें से एक उपचार का चुनाव कर लिया था तो उसने ऐसा अपनी इच्छा से ही किया था और इसलिए उसने ऐसे उपचार को प्राप्त करने के लिए कार्यवाही करते रहने में जो अवधि व्यतीत की है वह अपील की परिसीमा अवधि की संगणना में अपवर्जित नहीं की जा सकती बशर्ते कि उसकी कार्यवाही अधिकारिता की कमी के कारण अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण के आधार पर विफल न हुई हो।

6. हमने श्री टैगोर द्वारा उठाए गए मुद्दों पर ध्यानपूर्वक विचार किया है। यह निश्चित है कि जब पिटीशनर के विरुद्ध एकपक्षीय डिक्री हो गई थी तब उसके समक्ष दो उपचार थे, अर्थात् वह या तो एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील करता या अपनी गैर-हाजिरी के पर्याप्त कारणों का कथन करते हुए एकपक्षीय डिक्री को अपास्त कराने के लिए आवेदन करता। प्रस्तुत मामले में पिटीशनर ने---भले ही काउन्सेल के त्रुटिपूर्ण परामर्श पर---बाद वाले उपचार का चुनाव किया था। परन्तु ऐसे उपचार के सम्बन्ध में पिटीशनर के कार्यवाही करते रहने की बाबत केवल इसी कारण, कि अब उसे यह परामर्श दिया गया है कि अपील करना एक अधिक उपयुक्त उपचार होगा, यह नहीं कहा जा सकता कि उसने ऐसा किसी त्रुटिपूर्ण परामर्श के आधार पर किया था। विधि ने उपर्युक्त दोनों प्रकार के उपचार अनुध्यात किए हैं और पिटीशनर को सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन आवेदन फाइल करने के रूप में उपचार उपलभ्य था। अतः उसे प्राप्त करने की कार्यवाही को त्रुटिपूर्ण विधिक परामर्श के आधार पर किसी गलत उपचार को प्राप्त करने की कार्यवाही नहीं कहा जा सकता। अतः विद्वान् जिला न्यायाधीश का यह निष्कर्ष सही था कि पिटीशनर ने यह सिद्ध नहीं किया है कि वह वकील के त्रुटिपूर्ण परामर्श के आधार पर एक गलत उपचार के सम्बन्ध में कार्यवाही करता रहा था। इसके अतिरिक्त, उस स्थिति में, जब उसने वही कार्यवाही तीन-तीन न्यायालयों में की हो, यह

---

[1] ए० आई० आर० 1917 प्रि० कौं० 156 : 44 इंड० अपी० 218.

विश्वास करना कठिन है कि ऐसी त्रुटि का पता तभी चला था जब उसका पुनरीक्षण आवेदन विफल हो गया था ।

7. परन्तु श्री टैगोर ने इससे भी अधिक महत्वपूर्ण जो मुद्दा उठाया है वह यह है कि यदि यह मान भी लें कि पिटीशनर एक ऐसे अनुकल्पी उपचार के संबंध में कार्यवाही करता रहा था, जो अंततोगत्वा विफल हो चुका है तो भी ऐसे उपचार को प्राप्त करने की कार्यवाही में व्यतीत हुई अवधि तथाकथित एकपक्षीय डिक्री के विरुद्ध अपील करने की परिसीमा अवधि की संगणना में अपवर्जित की जानी है । प्रिवी कौंसिल के पूर्वोक्त विनिश्चय को निर्दिष्ट करते हुए उसने यह तर्क दिया है कि यदि प्रिवी कौंसिल के अधिकथन के अनुसार किसी पुनर्विलोकन पिटीशन के संबंध में कार्यवाही करते रहने में व्यतीत हुई अवधि इस प्रकार अपवर्जित की जानी है तो सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन वैसे ही किसी अन्य उपचार को प्राप्त करने की कार्यवाही में व्यतीत हुई अवधि क्यों नहीं अपवर्जित की जानी चाहिए ? श्री टैगोर ने इस प्रकार जो मुद्दा उठाया है, वह पहले भी इस न्यायालय के समक्ष उठाया जा चुका है और वह जिन कारणों से उसके विरुद्ध विनिश्चित किया जा चुका है, उनसे हम पूर्ण रूप से सहमत हैं ।

8. अब यह विधि का एक सुस्थिर सिद्धांत बन चुका है कि यद्यपि परिसीमा अधिनियम की धारा 14 वस्तुतः किसी अपील पर लागू नहीं होती तो भी उसमें निहित सिद्धांतों का अवलम्ब उक्त अधिनियम की धारा 5 में अनुध्यात पर्याप्त कारण की सहायता के लिए लिया जा सकता है । परन्तु, परिसीमा अधिनियम की धारा 14 की एक मूलभूत अपेक्षा यह है कि जिस उपचार के संबंध में कार्यवाही की गई हो वह अधिकारिता की कमी के कारण अथवा इसी प्रकार के किसी अन्य कारण के आधार पर विफल होनी चाहिए । अपने संदर्भ में पठित ये शब्द "इसी प्रकार के अन्य कारण" स्पष्ट रूप से इस बात के द्योतक हैं कि कमी इस प्रकार की होनी चाहिए जो न्यायालय को उपचार का उसके गुणागुण के आधार पर विनिश्चय करने से रोकती हो । अतः यदि विधि में सिविल प्रक्रिया संहिता के आदेश 9, नियम 13 के अधीन उपचार उपलभ्य हो और वह कार्यवाही की जाने पर अपने गुणागुण के आधार पर विफल हो गया हो तो वह परिसीमा अधिनियम की धारा 14 में निहित सिद्धांतों के अवलम्ब के लिए आधार प्रदान नहीं कर सकता । यह निस्संदेह सच है कि **ब्रज इंदर सिंह वाले मामले**[1] में प्रिवी

---

1 ए० आई० आर० 1917 प्रि० को० 156 : 44 इंड अपी० 218.

कौंसिल ने यह मत मान्य ठहराया था कि पुनर्विलोकन पिटीशन के संबंध में कार्यवाही करते रहने में व्यतीत की गई अवधि पुनर्विलोकनाधीन डिक्री के विरुद्ध अपील करने की परिसीमा अवधि की संगणना में अपवर्जित की जानी चाहिए। परन्तु ऐसा करने का कारण यह नहीं था कि प्रिवी कौंसिल ने इस आशय का कोई सामान्य सिद्धांत अधिकथित अथवा प्रतिपादित कर दिया था बल्कि यह था कि भारतीय न्यायालय सार्वभौम रूप से ऐसी पद्धति के अनुसार व्यवहार कर रहे थे और प्रिवी कौंसिल इसे अस्त-व्यस्त नहीं करना चाहती थी। अतः श्री टैगोर का यह निवेदन कि प्रिवी कौंसिल का विनिश्चय उसके द्वारा हमारे समक्ष प्रस्तुत किए गए मामले पर लागू किया जाए, स्वीकार करना संभव नहीं है। इस न्यायालय ने न्यायपीठों के दो पूर्ववर्ती विनिश्चयों में, प्रिवी कौंसिल के विनिश्चय पर विचार करने के पश्चात् ऐसा ही मत व्यक्त किया था। इस संबंध में **अबोध बाला** बनाम **राधारानी**[1] और **राजेन्द्रनाथ** बनाम **कमल कृष्ण**[2] वाले मामले निर्दिष्ट किए जा सकते हैं। यद्यपि श्री टैगोर ने हमें इस मत के विरुद्ध मत व्यक्त करने और इसे बृहत्तर न्यायपीठ को निर्दिष्ट करने के लिए प्रेरित करने का बड़ा प्रयत्न किया है फिर भी हम ऐसा करने के लिए प्रेरित होने में असमर्थ हैं। हम परिसीमा अधिनियम की धारा 14 में निहित सिद्धांत की मूलभूत अपेक्षाओं को ध्यान में रखकर इस न्यायालय द्वारा पूर्ववर्ती विनिश्चयों में बताए गए कारण का पूर्ण रूप से अनुमोदन करते हैं और उन विनिश्चयों में इस न्यायालय द्वारा अभिव्यक्त मत के साथ सादर सहमति व्यक्त करते हैं। अब आंध्र प्रदेश उच्च न्यायालय ने भी वैसा ही मत **जोखम रेड्डी** बनाम **गोकर मल्लैया**[3] वाले मामले में व्यक्त किया है और उससे अब तक विसम्मति प्रकट नहीं की गई है।

9. अतः श्री टैगोर द्वारा उठाए गए मुद्दे विफल होते हैं। आवेदन विफल होता है और खारिज किया जाता है।

10. संविधान के अनुच्छेद 134-क के अधीन इजाजत की प्रार्थना की गई है और उसे देने से इंकार किया जाता है।

न्या० एस० एन० सान्याल :

मैं सहमत हूं।

आवेदन खारिज किया गया।

अशोक

---

[1] आई० एल० आर० (1950) 2 कल० 252.

[2] ए० आई० आर० 1932 कल० 558 : आई० एल० आर० 59 कल० 1057.

[3] ए० आई० आर० 1977 आंध्र प्रदेश 367.

नि० प० 1984 : कलकत्ता—18

जी० करिअप्पा बनाम श्रीमती लीला सिन्हा राय

(G. Cariappa *Vs.* Mrs. Leila Sinha Roy)

तारीख 15 सितम्बर, 1983

[न्या० प्रद्योत कुमार बनर्जी और अमिताभ दत्त]

सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम, 1882---धारा 105—पक्षकारों के बीच किया गया कोई संव्यवहार पट्टा है अथवा अनुज्ञप्ति इसका अवधारण पक्षकारों के आशय पर निर्भर करता है—उक्त आशय का पता साम्पार्श्विक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए करार के निबन्धनों से लगाया जा सकता है।

वादी और उसका पति कलकत्ता के 12, पार्क स्ट्रीट क्वीन्स मैन्सन्स की पांचवीं मंजिल के फ्लैट सं० 64 में 265 रु० प्रतिमास के किराये पर रहते थे। वादी के पति की मृत्यु हो जाने पर वह अपने पुत्र के पास थोड़े समय के लिए लन्दन चली गई। प्रतिवादीगण वादी के पति के मित्र थे। अतः वादी ने प्रतिवादी को (उसके दो मित्रों सहित) अपनी अनुपस्थिति के दौरान उक्त फ्लैट में रहने की अनुज्ञा इस शर्त पर दी कि उसके लन्दन से वापस आने पर वे उसे खाली कर देंगे। उक्त फ्लैट में रहने के निबन्धन प्रदर्श 1 में उपलभ्य हैं। प्रतिवादी फ्लैट में के फर्नीचर, रेफ्रीजिरेटर, रसोई का सामान और टेलीफोन आदि का भी इस्तेमाल करते थे। वादी के लन्दन से वापस आने पर वह इलाहाबाद बैंक के स्टाफ कालेज में मैट्रन और एडमिनिस्ट्रेटिव आफिसर के पद पर नियुक्त हो गई जिसके लिए उसे बैंक की ओर से क्वार्टर भी दिया गया। बैंक की उक्त सेवा अक्तूबर, 1974 तक चली। इस बीच प्रतिवादी का विवाह हो गया और उसके मित्र 1977 में वादगत फ्लैट को छोड़कर चले गए। अतः प्रतिवादी इसका एकमात्र अधिभोगी बन गया। वादी का यह पक्षकथन है कि प्रतिवादी की प्रार्थना पर उसने उसे कुछ और समय के लिए वहां रहने के लिए अनुज्ञात कर दिया। वादी और प्रतिवादी दोनों ही बैठक का इस्तेमाल करते थे। फ्लैट के मुख्य द्वार की चाबियों के दो सैटों में से एक सैट वादी के पास रहता था। वादी ने प्रतिवादी को वादगत फ्लैट को खाली करने का नोटिस दिया किन्तु प्रतिवादी ने उसका कोई उत्तर नहीं दिया। किन्तु साक्ष्य में उसने यह दावा किया है कि वह और उसके मित्र उस फ्लैट में संयुक्त किराएदार थे और उसके पश्चात् वह उस फ्लैट में एकमात्र अधिभोगी था और तब से उस फ्लैट पर अनन्य रूप से काबिज है। किन्तु अपनी प्रतिपरीक्षा में उसने यह स्वीकार किया है कि उसके पास यह

दर्शित करने वाली कोई चीज नहीं है कि वह किराएदार के रूप में फ्लैट का अधिभोगी है। विचारण न्यायालय ने प्रतिवादी के विरुद्ध बेदखली की डिक्री दे दी। उक्त डिक्री के विरुद्ध प्रतिवादी ने यह अपील की है और सम्पत्ति में किराएदारी के अधिकार का दावा किया है।

अभिनिर्धारित—अपील खारिज की गई।

किसी करार के पक्षकारों के आशय का पता साम्पार्श्विक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए परीक्षा किए गए करार के निबन्धनों से लगाया जाना चाहिए। पक्षकारों द्वारा दिया गया विवरण आशय का साक्ष्य हो सकता है किन्तु यह विनिश्चायक नहीं होता। पट्टा सृष्ट करने के लिए समुचित शब्दों का प्रयोग मात्र करार को अनुज्ञप्ति के रूप में प्रवृत्त करने से प्रवारित नहीं करेगा। ऐसा उल्लेख कि करार किराएदारी सृष्ट करता है, विनिश्चायक नहीं है। हर एक मामले में निर्णायक कसौटी यह है कि क्या दस्तावेज, करार की विषयवस्तु अर्थात सम्पत्ति में कोई हित सृष्ट करने अथवा सृष्ट न करने के लिए आशयित है। यदि वास्तव में यह सम्पत्ति में हित सृष्ट करने के लिए आशयित है तो यह पट्टा है, यदि यह इस प्रकार आशयित नहीं है तो यह अनुज्ञप्ति है। यह अवधारित करने के लिए कि क्या करार पट्टा सृष्ट करता है अथवा अनुज्ञप्ति, अनन्य कब्जे की कसौटी यद्यपि विनिश्चायक नहीं है तो भी महत्वपूर्ण है। संदायों को किराया कहना किराएदारी का निश्चायक साक्ष्य नहीं है। (पैरा 8 और 9)

उन परिस्थितियों पर विचार करते हुए जो उस समय थीं जब यह व्यवस्था की गई जो वादी के पति के मित्र के नातेदार के लिए वादी की सहानुभूति से उत्पन्न हुई थी जिसके अधीन प्रतिवादी और उसके दो मित्रों ने, जो सभी कुंवारे थे, वादी के समस्त फर्नीचर, फिक्चर्स, रेफ्रीजिरेटर, टेलीफोन, रसोई का सामान और क्राकरी आदि का, जो उस फ्लैट में रखी हुई थी, इस शर्त पर अधिभोग किया कि प्रतिवादी को इसे 6 मास के पश्चात् मांग किए जाने पर खाली करना होगा और उसके लिए नोटिस की कोई आवश्यकता नहीं होगी। वादी बैंक क्वार्टर्स में रहने के दौरान फ्लैट पर उसका आना-जाना और फ्लैट के मुख्य प्रवेश द्वार की चाबियों का एक सैट उसके पास रहना, वादी द्वारा मासिक संदाय की दर घटाने में दी गई रियायतें और विद्युत प्रभारों और प्रतिवादी के एक कमरा और स्नानघर वादी के इस्तेमाल के लिए खाली किए जाने के पश्चात् विद्युत प्रभारों का भी दोनों के द्वारा दिया जाना और प्रतिवादी द्वारा यह प्रार्थना किया जाना कि फ्लैट खाली करने के लिए उसे कुछ और समय दिया जाए इन सभी उपर्युक्त परिस्थितियों से और पक्षकारों के आचरण से यह पता चलता है कि प्रतिवादी को एक वैयक्तिक विशेषाधिकार

प्राप्त था। किन्तु वादगत फ्लैट में कोई हित प्राप्त नहीं था। विद्वान् न्यायाधीश ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि वह एक अनुज्ञप्तिधारी है और वह अनुज्ञप्ति 19 जून, 1976 से विधिमान्य रूप से समाप्त की गई थी। (पैरा 11)

		पैरा
[1965]	ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 610 : एम० एन० क्लबवाला बनाम फिदा हुसैन (M.N. Clubwala *Vs.* Fida Hussain);	4, 8
[1952]	(1952) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 149 : ऐरिंगटन बनाम ऐरिंगटन (Errington *Vs.* Errington);	5
[1952]	(1952) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 1199 : काब बनाम लेन (Cobb *Vs.* Lane);	5
[1952]	(1952) 1 टी०एल०आर 1386, 1389 : फाचिनी बनाम ब्राइसन (Facchini *Vs.* Bryson);	5
[1946]	(1946) 2 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 557 : ई० मोस लि० बनाम ब्राउन (E. Moss Ltd. *Vs.* Brown) का अनुसरप किया गया।	4, 6
[1974]	[1974] 1 उम०नि०प० 854=ए०आई०आर० 1974 एस० सी० 396 : कुदरत उल्लाह बनाम म्युनिसिपल बोर्ड (Qudrat Ullah *Vs.* Manicipal Board);	4
[1971]	[1971] 1 उम०नि०प० 816=(1971) 1 एस०सी० सी० 276 : सोहन लाल नारायण दास बनाम लक्ष्मी दास (Sohan Lal Naraindas *Vs.* Laxmidas);	4, 7
[1968]	[1868] 1 उम०नि०प० 54=ए०आई०आर 1968 एस० सी० 933 : ऐसोसिऐटिड होटल्स बनाम आर० एन० कपूर (Associated Hotels *Vs.* R.N. Kapoor);	4
[1952]	(1952) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 149 : ऐरिंगटन बनाम ऐरिंगटन (Errington *Vs.* Errington);	4
[1952]	(1952) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 1199 : काब बनाम लेन (Cobb *Vs.* Lane) निर्दिष्ट किए गए।	4

सिविल अपीली अधिकारिता : 1980 की अपील सं० 103.

नगर सिविल न्यायालय के न्यायधीश की डिक्री के विरुद्ध की गई अपील।

अपीलार्थी की ओर से ... श्री बंकिम चन्द्र दत्त

प्रत्यर्थी की ओर से ... श्री एस० पी० राय चौधरी

न्यायालय का निर्णय न्या० अमिताभ दत्त ने दिया।

न्या० दत्त :

प्रतिवादी ने यह अपील नगर सिविल न्यायालय, कलकत्ता के चौथी न्यायपीठ के विद्वान् न्यायाधीश की डिक्री के विरुद्ध की है। उक्त डिक्री भूतपूर्व अनुज्ञप्तिधारी की बेदखली के लिए और अनुज्ञप्ति फीस की बकाया और विद्युत प्रभारों और अन्तःकालीन लाभों की वसूली के लिए वाद में दी गई थी। उसके उत्तर में प्रतिवादी ने लिखित कथन में वादगत सम्पत्ति में किराएदारी के अधिकार का दावा किया है।

2. वादी और प्रतिवादी के परिसाक्ष्य से, जो एकमात्र साक्षी हैं और प्रतिवादी और उसके साथियों द्वारा वादी को सितम्बर, 1969 में वादगत सम्पत्ति में प्रवेश करने से पूर्व लिखे गए पत्र (प्रदर्श 1) से तथ्य युक्तियुक्त रूप से स्पष्ट हैं। वादी और उसका पति मेजर जनरल एस० बी० एस० राय, कलकत्ता के 12, पार्क स्ट्रीट क्वीन्स मैन्सन्स की पांचवीं मंजिल के फ्लैट सं० 64 में रहते थे जिसमें उसका पति भारतीय जीवन बीमा निगम के अधीन 265 रु० प्रति मास पर किराएदार था। उक्त फ्लैट में तीन कमरे, एक बैठक, स्नानघर और रसोई थी। वादी के पति की 1969 में मृत्यु हो गई। उस समय उसका पुत्र लन्दन में था। अपने पुत्र की प्रार्थना पर वादी ने थोड़े समय के लिए उसके पास जाने का विनिश्चय किया। जनरल करिअप्पा और उसका भाई के० एम० नांगप्पा वादी के पति के मित्र थे। श्री नांगप्पा ने वादी से यह कहा कि चूंकि वह लन्दन जा रही है अतः वह उसके रिश्तेदार, प्रतिवादी, प्रतिवादी के दो मित्रों को कलकत्ता से अपनी अनुपस्थिति की अवधि के दौरान अनुज्ञप्तिधारी के रूप में अपने फ्लैट में रहने की अनुज्ञा दे दें और यह कि वे उसे लन्दन से वापस आने पर खाली कर देंगे। वादी सहमत हो गई। उसके पश्चात् सितम्बर, 1969 में

प्रतिवादी और उसके दो मित्रों ने वादी को निम्नलिखित पत्र प्रदर्श 1 लिखा :

तारीख

"श्रीमती लीला सिन्हा राय
64, क्वीन्स मैन्सन्स
12, पार्क स्ट्रीट
कलकत्ता-16
महोदया,

64, क्वीन्स मैन्सन्स में आपका परिसर :

आपके साथ हुए विचार-विमर्श के संदर्भ में हम निम्नलिखित की पुष्टि करते हैं :

(1) आप हमें उपर्युक्त परिसर के केवल 6 मास की अवधि के लिए 16 सितम्बर, 1969 से अधिभोग करने की इजाजत और अनुज्ञप्ति दें।

(2) हम आपको 600 रु० प्रति मास की अनुज्ञप्ति फीस देंगे और हम प्रयुक्त की गई और/या हमारे द्वारा उक्त अवधि में उपयुक्त विजली, पानी, गैस और टेलीफोन के सभी बिलों का भी संदाय करेंगे।

(3) उक्त 6 मास के बीत जाने पर हम उक्त परिसर को खाली करने का और उक्त परिसर संलग्न सूची के अनुसार सभी फर्नीचर सहित आपको सौंपने का वचन देते हैं।

(4) यह बात स्पष्ट रूप से समझ ली गई है कि इस करार का किन्हीं भी परिस्थितियों में किराएदारी के रूप में अर्थान्वयन नहीं किया जाएगा और अनुज्ञप्ति की अवधि उक्त 6 मास के बीत जाने पर समाप्त हो जाएगी जब तक कि उसे आपसी करार द्वारा बढ़ाया न जाए।

(5) अधोहस्ताक्षरिती अनुज्ञप्ति फीस और अन्य ऊपरलिखित राशियों के संदाय के लिए संयुक्त रूप से और पृथक रूप से उत्तरदायी होंगे।

यह पत्र आपको 2 प्रतियों में भेजा जा रहा है और हम आपसे यह प्रार्थना करते हैं कि आप इन निबन्धनों की स्वीकृति स्वरूप दोनों प्रतियों पर अपने हस्ताक्षर कर दें।

भवदीय
ह०/-
गणपति करिअप्पा
सी० बी० अभिशेखर
पी० एन० देवाया"

पत्र के साथ एक सूची संलग्न की गई है, जिसमें हर एक कमरे के फर्नीचर, फिक्सचर, रेफ्रीजिरेटर, रसोई का सामान और वादी की क्राकरी आदि,

जो उस फ्लैट में थी, प्रगणित की गई है। प्रतिवादी और उसके मित्र अपनी व्यक्तिगत चीजों के अलावा कुछ भी लेकर फ्लैट में नहीं आए। प्रतिवादी ने उक्त सूची में यथावर्णित फ्लैट में रखी गई वादी की वस्तुओं को अपने भारसाधन में लिया। उसने फ्लैट में वादी के टेलीफोन का भी प्रयोग किया। वादी लन्दन में अपने पुत्र के साथ लगभग 6 मास रहकर 1970 के आरम्भ में वापस आ गई और इलाहाबाद बैंक के स्टाफ कॉलेज में सेवा की संविदा के आधार पर मैट्रन और एडमिनिस्ट्रेटिव आफिसर का पद सम्भाल लिया। उक्त सेवा की संविदा के अधीन उसे कलकत्ता में अलीपुर में क्वार्टर भी दिया गया। उसने इस पद पर 1970 के प्रारम्भ से लेकर अक्तूबर, 1974 तक, जब वह सेवा की संविदा समाप्त हुई, कार्य किया। इस बीच प्रतिवादी का विवाह हो गया और उसके मित्र 1971 में वादगत फ्लैट को छोड़कर चले गए। प्रतिवादी अपनी पत्नी को फ्लैट में ले आया और अपने कुटुम्ब के साथ इसका एकमात्र अधिभोगी बन गया। इलाहाबाद बैंक द्वारा दिए गए क्वार्टर में रहने के दौरान वादी कुछ सामान रखने अथवा लेने के लिए वादगत फ्लैट में आया करती थी। चूंकि उसे यह आशा थी कि उसका पुत्र आने वाला है इसलिए उसने मकान मालिक की अनुज्ञा से एक स्नानघर का निर्माण कराया जिसके लिए उसका किराया 10% बढ़ा दिया गया। अक्तूबर, 1974 में वादी वादगत फ्लैट में वापस आ गई और प्रतिवादी ने एक कमरा और स्नानघर उसके प्रयोग के लिए खाली कर दिया। वादी का पक्षकथन यह है कि प्रतिवादी की प्रार्थना पर उसने उसे शेष भाग पर कुछ और समय के लिए अधिभोग करने के लिए अनुज्ञात कर दिया और यह कि वह भी प्रतिवादी के साथ बैठक का इस्तेमाल करती थी। फ्लैट के मुख्य द्वार की चावियों के दो सैटों में से एक सैट वादी के पास रहता था। बिजली का खर्च पक्षकारों द्वारा आधा-आधा उठाया जाना था। 1975 के अन्त में वादी ने प्रतिवादी से फ्लैट खाली करने के लिए कहा क्योंकि उसका पुत्र लन्दन से आने वाला था। प्रतिवादी ने इनकार कर दिया। वादी का पुत्र दिसम्बर, 1975 में कलकत्ता आया और जनवरी, 1976 में लन्दन वापस चला गया। वादी ने अपने अधिवक्ता की मार्फत तारीख 14 जून, 1976 वाला एक नोटिस (प्रदर्श 2) भेजा जिसके पैरा 1 में यह कथन किया गया था :

> "यह कि मेरे मुवक्किल ने कलकत्ता के 12, पार्क स्ट्रीट स्थित 64, क्वीन्स मैन्सन्स में 4 कमरे और एक स्नानघर का अधिभोग करने की इजाजत और अनुज्ञप्ति यह निश्चित बात तय करके दी थी कि वह उसे जब मेरे मुवक्किल को आवश्यकता हो खाली कर देगा।"

प्रतिवादी से उक्त नोटिस द्वारा वादगत फ्लैट को नोटिस की प्राप्ति की तारीख से अगली तारीख को खाली करने के लिए कहा गया था। प्रतिवादी को वह नोटिस 19 जून, 1976 को प्राप्त हुआ। प्रतिवादी ने उक्त नोटिस का उत्तर नहीं दिया। किन्तु साक्ष्य में उसने यह दावा किया है कि वह और उसके मित्र उस फ्लैट में संयुक्त किराएदार थे और अपने मित्रों के चले जाने के पश्चात् उसने एकमात्र किरायेदार के रूप में उस फ्लैट का अधिभोग किया। उसका यह कहना है कि तब से वह उस फ्लैट पर अनन्य रूप से काबिज है। किन्तु अपनी प्रतिपरीक्षा में उसने यह स्वीकार किया है कि उसके पास यह दर्शित करने वाली कोई चीज नहीं है कि वह किराएदार के रूप में फ्लैट का अधिभोगी है।

3. विचारण न्यायालय के विद्वान् न्यायाधीश ने प्रतिवादी की बेदखली के लिए वाद यह अभिनिर्धारित करते हुए डिक्री कर दिया कि प्रतिवादी वादगत सम्पत्ति में अनुज्ञप्तिधारी था क्योंकि पक्षकारों का आशय अनुज्ञप्ति सृष्ट करना था न कि पट्टा। उसने 19 जून, 1976 तक अनुज्ञप्ति फीस की बकाया के रूप में 2,653 रु०, विद्युत प्रभार की बकाया के रूप में 462 रु० और 20 जून, 1976 से अन्तःकालीन लाभ 400 रु० प्रतिमास की दर पर प्रतिवादी को अधिनिर्णीत किए।

4. अपीलार्थी की ओर से यह दलील दी गई कि मामले के तथ्यों और परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए विद्वान् न्यायाधीश को यह अभिनिर्धारित करना चाहिए था कि प्रतिवादी किराएदार है और वादगत सम्पत्ति में अनुज्ञप्तिधारी नहीं है। इस सम्बन्ध में **एसोशिएटिड होटलस** बनाम **आर० एन० कपूर**[1], **मोहन लाल नारायण दास** बनाम **लक्ष्मी दास**[2], **कदरत उल्लाह** बनाम **म्युनिसिपल बोर्ड**[3] में उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयों का और **ऐरिंगटन** बनाम **ऐरिंगटन**[4] और **काब** बनाम **लेन**[5] में लन्दन में कोर्ट आफ अपील के विनिश्चयों का अवलम्ब लिया है। इसके विपरीत प्रत्यर्थी के विद्वान् अधिवक्ता ने **एम० एन० कलबवाला** बनाम **फिदा हुसैन**[6], **ई० मॉस लि०** बनाम **ब्राउन**[7] वाले विनिश्चयों का और मैंगारी कृत रैन्ट ऐक्ट्स जिल्द 1, पृ० 54 का अवलम्ब लिया है।

---

[1] [1968] 1 उम० नि० प० 54=ए० आई० आर० 1968 एस० सी० 933.
[2] [1971] 1 उम० नि० प० 816=(1971) 1 एस० सी० सी० 276.
[3] [1974] 1 उम० नि० प० 854=ए० आई० आर० 1974 एस० सी० 396.
[4] (1952) 1 आल इंगलैंड लॉ रिपोर्ट्स 149.
[5] (1952) 1 आल इंगलैंड लॉ रिपोर्ट्स 1199.
[6] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 610.
[7] (1946) 2 आल इंगलैंड लॉ रिपोर्ट्स 557.

5. इन विनिश्चयों में यह अवधारित करने के लिए जो सिद्धान्त प्रवाहित हो रहे हैं कि क्या किसी करार से अनुज्ञप्ति सृष्ट होती है अथवा पट्टा, न्यूनाधिक रूप से सुस्थिर हैं। ऐरिंगटन बनाम ऐरिंगटन[1] में लार्ड डेनिंग ने इस विषय पर आंग्ल मामले के प्रति निर्देश करने के पश्चात् यह मत (पृ० 153 पर) व्यक्त किया :—

> "इन सभी मामलों का परिणाम यह है कि यद्यपि वह व्यक्ति जिसे अनन्य कब्जा दिया जाता है, प्रथमदृष्टया किराएदार समझा जाता है, तो भी यदि परिस्थितियां किराएदारी सृष्ट करने के किसी आशय का खण्डन करती हों तो उसे ऐसा किराएदार नहीं समझा जाएगा। केवल शब्द ही पर्याप्त नहीं हैं। पक्षकार किराएदारी को मात्र अनुज्ञप्ति कहकर उसे अनुज्ञप्ति में नहीं बदल सकते। किन्तु यदि परिस्थितियां और पक्षकारों के आचरण से यह दर्शित होता है कि जो कुछ आशयित था वह अधिभोगी को उस भूमि में किसी हित के बिना वैयक्तिक विशेषाधिकार अनुदत्त करना था तो उसे केवल अनुज्ञप्तिधारी ही माना जाएगा।"

मैगारी कृत रैन्ट ऐक्ट्स जिल्द 1 के पृ० 55 पर विद्वान् लेखक ने काब बनाम लेन[2] में लार्ड डेनिंग की मताभिव्यक्तियों को निम्नलिखित रूप में उद्धृत किया है :—

> "इन सभी मामलों में प्रश्न आशय का है, क्या परिस्थितियों से और पक्षकारों के आचरण से यह दर्शित होता है कि केवल यही आशयित था कि अधिभोगी को वैयक्तिक विशेषाधिकार दिया जाए किन्तु भूमि में उसका कोई हित न हो? यदि ऐसा है तो उसे अनुज्ञप्तिधारी मानना होगा। यह कहा गया है कि एक ऐसा स्वर्णिम नियम है जो व्यापक रूप से लागू होता है और वह यह है कि विधिक सम्बन्ध बनाते समय विधि वह आशय अभ्यारोपित नहीं करती जिसका परिस्थितियां और पक्षकारों का आचरण इस प्रकार के आशय का खण्डन करते हैं।"
> [बुकर बनाम पामर (1942) 2 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 674, 677 वाले मामले में लार्ड ग्रीन के मतानुसार]

साम्पार्श्विक परिस्थितियों के बारे में मैगारी ने फाचिनी बनाम ब्राइसन[3] वाले मामले में लार्ड डेनिंग की मताभिव्यक्तियों को उद्धृत किया है :—

---

[1] (1952) 1 आल इंग्लैंड लॉ रिपोर्ट्स 149.

[2] (1952) 1 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 1199.

[3] (1952) 1 टी० एल० आर० 1386, 1389.

"इन सभी मामलों में जिनमें अधिभोगी को अनुज्ञप्तिधारी माना गया है परिस्थितियों में कुछ ऐसी बात रही है जैसे कि कौटुम्बिक व्यवस्था, मित्रता अथवा उदारता का कोई कार्य अथवा उसी भांति का कोई अन्य कार्य जो किराएदारी सृष्ट करने के किसी आशय का खण्डन करते हों।"

6. ई० मोस लि० बनाम ब्राउन[1] वाले मामले में श्री ब्राउन, किराएदार ने युद्ध के दौरान 1944 में सेवा शुरू की तो उसकी पत्नी श्रीमती ब्राउन ने, जो स्काटलैण्ड चली गई थी अपने दो मित्रों को फ्लैट का अनन्य क़ब्जा दे दिया और किराएदारों को फर्नीचर रखने के लिए अनुज्ञात कर दिया जिसके लिए साप्ताहिक रकम का संदाय किया जाना था किन्तु उस व्यवस्था को समाप्त करने के लिए नोटिस की बाबत कुछ नहीं कहा गया है। कोर्ट आफ अपील ने बहुमत द्वारा यह अभिनिर्धारित किया कि अधिभोगी अनुज्ञप्तिधारी है और उस फ्लैट में कोई किराएदार नहीं था। समरविल एल० जे० ने (पृ० 560) श्रीमती ब्राउन के मित्रों को उन कमरों का प्रयोग करने और उसमें सोने के लिए इस आधार पर अनुज्ञात किया था कि वह उनके प्रयोग में हस्तक्षेप किए बिना अपनी आवश्यकतानुसार वहां आये-जायेगी। तथ्य यह है कि श्रीमती ब्राउन कौटुम्बिक सम्पत्ति पर, जो कदाचित इस परिसर में थी, ऐसी पहुंच रखना चाहती थी जिससे कि वह इच्छानुसार उसमें आ-जा सके और उसमें से जो कुछ वह लेना चाहे लेगी आदि-आदि। उन परिस्थितियों में काउन्टी कोर्ट जज के इस निष्कर्ष को कायम रखा गया कि अधिभोगी अनुज्ञप्तिधारी थे।

7. सोहन लाल नारायण दास बनाम लक्ष्मी दास[2] वाले मामले में विद्वान् मु० न्या० शाह ने सुखाचार अधिनियम की धारा 52 और सम्पत्ति अन्तरण अधिनियम की धारा 105 के प्रति निर्देश करने के पश्चात् निर्णय देते समय यह मत व्यक्त किया :—

"अनुज्ञप्ति अनुदाता की स्थावर सम्पत्ति में या पर कोई कार्य करने या करते रहने का अधिकार प्रदत्त करती है जो यदि वह अधिकार न दिया गया होता तो वह कार्य अविधिपूर्ण होता किन्तु यह अनुदाता की स्थावर सम्पत्ति में कोई सम्पदा अथवा हित सृष्ट नहीं करती। इसके विपरीत पट्टा हस्तांतरित सम्पत्ति में हित सृष्ट करता है।

8. किसी करार के पक्षकारों के आशय का पता साम्पार्श्विक परिस्थितियों को ध्यान में रखते हुए परीक्षा किए गए करार के निबन्धनों से लगाया जाना

---

1 (1946) 2 आल इंग्लैंड ला रिपोर्ट्स 557.

2 [1971] 1 उम० नि० प० 816=(1971) 1 एस० सी० सी० 276.

चाहिए। पक्षकारों द्वारा दिया गया विवरण आशय का साक्ष्य हो सकता है किन्तु यह विनिश्चायक नहीं होता। पट्टा सृष्ट करने के लिए समुचित शब्दों का प्रयोग मात्र करार को अनुज्ञप्ति के रूप में प्रवृत्त करने से प्रवारित नहीं करेगा। ऐसा उल्लेख भी कि करार किराएदारी सृष्ट करता है विनिश्चायक नहीं है। हर एक मामले में निर्णायक कसौटी यह है कि क्या दस्तावेज, करार की विषय-वस्तु अर्थात् सम्पत्ति में कोई हित सृष्ट करने अथवा सृष्ट न करने के लिए आशयित है। यदि वास्तव में यह सम्पत्ति में हित सृष्ट करने के लिए आशयित है तो यह पट्टा है यदि यह इस प्रकार आशयित नहीं है तो यह अनुज्ञप्ति है। यह अवधारित करने के लिए कि क्या करार पट्टा सृष्ट करता है अथवा अनुज्ञप्ति, अनन्य कब्जे की कसौटी यद्यपि विनिश्चायक नहीं है तो भी महत्वपूर्ण है। (देखें, **एम० एन० क्लबवाला बनाम फिदा हुसैन साहिब**[1])

9. प्रस्तुत मामले में इस व्यवस्था की साम्पार्श्विक परिस्थिति ऐसी है जिससे यह पता चलता है कि वादी के पति के मित्र श्री नांगप्पा, जनरल करिअप्पा के भाई ने वादी से अपने नातेदार, प्रतिवादी को लन्दन में रहने के समय उसकी अनुपस्थिति के दौरान अपने दो मित्रों को फ्लैट का इस शर्त पर अधिभोग अनुज्ञात करने के लिए प्रार्थना की कि वे उसे 6 मास पश्चात् लन्दन से उसकी वापसी पर खाली कर देंगे। वादी ने प्रार्थना स्वीकार कर ली और इस प्रकार यह व्यवस्था अस्तित्व में आई। इस प्रकार यह वादी के मृत पति के मित्र के नातेदार के लिए वास सुविधा की आवश्यकता के सम्बन्ध में सहानुभूतिपूर्ण कार्य था। इस प्रकार यह व्यवस्था वादी की ओर से एक मैत्रीपूर्ण कार्य से उत्पन्न हुई थी। वह नियत राशि, जो अधिभोगी द्वारा संदेय थी, सितम्बर, 1969 वाले पत्र (प्रदर्श 1) में वर्णित की गई थी जिस पत्र में प्रतिवादी और उसके मित्रों के अधिभोग के निबन्धन और शर्तें थीं और उक्त राशि को अनुज्ञप्ति फीस कहा गया था। वादी ने उन संदायों का सेवा प्रभार के रूप में उल्लेख करते हुए रसीदें दी थीं। वादी ने अपने साक्ष्य में उस रकम को किराया कहा है किन्तु यहां तक कि यदि संदायों को किराया कहा जाता है तो भी अधिभोगी अनुज्ञप्तिधारी हो सकता है। संदायों को किराया कहना किराएदारी का निश्चायक साक्ष्य नहीं है।

10. ये दलीलें दी गई हैं कि यह तथ्य कि वादी ने लन्दन से वापस आने के पश्चात् प्रतिवादी से फ्लैट खाली करने के लिए नहीं कहा, यह कि वह उसके पश्चात् कई वर्षों तक प्रतिवादी द्वारा फ्लैट का लगातार अधिभोग करने

---

[1] ए० आई० आर० 1965 एस० सी० 610.

के लिए सहमत हो गई और यह कि उसने फ्लैट का किराया 600 रु० प्रति मास से घटा कर 400 रु० प्रति मास कर दिया और अक्तूबर, 1974 में फ्लैट में एक कमरे का अधिभोग करने से पूर्व उसने एक स्नानघर निर्मित कराया। इन सबसे यह पता चलता है कि वादी का आशय उस फ्लैट को प्रतिवादी को किराए पर देने का था किन्तु दलीलों को स्वीकार नहीं किया जा सकता। वादी ने लन्दन से अपनी वापसी के पश्चात् एक सेवा की संविदा की जिस सेवा के लिए उसे अलीपुर में क्वार्टर दिया गया जहां उसे अक्तूबर, 1974 तक सेवा के सम्बन्ध में रहना पड़ा। उस अवधि के दौरान उसे वादगत फ्लैट की आवश्यकता नहीं थी। इस प्रकार यह कारण समझ में आने वाले हैं कि वादी ने प्रतिवादी से फ्लैट खाली करने के लिए नहीं कहा। किन्तु बैंक के क्वार्टर में रहने के दौरान वह चीजें रखने या लेने के लिए वादगत फ्लैट में आया करती थी। फ्लैट के मुख्य प्रवेश द्वार की चाबियों का एक सैट वादी के पास था। उसने फ्लैट में एक स्नानघर निर्मित कराया था क्योंकि उसका पुत्र 1972 में किसी समय लन्दन से आने वाला था। भले ही अन्ततोगत्वा वह नहीं आ पाया। प्रतिवादी द्वारा संदेय मासिक रकम को, उसके एक कमरे को खाली कर देने के कारण, जिसकी वादी को आवश्यकता थी, 600 रु० से घटाकर 400 रु० किया जाना और विद्युत प्रभार दोनों के द्वारा दिया जाना ऐसी रियायतें है जो वादी की ओर से अपने पति के मित्र के नातेदार के साथ व्यवहार में सहानुभूति और युक्तियुक्तता उपदर्शित करती हैं। उस अवधि के दौरान पक्षकारों के बीच सम्बन्ध प्रकटतः सौहार्दपूर्ण थे। वादी का यह कहना है कि प्रतिवादी के साथ कोई नया करार नहीं किया गया था और पुरानी व्यवस्था (ऐसी रियायतों के अधीन) चलती रही। उसने प्रतिवादी को उसके द्वारा प्रार्थना किए जाने पर कुछ और समय के लिए रहने के लिए अनुज्ञात कर दिया। उसका पक्षकथन बिल्कुल अधिसम्भाव्य है। प्रतिवादी का यह भी कहना नहीं है कि वादी के साथ कोई नया करार किया गया था यद्यपि उसने इस बात से इनकार किया है कि उसने वादी से यह प्रार्थना की कि वह उसे अतिरिक्त अवधि के फ्लैट में रहने के लिए अनुज्ञात करे। किन्तु उसने यह स्वीकार किया है कि लिखित में यह दर्शित करने वाली कोई बात नहीं है कि वह वादगत फ्लैट में किराएदार के रूप में अधिभोगी था। यह एक स्वाभाविक मानवीय आचरण भी नहीं है कि वादी मकान मालिक की लिखित सम्मति के बिना परिसर को शिकमी किराए पर देकर वैस्ट बंगाल प्रिमिसेज टेनेन्सी ऐक्ट, 1956 के उपबंधों के अधीन फ्लैट से स्वयं अपनी बेदखली का जोखिम उठाएगी।

11. उन परिस्थितियों पर विचार करते हुए जो उस समय थीं जब यह

व्यवस्था की गई जो वादी के पति के मित्र के नातेदार के लिए वादी की सहानुभूति से उत्पन्न हुई थी जिसके अधीन प्रतिवादी और उसके दो मित्रों ने, जो सभी कुंवारे थे, वादी के समस्त फर्नीचर, फिक्सचर्स, रेफ्रीजिरेटर, टेलीफोन, रसोई का सामान और क्राकरी आदि का, जो उस फ्लैट में रखी हुई थी, इस शर्त पर अधिभोग किया कि प्रतिवादी को इसे 6 मास के पश्चात् मांग किए जाने पर खाली करना होगा और उसके लिए नोटिस की कोई आवश्यकता नहीं होगी। वादी बैंक क्वाटर्स में रहने के दौरान फ्लैट पर उसका आना-जाना और फ्लैट के मुख्य प्रवेश द्वार की चाबियों का एक सैट उसके पास रहना, वादी द्वारा मासिक संदाय की दर घटाने में दी गई रियायतें और विद्युत प्रभारों और प्रतिवादी के एक कमरा और स्नानघर वादी के इस्तेमाल के लिए खाली किए जाने के पश्चात् विद्युत प्रभारों का भी दोनों के द्वारा दिया जाना और प्रतिवादी द्वारा यह प्रार्थना किया जाना कि फ्लैट खाली करने के लिए उसे कुछ और समय दिया जाए, इन सभी उपर्युक्त परिस्थितियों से और पक्षकारों के आचरण से यह पता चलता है कि प्रतिवादी को एक वैयक्तिक विशेषाधिकार प्राप्त था, किन्तु वादगत फ्लैट में कोई हित प्राप्त नहीं था। विद्वान् न्यायाधीश ने यह ठीक ही अभिनिर्धारित किया है कि वह एक अनुज्ञप्तिधारी है और वह अनुज्ञप्ति 19 जून, 1976 से विधिमान्य रूप से समाप्त की गई थी। विद्वान् न्यायाधीश के अन्य निष्कर्षों को इस आधार पर और कोई चुनौती नहीं दी गई है कि प्रतिवादी एक अनुज्ञप्तिधारी था।

12. अतः अपील खारिज की जाती है। विचारण न्यायालय के निर्णय और डिक्री की पुष्टि की जाती है। खर्चे के बारे में कोई आदेश नहीं किया जा रहा है।

अपील खारिज की गई।

श०

नि० प० 1984 : कलकत्ता—30

मै० लिपटन (इंडिया) लि० और एक अन्य बनाम पश्चिमी बंगाल राज्य और अन्य

[M/s. Lipton (India) Limited and another *Vs.* State of West Bengal and others]

तारीख 14 जुलाई, 1983

[न्या० मनशा नाथ रे]

वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1963—धारा 2 (13)—सपठित संविधान—अनुच्छेद 226 और साक्ष्य अधिनियम, 1872—धारा 114—सरकार द्वारा धारा 2(13) के अधीन अधिसूचना द्वारा पिटीशनर-कम्पनी के डिपो—परिसर को, उन्हें सुनवाई का अवसर दिए बिना, दुकान घोषित किया जाना—सरकार द्वारा अधिसूचना को न्यायोचित ठहराने वाली सामग्री न्यायालय के सामने पेश न किए जाने के कारण विधि की उपधारणा सरकार के विरुद्ध की जानी चाहिए।

2. वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1963—धारा 2(13)—'दुकान' पद की अर्थव्याप्ति—सम्पूर्ण देश में चाय के भण्डारकरण के प्रयोजनार्थ पिटीशनर कम्पनी के डिपो-परिसर दुकान नहीं हैं।

राज्य सरकार ने वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेबिलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1963 की धारा 2 (13) के अधीन अधिसूचना जारी करके पिटीशनर सं० 1 के चाय के डिपो को, जिनका सम्पूर्ण देश में भिन्न स्थानों पर चाय के भण्डारकरण के प्रयोजनार्थ प्रयोग किया जाता था, दुकान घोषित कर दिया। पिटीशनर ने एक न्यायादेश उक्त अधिसूचना की विधिमान्यता के विरुद्ध अभिप्राप्त किया। प्रत्यर्थियों की ओर से कोई भी व्यक्ति हाजिर नहीं हुआ और न ही उनकी ओर से कोई शपथपत्र फाइल किया गया। पिटीशनर ने सम्बद्ध अधिकारियों के समक्ष कई बार अभ्यावेदन किया किन्तु यह सब व्यर्थ रहा। अतः पिटीशनरों ने इस न्यायालय के समक्ष समावेदन किया है और यह दावा किया है कि आक्षेपित अधिसूचना उनके डिपो को लागू नहीं होती क्योंकि राज्य सरकार धारा 2(13) के अधीन अधिसूचना द्वारा उनके परिसर को दुकान के रूप में घोषित करने के लिए प्राधिकृत नहीं है। पिटीशनरों के कोई ऐसे परिसर नहीं है जो उक्त धारा के अधीन दुकान की परिभाषा के अर्थ के भीतर आते हों। यह भी दलील दी गई कि यदि ऐसी अधिसूचना का आशय किसी दुकान को साधारण रूप

से लागू होना था तो सम्बद्ध प्राधिकारियों को उसे जारी किए जाने के पूर्व उन्हें सुनवाई का आवश्यक अवसर देना चाहिए था। ऐसा अवसर देने में असफलता के कारण अधिसूचना शून्य है और वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्तों के विरुद्ध है और साथ ही उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के शक्तिबाह्य है।

अभिनिर्धारित—न्यायादेश आत्यंतिक बनाया गया।

न्यायालय को सुसंगत सामग्री उपलभ्य कराए बिना अधिसूचना में मात्र यह कथन किया जाना पर्याप्त नहीं होगा कि पिटीशनरों के डिपो के रूप में प्रयुक्त सभी परिसर में किए जा रहे कार्य की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात्, जैसा कि उपदर्शित किया गया है, उक्त अधिनियम के प्रयोजनार्थ ग्राहक के परिसर पर विक्रय होता है। प्राधिकारियों के पास न्यायालय का समाधान करने के लिए हर एक सुविधा थी जो कि समाधान का आधार हो सकती थी और उन्होंने ऐसे अवसर का लाभ न उठाने का विकल्प अपनाया अतः विधि में उनके विरुद्ध उपधारणा की जानी चाहिए। वस्तुतः वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेब्लिशमैंट्स ऐक्ट, 1963 की धारा 2(13) के उपबंध सम्बद्ध दुकान पर किए जा रहे कार्य की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् अधिसूचना का जारी किया जाना प्राधिकृत करते हैं और अवसर के पश्चात् दुकान की बाबत आवश्यक घोषणा किए जाने से पूर्व सुनवाई और आवश्यक विचार अपेक्षित है। स्वीकृत रूप से इस मामले में यह नहीं किया गया था। (पैरा 17 और 18)

यह बात प्रकट है कि 'दुकान' से ऐसा परिसर अभिप्रेत है जहां माल या तो खुदरा अथवा थोक में बेचा जाता है अथवा जहां ग्राहकों को माल दिया जाता है और इसके अन्तर्गत कोई कार्यालय भण्डारगृह, गोदाम, भाण्डागार अथवा कार्य का स्थान आता है चाहे वह उसी परिसर में हो अथवा अन्यत्र, जिसका मुख्य रूप से, ऐसे कारबार अथवा कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है किन्तु इसके अन्तर्गत कोई कारखाना, वाणिज्यिक स्थापन निवासीय होटल, रेस्टोरेन्ट, प्रतीक्षा-गृह, थियेटर अथवा लोक मनोविनोद अथवा मनोरंजन का कोई अन्य स्थान नहीं है। इस प्रकार दुकान प्राथमिक रूप से ऐसा स्थान हो सकती है जहां माल खरीदा और बेचा जाता हो और ऐसे शब्द से कोई भवन द्योतित होता है जिसका प्राथमिक रूप से माल के खुदरा विक्रय के लिए प्रयोग किया जाता है। अतः 'दुकान' ऐसी होनी चाहिए जहां व्यापार अथवा बिक्री की जाती है अथवा किसी परिनिश्चित परिसर में की जाती है अर्थात् वह ऐसा स्थान अथवा कमरा अथवा भवन होना चाहिए जहां माल बेचा जाता है। इस प्रकार पिटीशनरों के डिपो, जहां कोई व्यापारिक क्रियाकलाप नहीं किया जाता अथवा उस आशय का कोई विधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है और विशेष रूप से जब उपलभ्य साक्ष्य अन्यथा है तो

वह उक्त अधिनियम के निबन्धनों के अनुसार अथवा के अधीन दुकान नहीं होगी और इस आशय की दलील में सार है कि उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के पीछे विधायी आशय पिटीशनरों की ऐसी छोटी दुकानों/डिपो को उसके अन्तर्गत लाना नहीं था (पैरा 15 और 16)

		पैरा
[1978]	ए० आई० आर 1978 आन्ध्र प्रदेश 146 : लिपटन (इंडिया) लि० बनाम सचिव सरकारी नियोजन और समाज कल्याण (श्रम 1) आन्ध्र प्रदेश सरकार [Lipton (India) Ltd. *Vs.* Secretary to Govt Employment and Social Welfare (Labour-1) Government of Andhra Pradesh];	11
[1972]	ए० आई० आर० 1972 मद्रास 173 : पी० सी० आर० चेट्टीज चेरिटीज बनाम कमिश्नर आफ लेबर, मद्रास (P.C.R. Chetty's Charties *Vs.* Commissioner of Labour, Madras);	14
[1963]	ए० आई० आर० 1963 पंजाब 148 : रामचन्द्र बनाम राज्य (Ram Chander *Vs.* State);	10,13
[1955]	ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 62 : कालीदास धनजी भाई बनाम मुम्बई राज्य (Kalidas Dhanjibhai *Vs.* State of Bombay);	10
[1950]	(1950) 54 कलकत्ता वीकली नोट्स 850 : अमूल्य पाल बनाम आर० एम० राय (Amulya Pal *Vs.* R. M. Roy);	15
[1923]	ए० आई० आर० 1923 इलाहाबाद 209 : सन्त सिंह बनाम गोविन्द राम (Sant Singh *Vs.* Gobind Ram)	15

का अवलम्ब लिया गया।

सिविल रिट अधिकारिता : 1977 का सिविल न्यायादेश सं० 6211.

राज्य सरकार की तारीख 12 फरवरी, 1975 की अधिसूचना के विरुद्ध किया गया पिटीशन।

पिटीशनरों की ओर से ... सर्वश्री बी० सी० दत्त, आर० एन० दास और शिव कुमार मजूमदार

प्रत्यर्थियों की ओर से ... —

न्या० मनशा नाथ रे :

यद्यपि यह न्यायादेश जो वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1963 (जिसे इसमें इसके पश्चात् उक्त अधिनियम कहा गया है) की धारा 2(13) के अधीन तारीख 12 फरवरी, 1975 की अधिसूचना को और उक्त अधिनियम के कतिपय उपबंधों की विधिमान्यता को चुनौती देते हुए तारीख 23 दिसम्बर, 1977 को अभिप्राप्त किया गया था और तामील के बारे में यह न्यायादेश 6 सितम्बर, 1968 को किया गया था किन्तु प्रत्यर्थियों की ओर से कोई भी व्यक्ति हाजिर नहीं हुआ अथवा उनकी ओर से प्रतिशपथ-पत्र फाइल करने के लिए कोई कदम नहीं उठाया गया। इस बात पर ध्यान दिया जाना चाहिए कि न्यायादेश जारी करते समय एक अन्तरिम आदेश किया गया था जिसके द्वारा सम्बद्ध प्रत्यर्थियों को यथाआक्षेपित सूचना को प्रभावी करने से और उक्त अधिनियम के उपबंधों को उनके डिपो/गोदामों को लागू करने से अवरुद्ध किया गया था और पिटीशनरों के विरुद्ध कोई सिविल और दाण्डिक कार्यवाही इस आधार पर करने के लिए कि उन्होंने उक्त अधिनियम के उपबंधों को उनके डिपो के बारे में आवेदन के अंतिम निपटारे तक लागू न करने के लिए अवरुद्ध किया था। उनको सीमित अवधि के लिए अवरुद्ध किया गया था और ऐसे अन्तरिम आदेश के बारे में उसके पश्चात् यह निदेश दिया गया था कि वह 5 जनवरी, 1978 तक, न्यायादेश के निपटारा किए जाने तक जारी रहेगा और प्रत्यर्थियों को यह छूट होगी कि वे पिटीशनरों को नोटिस देकर उसमें फेर-फार कराने के लिए अथवा उसे प्रभावोन्मुक्त कराने लिए आवेदन दे सकेंगे।

2. पिटीशनर सं० 1, लिपटन (इंडिया) लि० (जिसे इसमें इसके पश्चात् उक्त कम्पनी कहा गया है) युनाइटेड किंगडम की समुचित विधियों के अधीन निगमित कम्पनी है और पिटीशनर सं० 2 उक्त कम्पनी के शाखा कार्यालय कलकत्ता में उसके शाखा प्रबन्धक के रूप में नियोजित है। यह सुविदित है कि उक्त कम्पनी अपने ब्रांड और नाम से पूरे भारत में चाय का मिश्रण करने, पैकेट बनाने और उसकी बिक्री करने का कारबार करती है। यह कथन किया गया है कि ऐसे प्रयोजनों के लिए उक्त कम्पनी की दिल्ली, मुम्बई, मद्रास, कलकत्ता, नागपुर और अहमदाबाद में शाखाएं हैं। पिटीशनरों का यह पक्षकथन है कि चाय के सम्मिश्रण और पैकेट बनाने का कार्य कलकत्ता और मद्रास स्थित कारखानों में किया जाता है और पूरे देश में उक्त कम्पनी के अपने डिपो हैं जहां चाय का

भण्डारकरण किया जाता है और ऐसे हर डिपो का भारसाधक उक्त कम्पनी द्वारा नियोजित बिक्रीकर्ता होता है। यह कथन किया गया है कि ऐसे डिपो, जिसका ऊपर उल्लेख किया गया है, के बिक्रीकर्ता के कृत्यों की प्रकृति इस प्रकार है :—

(क) डिपो का प्रयोग अनन्य रूप से पिटीशनर-कम्पनी की चाय के भण्डारकरण के प्रयोजनार्थ किया जाता है जिसका सम्मिश्रण और पैकेट बनाने का कार्य ऊपर वर्णित कारखानों में किया जाता है। डिपो के परिसर पर कोई विक्रय नहीं किया जाता है और न ही वहां किसी ग्राहक को माल दिया जाता है और न ही वहां पर किसी कारबार का कोई संव्यवहार ही किया जाता है। वस्तुतः हर डिपो के बाहर एक नोटिस लगा हुआ है जिसमें यह घोषणा की गई है और कम्पनी ने भी विनिर्दिष्ट रूप से यह निदेश दिया हुआ है कि "इस परिसर के भीतर ग्राहकों को माल नहीं दिया जाता और विक्रय करने की अनुज्ञा नहीं है।" पिटीशनरों का यह भी पक्षकथन है कि उन डिपो का ऐसे किसी परिसर से सम्बन्ध नहीं है जो उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के अर्थ के भीतर दुकान हो। धारा 2(13) में 'दुकान' को इस रूप में परिभाषित किया गया है जिससे अभिप्रेत है ऐसे परिसर जिनका प्रयोग पूर्णतः अथवा भागतः ग्राहकों को विक्रय की सेवा के लिए अथवा नकद अथवा उधार पर वस्तुओं अथवा वस्तुओं के थोक अथवा फुटकर विक्रय के लिए प्रयोग किया जाता है और इसके अन्तर्गत ऐसे कार्यालय, भण्डार-गृह, गोदाम और भाण्डागार हैं चाहे वे उसी परिसर में हो अथवा अन्यत्र जिनका ऐसे विक्रय के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है अथवा ऐसे विक्रय के प्रयोजनार्थ वस्तुओं के भण्डारकरण के लिए और इसके अन्तर्गत परिसर का ऐसा अन्य वर्ग या ऐसे वर्ग हैं जैसे कि राज्य सरकार वहां किए जा रहे कार्य की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात् अधिसूचना द्वारा उन्हें इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ दुकान घोषित करे किन्तु इसके अन्तर्गत स्थापन नहीं आता है।

स्पष्टीकरण : यदि इस बाबत कोई सन्देह उत्पन्न होता है कि क्या कोई परिसर दुकान अथवा वाणिज्यिक स्थापन है अथवा लोक मनोरंजन अथवा मनोविनोद के लिए स्थापन है तो यह प्रश्न रजिस्ट्रीकरण प्राधिकारी द्वारा, स्वप्रेरणा पर अथवा आवेदन किए जाने पर, राज्य सरकार को निर्देशित किया जाएगा और उस पर राज्य सरकार का विनिश्चय अंतिम होगा और पिटीशनरों का यह विनिर्दिष्ट कथन है कि हर एक डिपो एक विक्रीकर्ता के भारसाधन में है जिसका कर्त्तव्य

डिपो से माल लाना और स्थानीय और बाहर के बाजारों में परिस्थितियों और बाजार की स्थिति के अनुसार मजदूर अथवा/और हथठेले की सहायता से, ले जाना। बिक्रीकर्ता पिटीशनर की चाय का प्रचार करता है और थोक और खुदरा विक्रेताओं को उनकी दुकानों पर प्रदाय करता है। चूंकि बिक्रीकर्ता के कार्य की प्रकृति अन्तर्निहित रूप से आन्तरायिक (लगातार न चलने वाली) है, पिटीशनर कम्पनी उसके लिए कार्य का निश्चित समय नियत नहीं कर सकती और कार्य की प्रकृति से ऐसा करना सम्भव भी नहीं है। बिक्रीकर्ता पिटीशनर कंपनी की चाय की हर एक व्यवहारी के परिसर पर संयाचना करता है और नकद संदाय किए जाने पर वहीं स्टाक का प्रदाय करता है। बिक्रीकर्ता के कर्तव्यों में चाय बनाकर बेचने वाली दुकानों को और कैंटीनों को चाय का वितरण करना है जो सामान्यतः बहुत सवेरे काम करना शुरू कर देते हैं और दूर-दराज के बाजारों का भी दौरा करना होता है। चाय के स्टाक का संग्रहण करने के प्रयोजनार्थ बिक्रीकर्ता सुबह लगभग आधा घन्टा डिपो खोलता है और स्थानीय और बाहर के बाजारों का कार्य पूरा करने के पश्चात् वह पुनः दिन की समाप्ति पर लगभग आध घन्टे के लिए डिपो खोलता है जिससे कि बिना बिका हुआ स्टाक उसमें रख सके। शेष अवधि के लिए डिपो बन्द रहता है। डिपो का खोलना या बन्द करना कारबार की अभ्यावश्यकता पर निर्भर करता है और साथ ही उन गाड़ियों और बसों के समय पर भी जिनसे बिक्रीकर्ता को बाहर के बाजारों में कार्य करने के लिए यात्रा करनी होती है। पिटीशनर हर एक बिक्रीकर्ता के लिए यात्राक्रम नियत करता है और उसे (बिक्रीकर्ता को) उक्त यात्रा-क्रम के अनुसार उस क्षेत्र अथवा बाजार का दौरा करना होता है। सप्ताह में एक दिन डिपो को बिल्कुल बन्द रखा जाता है और उस दिन बिक्रीकर्ता के लिए आराम का दिन होता है। बिक्रीकर्ता डिपो में प्राप्त किए गए स्टाक और उसमें से लिए गए स्टाक की एक सूची रखता है और अपने शाखा कार्यालय को समय-समय पर रिपोर्ट भेजता है। बिक्रीकर्ता पिटीशनर कम्पनी का कर्मचारी होता है जिसे मूल वेतन, महंगाई भत्ता और उसके द्वारा बेचे स्टाक की मात्रा के आधार पर एक विशेष दर पर प्रोत्साहन पारिश्रमिक (कमीशन) दिया जाता है। उसे पिटीशनर की चाय की संयाचना (प्रचार) करने और उसका वितरण करने के अनुक्रम में उसके द्वारा उपगत अनुसूचित व्ययों की प्रतिपूर्ति

करने के लिए कुछ भत्ते का संदाय किया जाता है। बिक्रीकर्ता को छुट्टी, भविष्य निधि, उपदान आदि उसके नियोजन के निबन्धनों और शर्तों के अधीन दिए जाते हैं और उसका शाखा-कार्यक्षेत्र के भीतर किसी स्थान पर स्थानान्तरण किया जा सकता है। पिटीशनरों ने यह दावा किया है कि ऊपरवर्णित पैकेट वाली चाय के विक्रय और वितरण के लिए डिपो पद्धति एक अनूठी पद्धति है और भारत में चाय व्यापार में बहुत से वर्षों के अनुभव द्वारा उन्होंने इसको विकसित किया है।

3. यह दावा किया गया है कि चूंकि कोई विक्रय, थोक अथवा फुटकर अथवा किसी कारबार का संव्यवहार ऐसे किन्हीं डिपो के भीतर नहीं हुआ है अथवा उनमें ग्राहकों को कोई माल नहीं बेचा गया है अत: उक्त कम्पनी के डिपो परिसर को 'वाणिज्यिक स्थापन' नहीं कहा जा सकता जिससे उक्त अधिनियम की धारा 2(2) के अधीन अभिप्रेत है विज्ञापन कमीशन, अग्रेषण वाणिज्यिक अभिकरण अथवा कारखाने अथवा किसी औद्योगिक अथवा वाणिज्यिक उपक्रम का विभाग, कोई बीमा कम्पनी, ज्वायन्ट स्टाक कम्पनी, बैंक, दलाल का कार्यालय या एक्सचेंज और इसके अन्तर्गत उपक्रमों के समुत्थान के ऐसे वर्ग आते हैं जैसे कि राज्य सरकार उनके कार्य की प्रकृति को ध्यान में रखने के पश्चात् अधिसूचना द्वारा इस अधिनियम के प्रयोजनार्थ वाणिज्यिक स्थापन घोषित करे। किन्तु इसके अन्तर्गत लोक मनोरंजन अथवा मनोविनोद के लिए कोई दुकान अथवा स्थापन नहीं आता है जिसका अर्थ और परिभाषा ऊपर दी गई है। पिटीशनरों ने 3 अक्तूबर, 1980 के पत्र में यह कथन किया है कि उन्होंने पश्चिमी बंगाल के दुकान और स्थापनों के मुख्य निरीक्षक को पत्र लिखकर यह अभ्यावेदन किया था जिसमें इस बात की पुष्टि चाही गई थी कि उनके गठन, प्रकृति और कृत्यों के अनुसार वे ऊपरवर्णित वाणिज्यिक स्थापन/दुकान के अर्थ के भीतर नहीं आते हैं और उसके पश्चात् वैसी ही पुष्टि के लिए उक्त अधिनियम के अधीन प्राधिकारियों से बहुत-सा पत्र-व्यवहार किया गया किन्तु वह सब व्यर्थ और बेकार रहा।

4. तारीख 12 फरवरी, 1975 वाली आक्षेपित अधिसूचना सं० $\frac{\text{636-आई० आर०}}{\text{आई० आर० /75/79/73}}$, जो सम्बद्ध प्राधिकारियों द्वारा जारी की गई थी इस आशय की थी :

वैस्ट बंगाल शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1963 (1963 का अधिनियम सं० 13) की धारा 2 के खण्ड 13 द्वारा प्रदत्त शक्तियों का प्रयोग करते हुए राज्यपाल, ग्राहकों के परिसर पर विक्रय के लिए वस्तुओं के

भण्डारकरण के लिए डिपो के रूप में प्रयुक्त सभी परिसरों में किये जा रहे कार्य की प्रकृति पर विचार करने के पश्चात्, उन्हें उक्त अधिनियम के प्रयोजनार्थ एतद्द्वारा दुकान घोषित करते हैं।

5. पिटीशनरों ने यह दावा किया है कि उक्त अधिनियम की धारा 2(13) यह अपेक्षा करती है कि राज्य सरकार उन परिसरों/डिपो के बारे में कार्यवाही करने या उन्हें उक्त अधिनियम के प्रयोजनार्थ दुकान घोषित करने से पूर्व उन विनिर्दिष्ट परिसर दुकानों में किए जा रहे कार्य की प्रकृति के बारे में विनिर्दिष्ट 'जांच करे। यह दावा किया गया है कि प्रस्तुत मामले में पश्चिमी बंगाल सरकार ने पिटीशनरों द्वारा अपने डिपो में किए जा रहे कार्य की प्रकृति की बाबत कोई जांच, जैसी कि उक्त धारा 2(13) द्वारा अनुध्यात है, नहीं की और इसके आगे यह अभिकथन किया गया है कि प्रस्तुत मामले में जो कुछ कार्यवाही की गई है वह सभी उनके पीठ पीछे की गई है और अधिसूचना किन्हीं विशेष डिपो परिसर की बाबत कोई सोच-विचार किए बिना जारी की गई है। पिटीशनरों ने यह निवेदन किया है कि भण्डारगृह अथवा गोदामों अथवा भाण्डागारों के वे वर्ग जो 'दुकान' शब्द के अर्थ के भीतर आ सकते हैं, उक्त अधिनियम की धारा 2(13) की परिभाषा के प्रथम भाग में स्पष्ट रूप से परिभाषित किए गए हैं। अतः राज्य सरकार इस मामले में अधिसूचना जारी करने के लिए प्राधिकृत नहीं थी जो उक्त अधिनियम में अथवा उसके उपबंधों द्वारा यथापरिभाषित भण्डारगृहों, गोदामों अथवा भाण्डागारों के अर्थ को परिवर्धित, संशोधित अथवा उपान्तरित करेगी।

6. इसके अतिरिक्त पिटीशनरों का यह पक्षकथन है कि चूंकि उनके डिपो परिसर किसी अन्य दुकान से सम्बद्ध नहीं हैं और उनके बिक्रीकर्ता के बिक्री के कार्यकलाप स्थानीय और बाहर के बाज़ारों में होते हैं अतः यथाआक्षेपित अधिसूचना उक्त कम्पनी के डिपो को लागू नहीं होगी और तदनुसार उन्होंने पश्चिमी बंगाल सरकार के दुकानों और स्थापनों के मुख्य निरीक्षक को एक अन्य अभ्यावेदन 6 मार्च, 1975 को किया जिसमें उन्होंने प्रश्नगत अधिसूचना उनकी दुकानों को लागू न होने की पुष्टि चाही और उसका यही आशय था कि उनके बिक्रीकर्ता उक्त अधिनियम की परिधि के भीतर नहीं आते। चूंकि उसका कोई उत्तर नहीं मिला अतः उक्त कम्पनी ने 10 नवम्बर, 1976 को एक अन्य अभ्यावेदन किया। यह कथन किया गया है कि उक्त आशय की पुष्टि चाहने वाले बारम्बार किए गए अभ्यावेदनों के बावजूद प्राधिकारियों ने उक्त अधिनियम के अधीन लिखित में कोई अंतिम विनिश्चय संसूचित नहीं किया

बल्कि इसके विपरीत दुकान और स्थापनों के स्थानीय निरीक्षक ने उक्त कम्पनी के विक्रीकर्ता को, उक्त अधिनियम के अधीन डिपो को रजिस्टर न करने के लिए उक्त अधिनियम के अधीन कार्यवाही करने की धमकी दी। इस पर इस कम्पनी ने पुन: 4 नवम्बर, 1977 को एक अभ्यावेदन किया और ऊपरवर्णित निरीक्षक द्वारा किए गए प्रश्नों का जवाब दिया।

7. पिटीशनरों ने यह दावा किया है कि आक्षेपित अधिसूचना उनके डिपो को लागू नहीं होती क्योंकि उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के अधीन राज्य सरकार अधिसूचना द्वारा परिसरों के किसी वर्ग अथवा वर्गों को 'दुकान' के रूप में घोषित करने के लिए प्राधिकृत नहीं है और अधिक से अधिक ऐसी शक्ति का प्रयोग ऐसे परिसर के वर्ग अथवा वर्गों की बाबत किया जा सकता है जिनसे अभिप्रेत है और जिनके अन्तर्गत ऐसे परिसर आते हैं जो किसी अस्तित्वशील दुकान से सम्बद्ध हैं अथवा जिसके सम्बन्ध में उनका प्रयोग किया जाता है। यह दलील दी गई है कि चूंकि पिटीशनरों के कोई ऐसे परिसर नहीं हैं जो धारा 2(13) के अधीन 'दुकान' की परिभाषा के पूर्ववर्ती भाग के अर्थ के भीतर दुकान हों, अत: पिटीशनर के डिपो को 'परिसर के ऐसे अन्य वर्ग अथवा वर्गों के' अर्थ के भीतर नहीं लाया जा सकता जैसा कि ऊपर इंगित किया गया है। यह भी दलील दी गई है कि उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के अधीन राज्य सरकार को वस्तुओं का भण्डार करने के लिए डिपो के रूप में प्रयुक्त सभी परिसर की बाबत सामान्य नोटिस जारी करने की कोई शक्ति अथवा प्राधिकार नहीं है और विशेष रूप से इसलिए जबकि उक्त धारा विशेष परिसर की बाबत, जिस पर उन्होंने विचार किया है, अधिसूचना जारी किया जाना अनुध्यात करती है। यह भी दावा किया गया है कि यदि ऐसी अधिसूचना का आशय उक्त कम्पनी की किसी दुकान को साधारण रूप से लागू होना था तो सम्बद्ध प्राधिकारियों को उसे जारी किए जाने के पूर्व उन्हें सुनवाई का आवश्यक अवसर देना चाहिए था और ऐसा अवसर देने में असफलता ने अधिसूचना को शून्य बना दिया है और वह नैसर्गिक न्याय के सिद्धान्त के विरुद्ध है। इस प्रकार अधिसूचना के बारे में यह दावा किया गया है कि वह शून्य है और उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के शक्ति वाह्य है।

8. उपर्युक्त के अलावा यह दावा किया गया है और दलील दी गई है कि ऊपरवर्णित डिपो के कृत्य और स्वरूप इस प्रकार के हैं कि उक्त अधिनियम के उपबन्ध, जो दुकानों को लागू होते हैं, ऊपरवर्णित और इंगित डिपो को लागू नहीं होंगे। वस्तुत: यह दावा किया गया है कि यह उपबन्ध उक्त कम्पनी के डिपो को लागू करना न केवल वाणिज्यिक भाव में बल्कि व्यवहारिक दृष्टिकोण

से भी असम्भव है क्योंकि उक्त अधिनियम की धारा 6(1) और (2) कार्य के दैनिक और साप्ताहिक घन्टों पर निर्बन्धन अधिरोपित करती है। पिटीशनर कम्पनी के बिक्रीकर्ता के कार्य की प्रकृति अन्तर्निहित रूप से आन्तरायिक है और बीमाकर्ता का कार्य भी यात्रियों/प्रचारकर्ताओं जैसा होने के कारण उनके लिए काम के घन्टे नियत करना सम्भव नहीं है। वर्तमान डिपो पद्धति के अधीन पिटीशनर कम्पनी केवल हर एक बिक्रीकर्ता के लिए यात्राक्रम नियत करती है। बिक्रीकर्ता यात्राक्रम के अनुसार और उस समय के अनुसार जो वह उपयुक्त समझे स्थानीय और बाहर के बाजारों का दौरा करता है। किन्तु पिटीशनर-कम्पनी अपने बिक्रीकर्ता से यह प्रत्याशा नहीं करती कि वह उक्त अधिनियम में यथा-उपबन्धित काम के घण्टों से अधिक कार्य करे और यात्राक्रम इस प्रकार नियत किया जाता है कि बिक्रीकर्ता उक्त अधिनियम की धारा 6 के अधीन विहित काम के घण्टों के भीतर अपना काम पूरा कर सकता है। यह दावा किया गया है कि उक्त अधिनियम की धारा 6(13) यह अपेक्षा करती है कि हर कर्मचारी को काम के हर पांच घण्टे के बाद अन्तराल दिया जाए। चूंकि बिक्रीकर्ता के लिए काम के घण्टे ऊपरवर्णित कारणों से नियत नहीं किए जा सकते हैं, इसलिए बिक्रीकर्ता के लिए आराम का अन्तराल नियत करना सम्भव नहीं है। जैसा कि पहले ही स्पष्ट किया जा चुका है बिक्रीकर्ता को सुविधाजनक समय पर आराम और भोजन आदि करने की स्वतंत्रता है और उक्त अधिनियम की धारा 6(4) यह अपेक्षा करती है कि किसी दुकान के कर्मचारी के कार्य की अवधि की व्यवस्था उसके आराम के अन्तराल के साथ-साथ इस प्रकार की जाएगी जो किसी भी दिन $10\frac{1}{2}$ घण्टे से अधिक न हो। पिटीशनर-कम्पनी के बिक्रीकर्ता के कार्य की प्रकृति अन्तर्निहित रूप से आन्तरायिक होने के कारण और बिक्रीकर्ता का कार्य भी यात्री और प्रचारक जैसा होने के कारण यह सम्भव नहीं है कि उक्त अधिनियम की धारा 6(4) के अधीन काम के घण्टे कठोर रूप से नियत किए जा सकें। इसके अलावा यह दावा किया गया है कि उक्त अधिनियम की धारा 17 यह अपेक्षा करती है कि स्थापनों में कतिपय रजिस्टर और प्ररूप, नियमों में यथाविहित रूप में रखे जाएं। चूंकि बिक्रीकर्ता का कार्य पूर्ण रूप से बाहर का होता है और कोई अन्य बिक्रीकर्ता डिपो-परिसर के भीतर नहीं रहता (जो बन्द रहती है कुछ मिनट सुबह और कुछ मिनट शाम के सिवाय जब बिक्रीकर्ता अपना चाय का स्टाक लेता है और उसे वापस रखता है।) डिपो-परिसर पर रजिस्टर और प्ररूप रखना सम्भव नहीं है। यदि बिक्रीकर्ता से रजिस्टर और प्ररूप दोनों रखने की लिपिकीय कार्य करने की अपेक्षा की जाए तो बाजार में उनके विक्रय-कार्य पर प्रतिकूल प्रभाव पड़ेगा। उपर्युक्त तथ्य के अलावा यह कथन किया गया है कि उक्त अधिनियम की धारा 13 यह अपेक्षा करती है कि

कर्मचारियों को अतिकालिक मजदूरी दी जाए। यदि उक्त अधिनियम डिपो को लागू कर दिया जाता है तो उक्त अधिनियम की धारा 13 पिटीशनर से यह अपेक्षा करेगी कि बिक्रीकर्ता को अतिकालिक मजदूरी की संगणना करके उसका संदाय किया जाए। चूंकि बिक्रीकर्ता (और) साथ ही उन मजदूरों के, जो चाय का स्टाक ले जाने में उनकी सहायता करते हैं, कार्य की प्रकृति अन्तर्निहित रूप से आन्तरायिक है अतः उन वास्तविक घन्टों की जांच करना सम्भव नहीं है, जिनके बारे में यह कहा जाए कि बिक्रीकर्ता ने अतिकालिक प्रयोजन के लिए कार्य किया है। उपर्युक्त स्थिति को ध्यान में रखते हुए धारा 2(13) के उपबन्धों के बारे में यह दावा किया गया है कि वे असांविधानिक हैं और संविधान के अनुच्छेद 19(1)(च) और (छ) का अतिक्रमण करते हैं।

9. इसके अतिरिक्त पिटीशनरों ने यह दावा किया है कि यथाआक्षेपित अधिसूचना से उन्हें अत्यधिक और अनावश्यक कठिनाई, परेशानी और असुविधा होगी और उससे किसी भी प्रकार से उक्त अधिनियम के उद्देश्य की पूर्ति अथवा अभिवृद्धि नहीं होगी, जो दुकानों और स्थापनों में नियोजित व्यक्तियों के अवकाशों और छुट्टियों को विनियमित करने के लिए है। यह कथन किया गया है कि वस्तुतः उक्त कंपनी ने बिक्री कर्मचारिवृन्द और अन्य कर्मचारियों के नियोजन के लिए नियम अथवा सेवा की शर्तें विरचित की हैं, जो उक्त अधिनियम की शर्तों के प्रतिकूल और अपायकर अथवा उन पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले नहीं हैं और इस प्रकार भी ऐसी कोई वैवश्यक परिस्थितियां नहीं हैं जिनके लिए उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के उपबन्धों का प्रयोग किया जाए अथवा किए जाने की आवश्यकता है। शक्ति के ऐसे प्रयोग अथवा धारा 2(13) के उपबन्धों को बलात लागू करने के बारे में यह दावा किया गया है कि यह अयुक्तियुक्त है और सद्भाविक नहीं है। यह भी दलील दी गई है कि इस मामले के तथ्यों को धारा 9(13) के उपबंधों का लागू किए जाने में पिटीशनर के डिपो की बाबत उनका अनुपालन किया जाना बिल्कुल अव्यवहार्य और असम्भव है और किसी भी दशा में उक्त अधिसूचना पिटीशनर के डिपो को लागू नहीं होगी क्योंकि वे धारा 2(13) के अर्थ के भीतर दुकानें नहीं हैं और विशेष रूप से जब कि यह डिपो मात्र रूप से भण्डारगृह है जिनका उस विक्रय के आनुषंगिक रूप में प्रयोग किया जाता है जो कि पिटीशनरों के मुख्य परिसर पर किया जाता है।

10. बाम्बे शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैंट्स ऐक्ट के अधीन 'शाप' (दुकान) शब्द का अर्थान्वयन इस रूप में किया गया था जिससे ऐसा व्यापार अथवा कारबार अनुध्यात है जो धारा 2(2) में 'शाप' की परिभाषा का मुख्य भाग है, ज बिक्री का ऐसा कोई कारबार नहीं है चाहे वह कहीं और किसी भी प्रकार किया

जाए किन्तु उसके अन्तर्गत केवल वे व्यापारी आते हैं जहां हर बिक्री परिभाषित परिसरों में की जाती है। उस अर्थ में दुकान का भाव ऐसा गृह अथवा स्थान अथवा भवन है, जहां माल बेचा जाता है। शेष परिभाषा मुख्य परिभाषा को सहायक स्थानों से जोड़ती है जैसे कि भण्डारगृह, गोदाम, कार्य करने का स्थान आदि, जिनका मुख्य रूप से कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है और 'बिजनिस' (कारबार) से इस प्रकार का कारबार अभिप्रेत है जिसे परिभाषा के पूर्ववर्ती भाग में परिभाषित किया गया है, अर्थात बिक्री के कारबार का ऐसा प्रभाग जो कतिपय परिभाषित परिसरों में बिक्री तक सीमित हो। यह भी मत व्यक्त किया गया है कि उस सीमा की अवहेलना करने का भी कोई औचित्य नहीं है जो विधानमण्डल ने परिभाषा के मुख्य भाग पर अधिरोपित की है और यह अभिनिर्धारित किया है कि यह बिक्री के अधिक व्यापक वर्गीकरण से सम्बन्धित है, जो परिभाषा का मुख्य भाग न केवल प्रकल्पित करता है बल्कि उसने उसे **कालीदास धनजी भाई** बनाम **मुम्बई राज्य**[1] वाले मामले में विमर्शित रूप से अपवर्जित किया है। इस मामले के प्रति निर्देश प्रथमतः श्री दास ने दुकान की परिभाषा के बारें में अपने निवेदन के समर्थन में किया था जैसा कि इसके पूर्व उपदर्शित किया गया है और यह सिद्ध करने के लिए भी कि उक्त अधिनियम का उद्देश्य डिपो की भांति के लघु स्थापनों को इसके भीतर लाना नहीं था और यह भी सिद्ध करने के लिए कि जब तक उनमें व्यापारिक क्रियाकलाप न हो तब तक उन्हें दुकान नहीं कहा जा सकता और इस प्रकार पिटीशनर की डिपो, जहां कोई व्यापारिक क्रियाकलाप नहीं किया जाता है, के बारे में यह दावा नहीं किया जा सकता अथवा उसे उक्त अधिनियम के अधीन दुकान नहीं माना जा सकता। ऊपर दर्शित उच्चतम न्यायालय के विनिश्चयाधार के आधार पर यह दावा किया गया है कि उक्त अधिनियम की धारा 2(13) की भाषा ऐसी है जिसमें विधानमण्डल ने छोटे डिपो अथवा उस प्रकार के बहुत से छोटे डिपो को जैसे कि प्रस्तुत मामले में अन्तर्वलित हैं, अपवर्जित करना चाहा है। इसके आगे यह दलील दी गई कि ऊपर जो बात कही गई है वही उस धारा का तार्किक निष्कर्ष अथवा निर्वचन होना चाहिए। उसके पश्चात् और द्वितीयतः श्री दास ने **रामचन्द्र** बनाम **राज्य**[2] वाले मामले में पंजाब उच्च न्यायालय की पूर्ण न्यायपीठ के अवधारण का अवलम्ब लिया है जिसमें यह अभिनिर्धारित किया गया था कि उस मामले में पंजाब शाप्स एण्ड कर्मशियल एस्टेबलिशमैंट्स ऐक्ट की धारा 2(25) के अर्थ के भीतर डिपो को दुकान नहीं कहा जा सकता। वह अवधारण इन तथ्यों के आधार

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 62.
[2] ए० आई० आर० 1963 पंजाब 148.

पर किया गया था कि पिटीशनर रामचन्द्र लिपटन टी कं० लि० का विक्रीकर्ता था। इस कम्पनी के पंजाब के बहुत से स्थानों में बिक्रीकर्ता तैनात थे। वह स्थान जहां सुसंगत समय पर रामचन्द्र तैनात था, कालका था। कंपनी ने किराए पर गोदाम लिया जहां चाय का स्टाक या तो टिनों में या पैकेटों में रखा जाता था। बिभिन्न डिपो पर जो बिक्रीकर्ता होते थे उन्हें गोदामों पर चाय बेचने की अथवा यहाँ तक कि गोदामों पर आर्डर लेने की भी अनुज्ञा नहीं थी। गोदाम पर जो कुछ होता था यह था कि उस बाजार में जहां गोदाम स्थित था अथवा उन बाजारों में जिनसे गोदाम संलग्न था, ग्राहकों को परिदत्त किए जाने के लिए चाय ली जाती थी। यह बाजार ग्रामीण क्षेत्र में अथवा कस्बों में हो सकते थे। उस अधिनियम का ग्रामीण क्षेत्रों पर विस्तारण नहीं किया गया था। बिक्रीकर्ता गोदाम में अपनी बहियाँ बनाए रखता था। इन बहियों में प्राप्त की गई चाय, बेची गई चाय और विक्रयआगम ऐसे बिक्रीकर्ता द्वारा प्रविष्ट किए जाते थे। उस आशय के विवरण भी कम्पनी के मुख्य कार्यालय को भेजे जाते थे। इसके अलावा गोदाम में और कोई कार्य नहीं होता था और प्रश्न यह था कि क्या इस प्रकार के गोदाम पंजाब शाप्स एन्ड कमर्शियल एस्टेबलिशमैंट्स ऐक्ट, 1958 की धारा 2(25) के अर्थ के भीतर दुकान हैं। उस अधिनियम में भी 'दुकान' शब्द की परिभाषा के अन्तर्गत वाणिज्यिक स्थापन नहीं आता और 'वणिज्यिक स्थापन' से ऐसा परिसर अभिप्रेत है जिसमें लाभ के लिए कोई कारबार, व्यापार अथवा वृत्ति की जाती है। दुकान से ऐसा परिसर अभिप्रेत है जहां कोई कारबार किया जाता है अथवा ग्राहकों को माल दिया जाता है और इसके अन्तर्गत, कार्यालय, भण्डारगृह, गोदाम अथवा भाण्डागार आते हैं चाहे वे उसी परिसर में हों अथवा अन्यत्र जिनका ऐसे व्यापार अथवा कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाए। इसके अतिरिक्त यह प्रकट होगा कि ऐसे तथ्यों के आधार पर न्या० महाजन ने पूर्ण न्यायपीठ की ओर से निर्णय देते हुए यह मत व्यक्त किया कि हमें यह प्रतीत होता है कि विवादग्रस्त परिसर को दुकान नहीं कहा जा सकता। मैं इस निष्कर्ष पर इस आधार पर पहुंचा हूं कि प्रस्तुत अधिनियमिति के अधिनियमित किए जाने के पूर्व वाणिज्यिक जगत और साथ ही जनसामान्य को 'दुकान' और 'वाणिज्यिक स्थापन' पदों की महत्ता ज्ञात नहीं थी और विधान मण्डल जो कर्मचारियों को अधिक कार्य से संरक्षित करने के लिए अध्युपाय अधिनियमित कर रहा था वह इन पदों को कोई नया संदर्भ देने का प्रयत्न नहीं कर रहा था बल्कि मात्र रूप से उसका सरोकार यह था कि यह परिभाषा उतनी विस्तृत और लचीली हो जिससे कि विधायी अध्युपाय का अपवंचन न हो सके। अतः मेरा यह मत है कि दुकान से ऐसा परिसर अभिप्रेत है जहां माल के उस स्थल पर बेचे और खरीदे जाने के रूप में व्यापार अथवा कारबार किया जाता है। बल्कि यह

बात स्वतः सिद्ध है कि समस्त व्यापार में बेचना और खरीदना किसी न किसी रूप में चलता रहता है चाहे वह वर्तमान समय में हो अथवा भविष्य में अथवा भले ही सट्टे के आधार पर हो। किन्तु किसी दुकान में बेचा जाना और खरीदा जाना उस परिसर में होता है अथवा दूसरे शब्दों में दुकान में नकद प्रतिफल के लिए होता है अथवा वस्तु विनिमय के रूप में अथवा उधार के रूप में हो सकता है। महत्वपूर्ण तथ्य उस स्थान पर उस समय माल की उपलभ्यता और ग्राहक को उसका दिया जाना भी है। यह मत व्यक्त करने के अलावा कि 'दुकान' और 'वाणिज्यिक स्थापन' की परिभाषा का गहन विश्लेषण करने के लिए यह आवश्यक है, दोनों में एक तत्व सामान्य है अर्थात् परिसर का होना आवश्यक है जबकि वाणिज्यिक स्थापन के मामले में कोई कारबार व्यापार अथवा वृत्ति लाभ के लिए की जाती है और दुकान के मामले में जहां कोई व्यापार अथवा कारबार किया जाता है अथवा जहां ग्राहकों को माल दिया जाता है। व्यापार अथवा कारबार अथवा वृत्ति के किए जाने का परिसर से आवश्यक रूप से निकट और घनिष्ठ सम्बन्ध है। इस बाबत विवाद नहीं किया जा सकता और वास्तव में नहीं किया गया है कि कोई व्यापार, वृत्ति अथवा कारबार बिना परिसर के किया जा सकता है किन्तु परिभाषा परिसर के अस्तित्व की अपेक्षा करती है और दुकान के मामले में इसके अन्तर्गत कार्यालय, भण्डारगृह, गोदाम अथवा भाण्डागार आते हैं चाहे वे उसी परिसर में हों अथवा अन्यत्र, जिनका ऐसे व्यापार अथवा कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है। दूसरे शब्दों में इन कार्यालयों आदि का परिसर से, जो कि दुकान है, आवश्यक सम्बन्ध होना चाहिए। इस बात पर भी ध्यान दिया जाना चाहिए कि पंजाब की पूर्ण न्यायपीठ का उक्त अवधारण **कालीदास धनजीभाई** बनाम **मुम्बई राज्य**[1] वाले उपर्युक्त मामले में उच्चतम न्यायालय के अवधारण के आधार पर अथवा उसके प्रति निर्देश किए जाने पर किया गया था। पंजाब पूर्ण न्यायपीठ के उपर्युक्त अवधारण का **मैसूर राज्य** बनाम **बुक बॉण्ड कंपनी**[1] वाले मामले में भी अनुसरण किया गया है जिसके प्रति श्री दास ने भी निर्देश किया है। उस मामले में यह मत व्यक्त किया गया कि दुकान और 'वाणिज्य स्थापन' की परिभाषा का अन्वेषण करने से यह पता चलता है कि दोनों में एक तत्व सामान्य है अर्थात परिसर का होना आवश्यक है जिसमें वाणिज्यिक स्थापन के मामले में कोई कारबार, व्यापार अथवा वृत्ति लाभ के लिए की जाती है और दुकान के मामले में वह ऐसा परिसर होता है जहां कोई व्यापार अथवा कारबार किया जाता है अथवा जहां ग्राहकों को माल दिया जाता है।

---

[1] ए० आई० आर० 1955 एस० सी० 62.

10(क). जहां परिसर का प्रयोग केवल मुख्य कार्यालय से प्राप्त माल का भण्डार करने के लिए गोदाम के रूप में किया जाता है और जिसमें केवल स्टाक और निर्गम रजिस्टर परिसर में बनाए रखे जाते हैं और जहां कोई विक्रय नहीं किया जाता है और ग्राहकों को कोई माल नहीं दिया जाता है वह परिसर मैसूर शाप्स एण्ड एस्टेबिलिशमैन्ट्स ऐक्ट्स के अर्थ के भीतर दुकान नहीं है।

11. इसके पश्चात् और अन्त में श्री दास ने लिपटन (इंडिया) लि० बनाम सचिव सरकारी नियोजन और समाज कल्याण (श्रम 1) आन्ध्र प्रदेश सरकार[1] वाले मामले में आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय की विशेष न्यायपीठ के अवधारणों के प्रति निर्देश किया। उस मामले में, जो आन्ध्र प्रदेश शाप्स एण्ड एस्टेबलिशमैन्ट्स ऐक्ट, 1966 के अधीन था, उच्चतम न्यायालय के उपर्युक्त और पंजाब की पूर्ण न्यायपीठ के निर्णयों के प्रति निर्देश करने के पश्चात् यह मत व्यक्त किया गया है कि लिपटन (इंडिया) लि० अथवा ब्रूक बाण्ड इंडिया (प्रा०) लि० के भण्डार डिपो की भांति के गोदाम, धारा 2(21) के अधीन किसी अधिसूचना के अलावा धारा 2(21) के अर्थ के भीतर दुकान नहीं हो सकते हैं और यह बात प्रकट है कि अधिनियम की धारा 2(21) में 'दुकान' शब्द की परिभाषा के समावेशी भाग में आने वाला "ऐसा व्यापार अथवा कारबार" किसी परिसर पर किया जाता हो और यदि ऐसा कोई परिसर नहीं है जहां व्यापार अथवा कारबार किया जा रहा हो तो धारा 2(21) में के समावेशी भाग के अन्तर्गत दुकान नहीं आ सकती है और कोई भण्डारगृह, गोदाम, भाण्डागार अथवा कार्य का स्थान जिसका किए जाने वाले व्यापार अथवा कारबार के सम्बन्ध में किसी नियत परिसर पर प्रयोग किया जाता हो, धारा 2(21) के अर्थ के भीतर दुकान नहीं हो सकता है। उस मामले में यह भी मत व्यक्त किया गया है कि यद्यपि 'वाणिज्यिक स्थापन' की परिभाषा में ऐसे परिसर के प्रति कोई निर्देश नहीं है जहां व्यापार अथवा कारबार किया जा रहा है, यह प्रकट है कि वाणिज्यिक स्थापन में व्यापार अथवा कारबार का किया जाना आवश्यक है जो किसी परिनिश्चित परिसर पर किया जा रहा हो अथवा अन्यथा ऐसा स्थापन जो किसी परिनिश्चित परिसर पर व्यापार अथवा कारबार करता है, वाणिज्यिक स्थापन होता है और वाणिज्यिक स्थापन से दुकान का प्रभेद उस रूप में किया जा सकता है कि किसी परिसर को दुकान की कोटि में लाने के लिए परिसर का होना आवश्यक है और ऐसे परिसर पर व्यापार अथवा कारबार अवश्य किया जाता हो। जहां तक परिभाषा के मुख्य भाग का सम्बन्ध है परिसर के अभाव में दुकान नहीं हो सकती। कार्यालय भण्डारगृह आदि, जो समावेशी

---

[1] ए० आई० आर० 1978 आन्ध्र प्रदेश 146.

परिभाषा में सम्मिलित हैं, के अन्तर्गत ऐसे कार्यालय गोदाम हैं जिनका ऐसे व्यापार अथवा कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है। 'ऐसा' शब्द से आवश्यक रूप से व्याकरणिक अर्थान्वयन द्वारा यह विवक्षित है कि किसी परिसर में व्यापार अथवा कारबार किया जाता है। आन्ध्र प्रदेश उच्च न्यायालय के ऐसे अवधारणों के आधार पर न केवल इस मामले में अधिसूचना के शक्तिबाह्य होने का बल्कि उक्त अधिनियम के उपबंधों के प्रतिकूल होने का भी दावा किया गया था। किन्तु यह भी दावा किया गया था और दलील दी गई थी कि डिपो, जैसा कि इस मामले में है, उक्त अधिनियम की धारा 2(13) में 'दुकान' की परिभाषा के भीतर नहीं आएगा।

12. उपर्युक्त के अलावा उक्त अधिनियम की उद्देशिका और धारा 1(3), 1(4) और 2(12) के प्रति निर्देश करने पर श्री दास ने यह दलील दी कि इन उपबंधों से यह अभिप्रेत है और इनके अन्तर्गत ऐसे परिसर अथवा स्थान आते हैं जहां चाय का व्यापार इन मामलों में चालू है और चूंकि जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया गया है पिटीशनर अपने डिपो पर चाय का कोई व्यापार नहीं करता इसलिए यह डिपो धारा 2(13) अथवा उसके अधीन जारी की गई किसी अधिसूचना के अधीन नहीं आ सकता अथवा नहीं लाया जा सकता। श्री दास ने यह भी दावा किया है कि इस मामले में और अधिसूचना जारी की जाने के पूर्व सम्बद्ध प्राधिकारियों को विवेक बुद्धि का प्रयोग करना चाहिए था और कारबार अथवा व्यापार, यदि कोई हो, जो प्रश्नगत डिपो से किया जा रहा था, की वास्तविक प्रकृति अथवा स्वरूप का पता लगाया जाना चाहिए और वह भी पिटीशनरों की सुनवाई करने के पश्चात् अथवा उन्हें अवसर देने के पश्चात् और क्योंकि स्वीकृत रूप से ऐसा नहीं किया गया है इसलिए बिना सोचे-समझे राय बनाने के अलावा नैसर्गिक न्याय के सिद्धांतों का अतिक्रमण हुआ है। श्री दास ने यह कथन किया है कि यह भी एक स्वीकृत तथ्य है कि यद्यपि पिटीशनर डिपो के कर्मचारियों को निदेश देते हैं, उनका नियंत्रण और पर्यवेक्षण करते हैं तो भी इन कर्मचारियों के काम के घन्टे नियत नहीं हैं जिन्हें उक्त अधिनियम की धारा 7 द्वारा नियमित और विनियमित किया जाना अपेक्षित है। श्री दास ने यह कथन किया है कि इस प्रकार जब कोई कर्मचारी जो किसी दिन अपेक्षित घन्टों से अधिक डिपो से बाहर रहता है उसे अतिकालिक भुगतान भी नहीं किया जाता है जो किसी स्थापन के अधीन हर एक कर्मचारी को सामान्य रूप से उक्त अधिनियम की धारा 13 के अधीन भुगतान किया जाना अपेक्षित है। वस्तुतः श्री दास ने यह कथन किया कि डिपो के बिक्रीकर्ता से कभी-कभी ग्राहकों की आवश्यकता के अनुसार विक्रय को बढ़ाने के लिए अनिश्चित अथवा अपेक्षित समय से अधिक समय लगाना पड़ता है और चूंकि उनके कार्य के घन्टे नियत

नहीं हैं सवेरे और समय-बेसमय अपनी अधिकारिता के अधीन ग्राहकों की आवश्यकता और मांग के अनुसार बाहर जाना पड़ता है। श्री गुप्त की इन दलीलों से एक बात निश्चित है अर्थात् भले ही डिपो के बिक्रीकर्ता के काम के घन्टे नियत नहीं हैं हर एक डिपो की विनिर्दिष्ट अधिकारिता होती है और उसके ग्राहक, जो उससे सीधे चाय के उपभोक्ता नहीं हैं ज्ञात, अभिज्ञेय और परिनिश्चित नहीं होते।

13. केवल उन्हीं परिसरों को वाणिज्यिक स्थापन कहा जा सकता है जहां दो व्यक्ति लाभ के लिए किसी कारबार का सौदा करते हैं और यह बात महत्वपूर्ण नहीं है कि वे किस माध्यम से मिलते हैं। इस बाबत कोई सन्देह नहीं हो सकता कि किसी व्यापार अथवा कारबार के लिए दो अथवा अधिक व्यक्ति अपेक्षित होते हैं जो एक दूसरे से व्यापार करें और यदि ऐसा क्रियाकलाप किसी विशेष परिसर में होता है अथवा उसका किया जाना आशयित है तो उसके बारे में यह दावा किया जा सकता है अथवा उसे वाणिज्यिक स्थापन माना जा सकता है किन्तु अन्यथा नहीं। दो व्यक्तियों के मिलने का प्रयोजन, जैसा कि ऊपर कहा गया है, रामचन्द्र बनाम राज्य[1] वाले मामले की मताभिव्यक्तियों के अनुसार लाभ के लिए होता है भले ही उनका आवश्यक परिणाम लाभ न हो। इस प्रकार यह आवश्यक और आज्ञापक है कि ऐसा व्यापार अथवा कारबार जैसा कि ऊपर उपदर्शित किया गया है और प्रश्नगत परिसर को वाणिज्यिक स्थापन बनाने के लिए लाभ के लिए कोई व्यापार, कारबार अथवा वृत्ति की जाती हो।

14. इसके विपरीत दुकान से ऐसा परिसर अभिप्रेत है जहां किसी स्थान पर माल को खरीदने और बेचने के रूप में व्यापार अथवा कारबार किया जाता है। बल्कि यह स्वतः सिद्ध है कि सभी व्यापारों में खरीदना और बेचना होना चाहिए अथवा होता है चाहे वह किसी भी रीति में हो और वर्तमान में अथवा भावी हो अथवा सट्टे के आधार पर हो किन्तु दुकान में ऐसा खरीदना और बेचना परिसर पर होता है अथवा दूसरे शब्दों में उसी स्थान पर नकद प्रतिफल के लिए होता है अथवा यह वस्तुविनिमय अथवा उधार के रूप में भी हो सकता है महत्वपूर्ण भाग माल की उपलभ्यता है और साथ ही उसका दिया जाना। दुकान की परिभाषा का मर्म जैसा कि रामचन्द्र बनाम राज्य वाले उपरोक्त मामले में मत व्यक्त किया गया है कि दुकान के सम्बन्ध में कारबार अथवा व्यापार माल का वास्तविक रूप से खरीदा और बेचा जाना है और यह सम्बद्ध परिसर में होना चाहिए। 'दुकान' पद का प्रयोग इस भाव में किया गया है जहां वाणिज्यिक

---

1. ए० आई० आर० 1963 पंजाब 148 (पूर्ण न्यायपीठ).

क्रियाकलाप किया जाता है और उस प्रयोजनार्थ यह एक स्थान होना चाहिए जहां या तो लाभ के लिए कारबार किया जाता है अथवा माल दिया जाता है जैसा कि **पी० सी० आर० चेट्टीज चेरिटीज** बनाम **कमिश्नर आफ लेबर मद्रास**[1] वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है। **लिपटन इंडिया लि०** बनाम **सचिव नियोजन और समाज कल्याण**[2] वाले मामले में कम्पनी ने यह आक्षेप किया कि उसका गोदाम दुकान की परिभाषा के भीतर नहीं आता और हर एक आक्षेप को कायम रखा गया और किसी कार्यालय, गोदाम, भण्डारगृहों इत्यादि के प्रति निर्देश करने के पश्चात् जो समावेशी परिभाषा के अन्तर्गत आते हैं, यह संकेत किया गया है कि उन कार्यालयों गोदामों आदि का ऐसे व्यापार अथवा कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता हो। 'ऐसा' शब्द से मात्र व्याकरणिक अर्थान्वयन द्वारा आवश्यक रूप से यह विवक्षित है कि किसी परिसर पर व्यापार अथवा कारबार किया जाता है।

15. इस प्रकार उपर्युक्त अवधारणों और मताभिव्यक्तियों के आधार पर यह बात प्रकट है कि 'दुकान' से ऐसा परिसर अभिप्रेत है जहां माल या तो खुदरा अथवा थोक में बेचा जाता है अथवा जहां ग्राहकों को माल दिया जाता है और इसके अन्तर्गत कोई कार्यालय, भण्डारगृह, गोदाम, भाण्डागार अथवा कार्य का स्थान आता है चाहे वह उसी परिसर में हो अथवा अन्यत्र (जिसका मुख्य रूप से) ऐसे कारबार अथवा कारबार के सम्बन्ध में प्रयोग किया जाता है किन्तु इसके अन्तर्गत कोई कारखाना, वाणिज्यिक स्थापन, निवासीय होटल, रेस्टोरेन्ट, प्रतीक्षागृह, थियेटर अथवा लोक मनोविनोद अथवा मनोरंजन का कोई अन्य स्थान नहीं है। इस प्रकार दुकान प्राथमिक रूप से ऐसा स्थान हो सकती है जहां माल खरीदा और बेचा जाता हो और ऐसे शब्द से कोई भवन द्योतित होता है जिसका प्राथमिक रूप से माल के खुदरा विक्रय के लिए प्रयोग किया जाता है। 'दुकान' पद के अन्तर्गत कर्मशाला (वर्कशाप) नहीं है उन मामलों का विनिश्चयाधार जिनमें सम्पत्ति का प्रयोग एक से अधिक प्रयोजनों के लिए किया जाता है, उस प्राथमिक अथवा मुख्य प्रयोजन का पता लगाना है जिसके लिए इसका प्रयोग किया गया है। निवासीय सम्पत्ति का कारबार के परिसर के रूप में वाणिज्यिक अभिकरण का कारबार करने के लिए प्रयोग ऐसी सम्पत्ति की प्रकृति में परिवर्तन नहीं करता जैसा कि **सन्त सिंह** बनाम **गोविन्द राम**[3] वाले मामले में मत व्यक्त किया गया है और ऐसे प्रयोग के परिणामस्वरूप इस सम्पत्ति को दुकान नहीं माना जाएगा।

---

[1] ए० आई० आर० 1972 मद्रास 173.

[2] ए० आई० आर० 1978 आन्ध्र प्रदेश 146.

[3] ए० आई० आर० 1923 इलाहाबाद 209.

उपर्युक्त अवधारणों के अनुसार और अमूल्य पाल बनाम आर० एम० राय[1] वाले मामले के अवधारणों के अनुसार भी 'दुकान' शब्द का साधारण अर्थ यह है कि यह ऐसा स्थान है जहां माल का भण्डारकरण किया जाता है और खुदरा व्यापारियों द्वारा बेचा जाता है न कि कोई स्टाल अथवा खुला स्थान।

16. अधिनियमों के अधीन 'दुकान' शब्द की परिभाषा, जिसके बारे में इसके पूर्व के अवधारणों में विचार और अर्थान्वयन किया गया है, न्यूनाधिक रूप से वैसी ही है जैसी कि उक्त अधिनियम के अधीन। इस प्रकार उन मामलों में अवधारण अथवा उन अवधारणों का आधार इस मामले में पिटीशनरों के डिपो की बाबत सुविधापूर्वक लागू किया जा सकता है। अतः 'दुकान' ऐसी होनी चाहिए जहां व्यापार अथवा बिक्री की जाती है अथवा किसी परिनिश्चित परिसर में की जाती है अर्थात वह ऐसा स्थान अथवा कमरा अथवा भवन होना चाहिए जहाँ माल बेचा जाता है। इस प्रकार पिटीशनरों के डिपो, जहां कोई व्यापारिक क्रिया-कलाप नहीं किया जाता अथवा उस आशय का कोई विधिक साक्ष्य उपलब्ध नहीं है और विशेष रूप से जब उपलभ्य साक्ष्य अन्यथा है तो वह उक्त अधिनियम के निबन्धनों के अनुसार अथवा के अधीन दुकान नहीं होगी, और श्री दास की इस आशय की दलील में सार है कि उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के पीछे विधायी आशय पिटीशनरों की ऐसी छोटी दुकानों/डिपो को उसके अन्तर्गत लाना नहीं था।

17. मेरा यह दृष्टिकोण है कि पंजाब की पूर्ण न्यायपीठ के अवधारण को, जिसके प्रति इसके पूर्व निर्देश किया गया है, सम्यक् रूप से और उचित रूप से इस मामले के तथ्यों को लागू किया जा सकता है और ऐसे अर्थान्वयन के आधार पर अथवा उसमें अधिकथित कसौटियों को लागू करते हुए अर्थात 'दुकान' के आवश्यक स्वरूप का अवधारण करने और पता लगाने के लिए पिटीशनरों के डिपो को अवधारण का फायदा दिया जाना चाहिए जो अवधारण इस मुद्दे पर अन्य पूर्ववर्ती अवधारणों का सम्यक रूप से और आवश्यक रूप से विचार करने के पश्चात् किया गया था और इस मामले में इस प्रकार पिटीशनरों के डिपो उक्त अधिनियम की धारा 2(13) के अर्थ के भीतर दुकान नहीं हो सकते। यह अधिनिर्धारित किया जाना चाहिए कि इस मामले में आक्षेपित अधिसूचना जारी करते समय विवेकबुद्धि का प्रयोग किया जाने के बारे में कोई विधिक साक्ष्य नहीं है और किसी भी दशा में सम्बद्ध अधिसूचना और कानून स्वरूप के कारण पिटीशनर अभ्यावेदन करने अथवा सुनवाई का अवसर दिए जाने के हकदार थे। न्यायालय को सुसंगत सामग्री उपलभ्य कराए बिना अधिसूचना में मात्र यह

[1] (1950) 54 कलकत्ता वीकली नोट्स 850.
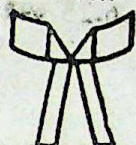
विधि साहित्य प्रकाशन

(विधायी विभाग)

विधि और न्याय मंत्रालय

भारत सरकार

संलग्न सूची के अनुसार प्रकाशन उपलब्ध हैं।

डाक की दरों में वृद्धि के कारण ये प्रकाशन वी०पी०पी० से नहीं भेजे जा सकते। कृपया अपेक्षित प्रकाशनों के निर्धारित अग्रिम धन सहित अपना आर्डर भेजें।

यदि आप द्वारा मंगाई गई पुस्तकों का आर्डर 25/- रु० से कम हो और आप पुस्तकें रजिस्ट्री डाक द्वारा मंगाना चाहें तो कृपया रजिस्ट्री शुल्क के 2.75 रु० मंगाए गए प्रकाशनों की मूल कीमत के अतिरिक्त भेजें अन्यथा ये साधारण डाक द्वारा आपकी जिम्मेदारी पर भेज दिए जाएंगे। 25/- रु० से अधिक मूल्य के प्रकाशन मंगवाने पर यह कार्यालय स्वयं डाक शुल्क वहन करेगा।

मनी आर्डर/बैंक ड्राफ्ट आदि विधि साहित्य प्रकाशन के नाम ऊपर दिए गए पते पर भेजें।

हमारे सभी प्रकाशन आपके स्थानीय विधि (कानूनी) पुस्तक विक्रेताओं से भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

इस सूची में उल्लिखित प्रकाशनों के अतिरिक्त शेष प्रकाशन/अधिनियम फिलहाल उपलब्ध नहीं हैं।

उपलब्ध प्रकाशनों की सूची

(क) हिन्दी में पाठ्य पुस्तकें (Law Text Books in Hindi)

		लेखक	मूल्य
1.	प्राइवेट (निजी) अन्तर्राष्ट्रीय विधि (प्राइवेट इन्टरनेशनल लाॅं) छात्र संस्करण	डॉ० पारस दीवान	6.25 रुपये
2.	अपकृत्य विधि के सिद्धान्त (ला आफ टार्ट्स)—द्वितीय परिवर्धित संस्करण)	शर्मन लाल अग्रवाल	14.50 रुपये
3.	निर्णय लेखन (जजमेंट राइटिंग)	भूतपूर्व मु० न्यायमूर्ति भगवती प्रसाद बेरी	11.00 रुपये
4.	दण्ड विधि के साधारण सिद्धांत (लाॅं आफ क्राइम)	डॉ० रामचन्द्र निगम	19.00 रुपये
5.	अन्तर्राष्ट्रीय संगठन (इन्टरनेशनल आर्गेनाइजेशन)	डॉ० प्रयाग सिंह	23.80 रुपये
6.	प्रशासनिक विधि (एडमिनिस्ट्रेटिव लाॅं)	डॉ० कैलाश चन्द्र जोशी	16.50 रुपये
7.	चिकित्सा न्याय शास्त्र और विष-विज्ञान (मैडिकल ज्यूरिस्प्रूडेन्स एण्ड टाॅक्सीकालोजी) पृष्ठ संख्या 1042 तथा 287 चित्रों सहित, पूरे कपड़े की पक्की जिल्द	सी० के० पारिख, अनुवादक—डा० नरेन्द्र कुमार पटोरिया	70.00 रुपये
8.	श्रम विधि (लेबर लाॅं)	गोपी कृष्ण अरोड़ा	24.20 रुपये
9.	भारतीय संविधान के प्रमुख तत्व (कांस्टीट्यूशन आफ इंडिया सेलिएण्ट फीचर्स)	डॉ० प्रद्युम्न कुमार त्रिपाठी	36.50 रुपये
10.	मुस्लिम विधि (मुस्लिम लाॅं)	प्रो० हफीजुल रहमान	16.50 रुपये

11. साक्ष्य की विधि (लाँ आफ एविडेन्स)—द्वितीय (परिवर्धित) संस्करण	रेवाशंकर गोविन्दराम त्रिवेदी	33.60 रुपये
12. दण्ड प्रक्रिया संहिता (कोड आँफ क्रिमिनल प्रोसिजर)	न्यायमूर्ति महावीर सिंह	46.50 रुपये
13. कम्पनी विधि (कम्पनी लाँ)	सुरेन्द्रनाथ	30.00 रुपये
14. संविदा विधि (लाँ आँफ कान्ट्रैक्ट)	आर० जी० चतुर्वेदी	24.35 रुपये
15. अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय (केस बुक आँन इन्टरनेशनल लाँ)	एस० सी० खरे	16.70 रुपये

(ख) मासिक विधि निर्णय पत्रिकाएं (Monthly Law Reports in Hindi)

(1) उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका (सुप्रीम कोर्ट लाँ रिपोर्ट) प्रथम प्रकाशन अप्रैल, 1968 वार्षिक मूल्य 65 रुपये, एक प्रति 6/- रुपये।

(2) उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका (हाई कोर्ट लाॅ रिपोर्ट) प्रथम प्रकाशन जनवरी, 1969—वार्षिक मूल्य 75/- रुपये, एक प्रति 7/- रुपये।

एक साथ दोनों पत्रिकाओं का ग्राहक बनने पर संयुक्त वार्षिक चन्दा 120/- रुपये। विधि छात्रों के लिए प्रमाण-पत्र देने पर विशेष रियायती मूल्य (दोनों पत्रिकाओं का 95/- रुपये अग्रिम संदाय)।

(ग) निर्णयसार (Digests)

1. उच्च-न्यायालय निर्णय पत्रिका सप्तवर्षीय (1969-75) निर्णय-सार मूल्य (भाग i और ii) 24.00 रुपये

(घ) विधि साहित्य समाचार

विधि (कानूनी) और विधि साहित्य सम्बन्धी नवीनतम जानकारी के लिए त्रैमासिक पत्रिका मूल्य 5/- रुपये वार्षिक चन्दा, एक प्रति का मूल्य 1.50 रुपये।

रुपये

(ङ) अन्य पुस्तकें (Other Publications)

1. निर्वाचन विधि निर्देशिका (Manual of Election Law) — 20.70

2. विधि शब्दावली (लीगल ग्लासरी) नवीनतम संशोधित संस्करण — 15.50

(च) केन्द्रीय अधिनियमों के द्विभाषी (हिन्दी-अंग्रेजी) संस्करण

3. सोसायटी रजिस्ट्रीकरण अधिनियम, 1860
The Societies Registration Act, 1860 — 1.00

4. भारतीय दंड संहिता, 1860
The Indian Penal Code, 1860 — 4.60

5. पुलिस अधिनियम, 1861
The Police Act, 1861 — 2.35

5ए. धार्मिक विन्यास अधिनियम, 1863
The Religious Endowment Act, 1863 — 0.70

9. पशु अतिचार अधिनियम, 1871
The Cattle Trespass Act, 1871 — 1.60

11. भारतीय साक्ष्य अधिनियम, 1872
The Indian Evidence Act, 1872 — 5.65

12. भारतीय वयस्कता अधिनियम, 1875
The Indian Majority Act, 1875 — 0.80

13. नाट्य प्रदर्शन अधिनियम, 1876
The Dramatic Performances Act, 1876 — 0.70

17ए. मुख्तयारनामा अधिनियम, 1882
The Power-of-Attorney Act, 1882 — 0.65

89ए.	औषधीय और प्रसाधन निर्मितियां (उत्पाद शुल्क) अधिनियम, 1955 The Medical and Toilet Preparations (Excise Duties) Act, 1955	1.80
95.	हिन्दू अप्राप्तवयता और संरक्षकता अधिनियम, 1956 The Hindu Minority and Guardianship Act, 1956	0.55
97ए.	केन्द्रीय विक्रय-कर अधिनियम, 1956 The Central Sales Tax Act, 1956	6.25
99.	नौ सेना अधिनियम, 1957 The Navy Act, 1957	6.30
100.	प्रतिलिप्यधिकार अधिनियम, 1957 The Copy Right Act, 1957	3.00
100ए.	दिल्ली नगर निगम अधिनियम, 1957 The Delhi Municipal Corporation Act, 1957	20.00
101.	अपराधी परिवीक्षा अधिनियम, 1958 The Probation of Offenders Act, 1958	0.65
101ए.	रेल संरक्षण बल अधिनियम, 1957 The Railway Protection Force Act, 1957	0.90
102.	श्रमजीवी पत्रकार (मजदूरी दर नियतन) अधिनियम, 1958 The Working Journalists (Fixation of Rates of Wages) Act, 1958	1.05
109ए.	केन्द्रीय उत्पाद शुल्क (मीटरी मात्रक संपरिवर्तन) अधिनियम, 1960 The Central Excise (Conversion of Metric Units) Act, 1960	0.60
109बी.	अनाथालय और अन्य पूर्ति आश्रम (पर्यवेक्षण और नियन्त्रण) अधिनियम, 1960 The Orphanages and other Charitable Homes (Supervision and Control) Act, 1960	0.70

179. समान पारिश्रमिक अधिनियम, 1976 — 0.85
The Equal Remuneration Act, 1976

180. विक्रय संवर्धन कर्मचारी (सेवा शर्तें) अधिनियम, 1976 — 0.80
The Sales Promotion Employees (Conditions of Service) Act, 1976

182. बाट और माप मानक अधिनियम, 1976 — 4.90
The Standards of Weights and Measures Act, 1976

182ए. विक्षुब्ध क्षेत्र (विशेष न्यायालय) अधिनियम, 1976 — 0.85
The Disturbed Areas (Special Courts) Act, 1976

184. विदेशी अभिदान (विनियमन) अधिनियम, 1976 — 2.00
The Foreign Contribution (Regulation) Act, 1976

प्रकाशन मांगने के नियम

(1) यदि मंगाई गई पुस्तकों का आर्डर 25/- रुपए से कम हो तो 2.75 रुपए अतिरिक्त भेजें अन्यथा ये पुस्तकें साधारण डाक से आपकी जिम्मेदारी पर भेज दी जाएंगी।

(2) एक बार वी० पी० पी० लौटाने के बाद पुनः वी० पी० पी० नहीं भेजी जाएगी।

(3) अपना पता पूरा व साफ-साफ लिखें।

(4) वी० पी० पी० से प्रकाशन मंगवाने के लिए एडवांस अवश्य भेजें। 100/- रुपए या उससे अधिक मूल्य की पुस्तकें वी० पी० पी० एल० से मंगवाने के लिए आदेशित पुस्तक मूल्य का कम से कम 25% एडवांस भेजना आवश्यक है।

(5) मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट आदि विधि साहित्य प्रकाशन के नाम भेजें।

(6) प्रकाशन रेल से मंगवाने के लिए अपने निकटतम रेलवे स्टेशन का नाम अवश्य लिखें।

(7) हमारे सभी प्रकाशन आपके स्थानीय विधि (कानूनी) पुस्तक विक्रेताओं से भी प्राप्त किए जा सकते हैं।

(8) हमारे प्रकाशनों के सम्बन्ध में अपने मूल्यवान सुझाव हमें भेजें। आपके सुझावों का स्वागत है।

पुस्तक विक्रेताओं के लिए

अपने एजेन्टों को प्रकाशन के विक्रय पर आकर्षक कमीशन देने की व्यवस्था है। कृपया इस विषय में पत्र-व्यवहार करें।

'अब उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका' तथा 'उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका' के पिछले अंक अनुक्रमणिका सहित उपलब्ध हैं।

उच्चतम न्यायालय निर्णय पत्रिका			कुल	उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका			कुल
1968	(अप्रैल से दिसम्बर तक)	9 अंक	33.75 रुपए	1969	(जनवरी से दिसम्बर तक)	12 अंक	75/- रुपए
1969	(जनवरी से दिसम्बर तक)	12 अंक	45.00 रुपए	1970	——	12 अंक	75/- रुपए
1970	——	12 अंक	45.00 रुपए	1971	——	12 अंक	75/- रुरए
1971	——	12 अंक	45.00 रुपए	1972	——	12 अंक	75/- रुपए
1972	——	उपलब्ध	नहीं है	1973	——	12 अंक	75/- रुपए
1973	——	12 अंक	45.00 रुपए	1974	——	12 अंक	75/- रुपए
1974	——	12 अंक	45.00 रुपए	1975	——	12 अंक	75/- रुपए
*1975	——	12 अंक	65.00 रुपए	*1976	——	12 अंक	75/- रुपए
*1976	——	उपलब्ध	नहीं है	*1977	——	12 अंक	75/- रुपए
*1677	——	12 अंक	65.00 रुपए	*1978	——	12 अंक	75/- रुपए
*1978	——	12 अंक	65.00 रुपए	*1979	——	12 अंक	75/- रुपए
*1979	——	12 अंक	65.00 रुपए	*1980	——	12 अंक	75/- रुपए

उच्च न्यायालय निर्णय पत्रिका			कुल	उच्चतम न्यायलाय निर्णय पत्रिका			कुल
*1980	——	12 अंक	65.00 रुपए	*1981	——	12 अंक	75/- रुपए
*1981	——	12 अंक	65.00 रुपए	1982	——	उपलब्ध नहीं है	
*1982	——	उपलब्ध	नहीं है				
(डाक अथवा रेल खर्च सहित)				(डाक अथवा रेल खर्च सहित)			

*एक साथ दोनों पत्रिकाओं को मगवाने पर साधारण वार्षिक मूल्य 120/- रुपए तथा विद्यार्थियों के लिए रियायती मूल्य 95/- रुपए मात्र।

नोट —रियायती मूल्य पर ग्राहक बनने के लिए अपेक्षित प्रमाण-अत्र प्रस्तुत करना आवश्यक है।
मनीआर्डर/बैंक ड्राफ्ट विधि साहित्य प्रकाशन का नाम नीचे पते पर भेजें—

प्रकाशन और विक्रय प्रबन्धक

विधि साहित्य प्रकाशन

विधि और न्याय कम्पनी मन्त्रालय,
इण्डियन लॉ इन्स्टीट्यूट बिल्डिग, भगवान दास रोड, नई दिल्ली-110001 (जनवरी, 1985)

चौधरी मुद्रण केन्द्र

हिन्दी में प्रामाणिक विधि साहित्य

भारतीय संविधान के प्रमुख तत्त्व

लेखक—डॉ० प्रद्युम्न कुमार त्रिपाठी

इस पुस्तक में संविधान के तत्त्वों का अत्यन्त सरल और बोधगम्य भाषा में विवेचन किया गया है। पुस्तक में संविधान से सम्बन्धित अद्यतन सामग्री का तथा उससे सम्बन्धित निर्णयों का भी समावेश किया गया है। यह पुस्तक विधि तथा राजनीति शास्त्र के विद्यार्थियों के लिए और सभी ऐसे व्यक्तियों के लिए उपयोगी है जो संविधान का गहन अध्ययन करना चाहते हैं।

मूल्य : 36.50 रुपये

चिकित्सा न्यायशास्त्र और विषविज्ञान

लेखक—डॉ० सी० के० पारिख

अनुवादक—डॉ० नरेन्द्र कुमार पटोरिया

मूल पुस्तक "मेडिकल ज्यूरिस्प्रूडेंस एण्ड टॉक्सिकोलॉजी" को संसार भर में इस विषय की पाठ्य पुस्तक के रूप में मान्यता मिली है। हिन्दी संस्करण भी प्रत्येक दृष्टि से अद्वितीय और अभूतपूर्व है। विषय को समझने के लिए 278 आकृतियां और रेखाचित्र दिए गए हैं। चिकित्सा न्यायशास्त्र से सम्बन्धित सिद्धान्तों को उपयोगी बनाने के लिए इसमें पर्याप्त मात्रा में निर्णयज विधि (केस लॉ) शामिल की गई है। यह पुस्तक विधि तथा आयुर्विज्ञान के छात्रों, पुलिस अधिकारियों, वकीलों तथा न्यायाधीशों के लिए अत्यन्त उपयोगी है।

मूल्य : 70.00 रुपए

अन्तर्राष्ट्रीय विधि के प्रमुख निर्णय

लेखक—डॉ० सुभाष चन्द्र खरे

डॉ० खरे हिन्दी साहित्य और अन्तर्राष्ट्रीय विधि के विद्वान होने के साथ ही विधि साहित्य के हिन्दी और अंग्रेजी के प्रतिष्ठित लेखक भी हैं। उनकी इस कृति में अन्तर्राष्ट्रीय विधि के स्रोत, अन्तर्राष्ट्रीय विधि और राष्ट्रीय विधि, राज्यक्षेत्र, समुद्रीय सीमा, अन्तर्राष्ट्रीय न्यायालय की अधिकारिता, न्यूरेम्बर्ग निर्णय आदि शीर्षकों के अन्तर्गत प्रमुख निर्णयों को बोधगम्य भाषा में प्रस्तुत किया गया है। इस विषय के विद्यार्थियों और प्राध्यापकों के लिए यह पुस्तक अत्यन्त उपयोगी सिद्ध हुई है।

मूल्य : 16.70 रुपए

रजिस्ट्रेशन संख्या : 17552/69 रजि० नं० D(C)—618

दण्ड प्रक्रिया संहिता

लेखक—न्यायमूर्ति महावीर सिंह

इस पुस्तक में दण्ड प्रक्रिया संहिता, 1973 के सभी पहलुओं की सरल भाषा में विवेचना की गई है तथा उससे सम्बन्धित निर्णयज विधि (केस लॉ) भी सम्मिलित की गई है। विद्यार्थियों और न्यायालयों से सम्बन्धित सभी व्यक्तियों के लिए यह एक अद्वितीय पुस्तक है।

मूल्य : 46.50 रुपए

साक्ष्य की विधि परिवर्धित और पुनरीक्षित द्वितीय संस्करण

लेखक—श्री रेवाशंकर गोविन्दराम त्रिवेदी

श्री त्रिवेदी, मध्य प्रदेश के विधि आयोग के सदस्य और विधि साहित्य के सुविज्ञ लेखक थे। यह पुस्तक विधि के छात्रों को ध्यान में रखते हुए ही लिखी गई है किन्तु यह वकालत आरम्भ करने वाले युवा वकीलों के लिए भी समान रूप से उपयोगी है।

मूल्य : 33.60 रुपए

निर्णय लेखन

लेखक—श्री भगवती प्रसाद बेरी

एक हिन्दी प्रेमी, एक सफल अधिवक्ता और अन्ततः राजस्थान उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायमूर्ति के रूप में प्राप्त अपने अमूल्य अनुभवों के आधार पर लेखक ने हिन्दी में निर्णय लिखने वाले या लिखने के लिए इच्छुक न्यायाधीशों और न्यायिक अधिकारियों के मार्गदर्शन और प्रोत्साहन के लिए सरल और सरस भाषा में इस पुस्तक की रचना की है।

मूल्य : 11.00 रुपए

मुस्लिम विधि

लेखक—डॉ० हफीजुल रहमान

मुस्लिम विधि पर अब तक हिन्दी में प्रकाशित पुस्तकों में यह न केवल नवीनतम पुस्तक है बल्कि तुलनात्मक, वैश्लेषिक, अद्यतन निर्णय तथा अन्य दृष्टिकोणों से भी परिपक्व एकमात्र ऐसी कृति है जो विद्यार्थियों, अध्यापकों, वकीलों और न्यायाधीशों के लिए निश्चित रूप से सहायक सिद्ध होगी।

मूल्य : 16.50 रुपए

विधि साहित्य प्रकाशन

विधि और न्याय मंत्रालय (विधायी विभाग)

भारत सरकार

भगवानदास मार्ग, नई दिल्ली-110001